भारत : अल-बिरूनी

डा० एडवर्ड सी० सखाउ के अंग्रेजी अनुवाद
के संक्षिप्त संस्करण का
हिंदी अनुवाद

क़यामउद्दीन अहमद द्वारा
भूमिका तथा टिप्पणियों सहित
संपादित

अनुवादक
नूर नबी अब्बासी



नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

पहला संस्करण 19[illegible]2 (शक 1914)

मूल्य : रु० 44.00

INDIA : AL-BIRUNI (Hindi)

निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया,
ए-5 ग्रीन पार्क, नयी दिल्ली-110016 द्वारा प्रकाशित।

संपादक की भूमिका

"मेरी पुस्तक तथ्यों का ऐतिहासिक अभिलेख मात्र है। मैं पाठकों के सम्मुख हिन्दुओं के सिद्धांत एकदम ठीक रूप में प्रस्तुत करूंगा और उनके संबंध में यूनानियों के वे सिद्धांत भी पेश करूंगा जो हिन्दू सिद्धांतों से मिलते-जुलते हैं ताकि उन दोनों के बीच जो संबंध है वह उजागर हो सके···।

अपने विषय का प्रतिपादन करने से पहले हमें इस संबंध में समुचित विचार करना होगा कि वह क्या बात है जो भारत संबंधी किसी भी विषय के मूल तक पहुंचने में विशेष रूप से कठिनाई उपस्थित करती है। इन कठिनाइयों का बोध या तो हमारे कार्य को आगे बढ़ाने में सुविधा प्रदान करेगा या यदि हमारे कार्य में कोई त्रुटि रह जाए तो उसका कारण सिद्ध होगा।

पहली कठिनाई तो यह है कि वे हमसे हर उस बात में भिन्न हैं जिसमें हममें और अन्य जातियों में समानता है। पहले भाषा को ही लें··· यदि आप इस कठिनाई का समाधान करना चाहते हैं (यानी संस्कृत सीखना चाहते हैं) तो आपके लिए ऐसा करना आसान नहीं होगा क्योंकि शब्द-भंडार तथा विभक्तियों दोनों ही दृष्टि से इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है।

यही नहीं, भारतीय लेखक बहुत लापरवाह भी हैं और वे सही तथा सुसंबद्ध विवरण प्रस्तुत करने में परिश्रम नहीं करते···।

दूसरी कठिनाई यह है कि वे धर्म में भी हमसे सर्वथा भिन्न हैं। कोई भी वस्तु जो किसी विदेशी की आग या पानी से छू जाए उसे वे अपवित्र मानते हैं···।

तीसरी बात यह कि वे सभी प्रकार के आचार-व्यवहार में···हमारी वेश-भूषा और हमारे रीति-रिवाजों से अलग हैं···।

कुछ और भी कारण हैं···(यथा) उनके जातिगत चरित्र की विशेषताएं···।

अतः यह है भारत की वस्तुस्थिति। यही कारण है कि अपने विषय में अपार रुचि होने के बावजूद मुझे उसमें पैठने में बड़ी मुश्किल पेश

आई···और यह भी तब जबकि मैंने संस्कृत के ग्रंथ एकत्र करने के लिए परिश्रम या धन खर्च करने में कोई कसर नहीं उठा रखी···।"

यदि लेखन-शैली की ओर ध्यान न दिया जाए, जो कुछ पुरानी है, तो उपर्युक्त पंक्तियों को भारत पर लिखी किसी विदेशी समाजशास्त्री की हाल ही की किसी पुस्तक की भूमिका के उद्धरण समझा जा सकता है। वास्तव में यह एक ऐसी पुस्तक के आरंभिक पृष्ठों से ली गई पंक्तियां हैं जिसका लेखक आज से एक हजार से कुछ अधिक वर्षों पहले जन्मा था। इनके लेखक के लिए यहां की संस्कृति बिलकुल नयी थी लेकिन उसने उसे समझने और अपने यहां के लोगों के लिए सहानुभूतिपूर्वक प्रस्तुत करने का ऐसी असाधारण ईमानदारी के साथ प्रयत्न किया कि उसे "सबसे पहले वैज्ञानिक और किसी भी युग के एक महानतम भारतविद्" के नाम से अभिहित किया गया।[1] इस पुस्तक का नाम है 'किताब फ़ी तहक़ीक़ मा लिल हिन्द मिन मक़ाला मक़्बूला फ़िल अक़्ल-औ-मरज़ूला' जिसे आम तौर से 'किताब-उल-हिन्द' कहा जाता है और उसका लेखक था अबू रेहान मुहम्मद इब्न-ए-अहमद जिसे ज़्यादातर लोग अल-बिरूनी[2] के नाम से जानते हैं।

अल-बिरूनी का जन्म 973 ई० में ख्वारिज़्म[3] के इलाक़े में हुआ था जिस पर उस समय तूरान और ईरान के सामानी वंश (874-999) का शासन था। उसका जन्म नगर में नहीं बल्कि उपनगरीय क्षेत्र में हुआ था जिसके कारण उसे अल-बिरूनी की संज्ञा दी गई और आज वह अपने असली नाम के बजाय इसी नाम से जाना जाता है। 'बिरूनी' फ़ारसी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है 'बाहर का'; प्रस्तुत संदर्भ में इसका अभिप्राय ख्वारिज़्म नामक नगर का सीमांत प्रदेश है।[4]

अल-बिरूनी के जीवन से संबंधित अरबी के कुछ प्राचीन ग्रंथों में यह उल्लेख

1. एस० के चटर्जी, "अल-बिरूनी एंड संस्कृत", 'अल-बिरूनी कमेमोरेटिव वॉल्यूम', 1951, (जिसे इसके बाद ए० सी० वी० कहा गया है), पृ० 83.
2. इस शब्द के शुद्ध लिप्यंतरण के बारे में मतभेद है। इस संबंध में चर्चा के लिए देखिए, ए० सी० वी०, पृ० xiv, 195-96, 290। एडवर्ड सी० सखाउ ने, जो 'किताब-उल-हिन्द' के संपादक और अनुवादक हैं, इसे अल-बेरूनी लिखा है लेकिन मैंने 'अल-बिरूनी' को तरजीह दी है जिसे ईरान सोसाइटी ने ए० सी० वी० में स्वीकार किया है।
3. आधुनिक ख़ीव जो उन्नीसवीं शताब्दी में मध्य एशिया में तुर्किस्तान का ख़ान राज्य था। यह अब रूस के उज्बेकिस्तान राज्य का एक भाग है।
4. यह भी संकेत दिया गया है कि यद्यपि अल-बिरूनी का जन्म ख़्वारिज़्म में हुआ था तथापि उसके माता-पिता ईरानी मूल के थे और उन्हें उस स्थान पर परदेशी माना जाता, इसी कारण से उन्हें फ़ारसी उपनाम बिरूनी (बाहर के) दिया गया। अब्दुला यूसुफ़ अली, "अल-बिरूनीज़ इंडिया", 'इस्लामिक कल्चर', खंड 1, 1927, पृ० 33.

मिलता है कि बिरून सिंध के एक शहर का नाम था और चूंकि वह उसी शहर में पैदा हुआ था इसलिए उसका नाम अल-बिरूनी पड़ा। लेकिन यह भ्रांत धारणा है जो शायद इस वजह से पैदा हुई होगी क्योंकि सिंध में निरून नामक एक नगर था और प्रतिलिपिक की गलती से उसे बिरून पढ़ लिया गया और फिर उसी स्थान को अल-बिरूनी का जन्म स्थान मान लिया गया।[1] अल-बिरूनी की भारतीय संस्कृति में प्रखर रुचि को ही शायद उसके भारतीय मूल का परिचायक मान लिया गया।

अल-बिरूनी ईरानी मूल का मुसलमान था। उसके आरंभिक जीवन और लालन-पालन के बारे में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है[2] लेकिन लगता है उसे अपने बचपन में पढ़ने-लिखने के पर्याप्त अवसर मिले होंगे। स्वाध्याय में उसकी रुचि आजीवन बनी रही। इस संबंध में एक कथा है कि उस समय जबकि वह अपनी अंतिम सांसें ले रहा था और उसका एक मित्र उससे मिलने आया तो अल-बिरूनी ने उससे गणित संबंधी उस निर्णय के समाधान के बारे में पूछा जिसका हवाला उस मित्र ने पहले कभी उसे दिया होगा। उसका मित्र हैरान हो गया और बोला, "ताज्जुब है कि तुम इस अवस्था में भी इन बातों के प्रति चिंतित हो।" अल-बिरूनी ने बड़ी मुश्किल से उसकी हैरानी दूर करते हुए कहा, "क्या मेरे लिए यह वांछनीय न होगा कि मैं उस निर्णय का समाधान जाने बिना मर जाने के बजाय उसे जान लूं और फिर दम तोड़ूं?" इस पर मित्र ने उसे इच्छित जानकारी दी और वह कमरे से बाहर निकला ही था कि उसने लोगों को अल-बिरूनी की मृत्यु पर विलाप करते सुना।

अल-बिरूनी एक महान् भाषाविद् था और उसने अनेक पुस्तकें लिखी थीं। अपनी मातृभाषा ख्वारिज़्मी के अलावा जो उत्तरी क्षेत्र की एक ईरानी बोली थी और जिस पर तुर्की भाषा का प्रबल प्रभाव था, वह इब्रानी, सीरियाई और संस्कृत का भी ज्ञाता था। यूनानी भाषा का उसे कोई प्रत्यक्ष ज्ञान तो न था लेकिन सीरियाई और अरबी अनुवादों के माध्यम से उसने प्लेटो तथा अन्य यूनानी आचार्यों के ग्रंथों का अध्ययन किया था। जहां तक अरबी और फ़ारसी का संबंध है इन दोनों भाषाओं का उसे गहन ज्ञान था और उसने अधिकांश पुस्तकें जिनमें 'किताब-उल-हिन्द' शामिल है फ़ारसी ही में लिखी थीं क्योंकि वही उस युग की

1. अब्दुस्सलाम नदवी, "अल-बिरूनी" (उर्दू में), ए० सी० बी०, पृ० 255.
2. अल-बिरूनी के धार्मिक विश्वास के बारे में कोई निश्चित जानकारी उपलब्ध नहीं है और इस विषय में लोगों में मतभेद है।

हिटी ('हिस्टरी ऑफ दि अरब्स', 1968 संस्करण, पृ० 377) ने उसे 'शीआ कहा है जिसका झुकाव अज्ञेयवाद की ओर था', जबकि ए० सी० बी० (पृ० xiv) में उसे धर्म की दृष्टि से सुन्नी मुसलमान जिसकी इस्माईली संप्रदाय के प्रति सहानुभूति थी और दर्शन में उसे सर्वमुक्तिवादी बताया गया है।

अंतर्राष्ट्रीय भाषा थी। उसी में समस्त सभ्य संसार के वैज्ञानिक ग्रंथ संगृहीत थे और वही विज्ञान तथा साहित्य की विभिन्न शाखाओं में उपलब्ध बहुमूल्य योगदानों का माध्यम थी।

अल-बिरूनी का आरंभिक जीवन एक ऐसे युग में बीता था जिसके दौरान मध्य एशिया में बहुत तेजी के साथ और बड़े प्रचंड राजनीतिक परिवर्तन हुए थे और उनमें से कुछ परिवर्तनों का प्रभाव उसके जीवन और कृतियों पर भी पड़ा था। पहले तो वह ख्वारिज़्म के स्थानीय राजवंश—मैमूनी—के संरक्षन में ही रहा था जिसने 995 ई० के आसपास सामानियों की पराधीनता का जुआ उतार फेंका था। इसका अल-बिरूनी के जीवन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा और वह ख्वारिज़्म छोड़कर चला गया और कुछ समय तक जुरजन में (जो कैस्पियन सागर के दक्षिण-पूर्व क्षेत्र में स्थित था) शम्सुल माअली क़ाबूस बिन वाश्मगीर के दरबार में रहा जिसे उसने अपना 'आसार-उल-बाक़िया' अन-इल-कुरून-अल-खालिया[1] समर्पित किया था जो उसके सबसे प्राचीन तथा अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रंथों में माना जाता है। लगता है कि 1017 में जब सुल्तान महमूद गज़नवी ने (999-1030) ख्वारिज़्म के राज्य पर आक्रमण करके उसे अपने राज्य में मिला लिया तो अल-बिरूनी ख्वारिज़्म लौट आया। ख्वारिज़्म के दरबार के प्रमुख व्यक्तियों में जिन्हें विजेता की राजधानी गज़नी ले जाया गया था, अल-बिरूनी भी था। उसके बाद वह अधिकतर ग़ज़नी में रहकर जीविकोपार्जन करता रहा और 440 हि० (1048-1049)[2] में 75 वर्ष की आयु में वहीं उसकी मृत्यु हुई।

यह बात स्पष्ट नहीं है कि अल-बिरूनी की सुल्तान महमूद के दरबार में क्या स्थिति थी। शायद वह एक बंधक के रूप में था; लेकिन एक विद्वान के रूप में उसकी उपलब्धियों के कारण और विशेष रूप से एक खगोलशास्त्री तथा ज्योतिषी होने के नाते वह एक सम्मानित बंधक रहा होगा। लेकिन इसके बावजूद सुल्तान महमूद के साथ उसके संबंध बहुत निकट के तथा मैत्रीपूर्ण नहीं रहे। भारत पर उसका विख्यात ग्रंथ सुल्तान महमूद के राज्यकाल में ही (1030 के आसपास) रचा गया था, किन्तु उसमें सुल्तान का कुछ ही प्रसंगों में उल्लेख मिलता है और वह भी बहुत संक्षेप में।[3]

1. एडवर्ड सी० सुखाउ द्वारा 'दि क्रॉनॉलाजी ऑफ़ एंशिएंट नेशन्स' के नाम से अंग्रेजी में संपादित तथा अनूदित, लंदन, 1879.
2. 'अल-बिरूनी कमेमोरेटिव वाल्यूम', पृ० xvi.
3. इसके बिल्कुल विपरीत महमूद के पुत्र सुल्तान मसूद (1030-1040) के प्रति उसका दृष्टिकोण सौहार्दपूर्ण था जिसे उसने अपनी महानतम कृति 'अल-क़ानून अल-मसूदी फ़िल हइया-वलनुजूम' समर्पित की थी और उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। अल-बिरूनी के जीवन का अंतिम भाग जो मसूद के दरबार में बीता था भौतिक समृद्धि और धन-संपत्ति से सम्पन्न रहा होगा।

ग़ज़नी में उसके प्रवास का यही वह काल है जब से उसकी भारत में और भारतवासियों के प्रति रुचि प्रारंभ हुई थी। जैसा कि हमें ज्ञात है खगोलविज्ञान, गणित और आयुर्विज्ञान पर भारत में लिखे गए अनेक प्रमुख ग्रंथों का अरबी में अनुवाद बहुत पहले अब्बासी काल के आरंभ में ही हो चुका था। इनमें से कुछ अल-बिरूनी के पास भी रहे होंगे। यह बात स्वयं 'किताब-उल-हिन्द' से स्पष्ट हो जाती है जिसमें अल-बिरूनी ने संस्कृत की उन पांडुलिपियों का जो उसने देखी थीं और उनमें से कुछ नकलनवीसों की गलतियों आदि का उल्लेख किया है। अल-बिरूनी को अपने ग़ज़नी-प्रवास के दौरान भारत विषयक अध्ययन के लिए अधिक अवसर मिले होंगे। ग़ज़नी शहर पूर्वी क्षेत्र में इस्लाम का प्रमुख राजनीतिक और सांस्कृतिक केंद्र था और उसने पड़ोसी देशों में जिनमें भारत भी शामिल है कुशल व्यक्तियों को आकर्षित किया होगा। उसमें अनेक भारतीय युद्धबंदी, कुशल शिल्पी और विद्वान भी थे जो महमूद के भारत पर आक्रमण के बाद लाए गए होंगे। इसके अलावा पंजाब भी जिसमें हिन्दुओं का भारी बहुमत था, ग़ज़नवी साम्राज्य का ही एक अंग बन गया था। ग़ज़नी तथा भारत के कुछ अन्य नगरों में जहां वह गया होगा[1] अल-बिरूनी का अनेक भारतीय विद्वानों और पंडितों से संपर्क हुआ होगा और जिनके साथ जैसा कि एस० के० चटर्जी ने संकेत दिया है[2] उसने पश्चिमी पंजाब की बोली के माध्यम से जिसे अल-बिरूनी ने सीख लिया होगा या फ़ारसी के माध्यम से शास्त्रीय संबंध स्थापित किया होगा जिसे कुछ भारतीयों ने सीख लिया होगा।

अल-बिरूनी ने (पृष्ठ 200 पर)[3] एक पत्र का हवाला दिया है जो हिन्दू शाहिया वंश के आनंदपाल ने सुल्तान महमूद को लिखा था जिसमें उसे खुरासान में तुर्की विद्रोह का दमन करने के लिए सैनिक सहायता की पेशकश की थी। आनंदपाल ने लिखा था कि 'मैं आपसे 'परास्त' हो चुका हूं और इसलिए मैं यह नहीं चाहता कि कोई दूसरा आपको 'परास्त' कर दे।"[4] इस प्रकार का राजनयिक आदान-प्रदान यह बताता है कि उस समय ऐसे व्यक्ति मौजूद थे जो सुल्तान महमूद तथा कुछ भारतीय राजाओं के दरबार में प्रयुक्त राजभाषाएं जानते थे।[5] इसी के

1. अल-बिरूनी ने एक स्थल पर जिसकी ओर पाठकों का ध्यान कम गया है भारत में कुछ नगरों का उल्लेख किया है जहां वह वास्तव में गया था (पृ० 150)।
2. उपरिउद्धृत लेख।
3. कोष्ठकों में इसका और बाद में प्रस्तावना में अन्य पृष्ठों का जो हवाला दिया गया है वे इसी संक्षिप्त संस्करण के पृष्ठ हैं।
4. तत्कालीन राजनीतिक व्यवहार और शौर्यभाव पर यह एक रोचक टिप्पणी है।
5. दे० टिप्पणी 46.

साथ अल-बिरूनी की न केवल 'किताव-उल-हिन्द' वल्कि उसकी कुछ दूसरी पुस्तकों के पाठकों का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। यह वात 'किताव-उल-हिन्द' की रचना मे ही प्रमाणित हो जाती है कि मुस्लिम जगत की रुचि भारत में लिखी गई विज्ञान-संबंधी पुस्तकों में निरंतर वनी रही थी। अल-विरूनी ने अपनी पुस्तक के अंत में जो टिप्पणी दी है कि उसने एक पुस्तक में जो कुछ वर्णित किया है "वह किसी भी ऐसे व्यक्ति के लिए पर्याप्त होगा जो···उनके (हिन्दुओं के) साथ उनकी अपनी सभ्यता के आधार पर धर्म, विज्ञान या साहित्य-विषयक प्रश्नों पर उनसे विचार-विमर्श करना चाहता है" यह वताता है कि ऐसे व्यक्ति उस समय मौजूद थे। लेकिन यह तथ्य इतने स्पष्ट रूप में नहीं उजागर किया गया कि भारत में ऐसे हिन्दू पाठक भी थे जिन्हें अल-बिरूनी जानता था। उसने स्पष्ट रूप से यह उल्लेख किया है कि "मैं हिन्दुओं के लिए 'उक्लीदिस' और 'अलमजीस्ती' के अनुवाद और वेधयंत्र (एस्ट्रोलैब) के निर्माण पर एक निवंध लिखवाने में व्यस्त हूं।" (पृ० 68) एक अन्य स्थान पर उसने अरवी 'खांड-खाद्यक' नामक पुस्तक का उल्लेख किया है जिसकी रचना उसने सयववाल नामक एक कश्मीरी हिन्दू के लिए की थी (पृ० 275)।

यह संकेत मिलता है कि अल-बिरूनी और हिन्दुओं में जो परस्पर मेलजोल बढ़ा उसका कारण यह था कि वे दोनों विपत्ति के शिकार थे।[1] इसका हमारे पास कोई प्रत्यक्ष प्रमाण तो नहीं है, लेकिन जैसा कि हम जानते हैं अल-बिरूनी की वचपन से ही खगोलशास्त्र और गणित में गहरी दिलचस्पी थी और उसने ग़ज़नी में अपने प्रवास के दौरान भारतीय विद्वानों के साथ सीधे संपर्क के अवसर का भरपूर फायदा उठाया होगा। प्रचुर भारतीय वैज्ञानिक साहित्य के अरवी अनुवाद उपलब्ध थे और निश्चय ही अल-बिरूनी उनमें से कुछ से परिचित रहा होगा। ग़ज़नी में अपने प्रवास के दौरान उसे भारतवासियों से सीधे व्यक्तिगत सम्पर्क के माध्यम से तथा संस्कृत के प्रलेख-ग्रंथों के उसी भाषा में अध्ययन के माध्यम से प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त करने के अतिरिक्त अवसर प्राप्त हुए। जैसा कि हम जानते हैं, वह पंजाब के विभिन्न भागों में गया और वहां रहा और इस संभावना से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि उसने भारत के अन्य भागों की यात्रा भी की होगी। भारतीय विज्ञान, धर्म और दर्शन में अल-बिरूनी की गहन रुचि इन्हीं परिस्थितियों में शुरू हुई और 'किताव-उल-हिन्द' के लिए सामग्री जुटाने और शायद इसका पहला प्रारूप तैयार करने का काम भी इसी अवधि में पूरा हुआ होगा।

अल-बिरूनी द्वारा लिखी गई पुस्तकों की संख्या के वारे में भिन्न-भिन्न अनुमान लगाए गए हैं। याकूत (1179-1229) के कथनानुसार उसने अल-बिरूनी

1. सखाउ, 'अल-बिरूनीज इंडिया', भूमिका, पृ० 17.

द्वारा लिखी हुई पुस्तकों की एक सूची मर्व में देखी थी जिसके साठ पृष्ठ थे जिन पर बहुत पास-पास लिखा गया था। एक और लेखक का कहना है कि अल-बिरूनी द्वारा रचित पुस्तकों का वजन इतना अधिक था कि उन्हें एक ऊंट पर नहीं लादा जा सकता था। इससे भी बढ़कर स्पष्ट लेकिन फिर भी बड़ी विस्मयकारी सूचना स्वयं अल-बिरूनी ने दी है जिसके अनुसार उसने अपनी मृत्यु से 13 वर्ष पूर्व अपने एक मित्र को लिखे पत्र में अपनी पुस्तकों की संख्या 114 बताई है।[1] लेकिन यह भी पूरी सूची नहीं है। इस संभावना के अलावा कि अल-बिरूनी ने अपने शेष जीवन के दौरान कुछ और पुस्तकें भी लिखी होंगी, कुछ अन्य पुस्तकों के हवाले भी मिलते हैं जिनका उसकी सूची में उल्लेख नहीं है। खेद की बात है कि उसके अधिकांश ग्रंथ या तो नष्ट हो गए या अप्रकाशित पड़े हुए हैं। केवल दो[2] 'आसार-उल-बाकिया' और 'किताब-उल-हिन्द' के ही मुद्रित संस्करण और अंग्रेजी अनुवाद उपलब्ध हैं और इसका मुख्य श्रेय जर्मन विद्वान एडवर्ड सी० सखाउ (1845-1930) को जाता है जिसने अपनी विद्वानोचित निष्ठा का परिचय दिया।

सखाउ का जन्म 20 जुलाई 1845 को न्यूमन्स्टर में हुआ था। वह वियना विश्वविद्यालय में सैमिटिक भाषाओं के प्राचार्य (1869) रहे और बाद में रॉयल यूनिवर्सिटी ऑफ बर्लिन में प्राच्य भाषाओं के प्राचार्य रहे। उन्होंने 18 वर्ष 'किताब-उल-हिन्द' के अध्ययन में बिताए। उसके पाठ के विवरण के संपादन और अंग्रेजी अनुवाद में तथा अंग्रेजी अनुवाद के परवर्ती संस्करणों और अंग्रेजी से इतर भाषाओं में अनुवाद में उनका योगदान उल्लेखनीय है। 1872-73 में अरबी पांडुलिपि की एक प्रति तैयार करके उसका मिलान किया और सखाउ ने पहले उसका अनुवाद जर्मन भाषा में किया। आगे चलकर 1885 में जब अरबी संस्करण[3] छप रहा था, सखाउ ने पूरी पुस्तक का दूसरी बार अंग्रेजी में अनुवाद किया। ज्यों-ज्यों मूल का एक-एक पन्ना छपता जाता वह उसका अनुवाद करता जाता था।[4] अंग्रेजी अनुवाद विस्तृत टिप्पणियों के साथ दो खंडों में पहली बार

1. अब्दुस्सलाम नदवी का उपरिउद्धृत लेख।
2. मुहम्मद अब्दुर्रहमान खां के "ऑन दि माइनर ट्रैक्ट्स ऑफ अबू रेहान मुहम्मद बिन अहमद अल-बिरूनी" शीर्षक लेख (ए० सी० वी० पृ० 171-75) में अल-बिरूनी के एक और ग्रंथ 'किताबुत्तफहीम ली अवाइल सनातुत्तंजीम' के पाठ तथा अनुवाद के प्रकाशन का उल्लेख मिलता है जिसे रैमजे राइट ने 1934 में लंदन से प्रकाशित किया था।
3. बिब्लियथेक नेशनालि, पेरिस में उपलब्ध एक हस्तलिखित प्रति पर आधारित अरबी पाठ का एक और संस्करण दायरातुल मआरिफ, हैदराबाद द्वारा 1958 में प्रकाशित किया गया।
4. एडवर्ड सी० सखाउ, अंग्रेजी अनुवाद 'अल-बिरूनीज इंडिया', नयी दिल्ली, 1964, भूमिका, पृ० xviii.

1888 में लंदन में प्रकाशित हुआ।[1] बाद में उसका संस्करण एक खंड में उसी स्थान से 1910 में छपा। दो खंड वाला संस्करण 1962 में पाकिस्तान में दुबारा छपा और एक खंड वाला संस्करण भारत में (एस० चंद, नयी दिल्ली) 1964 में प्रकाशित हुआ।

इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद शांताराम ने किया और वह 1926-28 में इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ; इसका दूसरा अनुवाद रजनीकांत शर्मा ने किया और उसी प्रकाशक ने इसे 1967 में प्रकाशित किया। सैयद असगर अली द्वारा किया गया उर्दू अनुवाद दो खंडों में अंजुमन तरक्कि-ए-उर्दू ने 1941-42 में प्रकाशित किया। इसका रूसी अनुवाद ए० बी० खालिदोव और वाइ० एन० ज़ावादोव्सकी ने किया जो ए० आई० बेल्याएव के संपादन में ताशकंद (सोवियत संघ) से 1963 में प्रकाशित हुआ। इसके बहुत बाद में ए० बी० एम० हबीबुल्लाह ने इसका अरबी से बंगला में अनुवाद किया जो बंगला अकादमी, ढाका (बंगला देश) से 1974 में प्रकाशित हुआ। सखाउ के अंग्रेजी अनुवाद का संक्षिप्त संस्करण[2] जो इसमें अपनाई गई पद्धति से भिन्न पद्धति पर आधारित था एन्सली टी० एम्ब्री द्वारा तैयार किया गया और 1971 में न्यूयार्क से प्रकाशित हुआ। प्रस्तुत संक्षिप्त संस्करण में यह प्रयास किया गया है कि अल-बिरूनी के दृष्टिकोण और विधितंत्र, भारतीय समाज और यहां के शास्त्रों के बारे में उसके विचारों के सार भाग तथा कतिपय महत्त्वपूर्ण विशिष्ट अंशों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्पित किया जाए जिन पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है।

अल-बिरूनी का विस्तृत वृत्तांत अस्सी अध्यायों में विभक्त है जिसमें प्रत्येक का एक उपशीर्पक है जो संबंधित विपय या विषयों की ओर संकेत करता है। पहला अध्याय तो प्रस्तावना के रूप में है जिसमें अल-बिरूनी ने उन कठिनाइयों की चर्चा की है (भापा का अंतर, धार्मिक तथा जातिगत पूर्वाग्रह आदि) जिनका भारतीय समाज का निप्पक्ष विवरण तैयार करने में, लेखक को सामना करना पड़ता है और उस विधितंत्र का उल्लेख किया है जो उसने अपनाया है। उसके बाद धर्म और दर्शन (2-8), समाज संगठन, नागर और धार्मिक नियम, मूर्तिकला (9-11), धार्मिक तथा वैज्ञानिक साहित्य (12-14, 16), मापविद्या,

1. मूल पाठ तथा अनुवाद दोनों के प्रकाशन में इंडिया आफिस, लंदन का प्रश्रय प्राप्त हुआ।
2. यह दो खंड वाले संस्करण की फोटो प्रति है जो लंदन से 1888 में छपी। इसी प्रक्रिया के कारण किसी भी अध्याय, पृष्ठ या पैराग्राफ में से अनावश्यक सामग्री को निकालने में व्यावहारिक कठिनाइयां सामने आईं। इसलिए अनेक ऐसे अध्याय जिन्हें प्रासंगिक नहीं समझा गया निकाल दिए गए हैं किंतु संबद्ध विषय का पूर्ववर्ती अध्यायों के अंत में संक्षेप में संकेत दे दिया गया है। भूमिका में पुस्तक के विषय का आलोचनात्मक सर्वेक्षण प्रस्तुत किया गया है और उसके महत्त्व पर बल दिया है।

वजन और माप, कीमिया (15, 17), भूगोल, विश्व रचना, खगोलशास्त्र, कालानुक्रम और तत्संबंधी विषय (18-62), सामाजिक जीवन, रीति-रिवाज, त्योहार आदि (63-79), और ज्योतिषशास्त्र (80) पर अध्याय आते है।

कही-कहीं कुछ अतिव्यापन[1] भी हो गया है लेकिन इस प्रकार की पुनरावृत्तियां सावधानी की किसी कमी के कारण नही हो गई है क्योंकि स्वय अल-बिरूनी ने स्पष्ट रूप से यह बताया है कि इस संबंध में कोई भी हमेशा 'ज्यामितीय पद्धति' नही अपना सकता जिसमें केवल पहले होने वाली बात का उल्लेख कर दिया जाए और बाद की बात को बिलकुल छोड़ दिया जाए। लेखक को किसी भी अध्याय में एक अज्ञात घटक का उल्लेख करना पड़ता है जिसकी व्याख्या पुस्तक के उत्तरवर्ती भाग में ही दी जा सकती है (पृ० 11)। अल-बिरूनी ने प्राय: ऐसी जानकारी को दोहराया है क्योंकि वह इस प्रकार की पुनरावृत्ति को उपयोगी समझता था। उससे किसी भी विषय को सीखने मे सुविधा होती है (जबकि यहा तो विषय बिलकुल नया ही था) क्योंकि विषय को बार-बार दोहराकर ही मनुष्य सीखता है।

प्राय: सभी अध्याय संबंधित विषय की संक्षिप्त और सारगर्भित प्रस्तावना से शुरू होता है, फिर उसका वर्णनात्मक अंश आता है और उसके बाद मूल स्रोतों से सगत उद्धरण दिए जाते है। जहां कहीं मूल स्रोतों में कुछ अंतर पाया गया है या नकलनवीस की गलती से मूल पाठ में त्रुटियां रह गई है तो उसका निर्देश करते हुए शुद्ध लिप्यंतरण और संकेत-शब्दो की व्याख्या (पृ० 10) तथा किसी विषय विशेष पर उपलब्ध जानकारी की अपूर्णता को संकेतित कर दिया जाता है। कुछ स्थलों पर अल-बिरूनी ने कुछ भारतीय व्यक्तियों का या उनके किसी दल का उल्लेख किया है जिनसे उसने कुछ जानकारी प्राप्त की थी (पृ० 81, और 82)। लेकिन उसने इस प्रकार के लक्ष्यों को बिना सोच-विचार के स्वीकार नहीं किया। उसने उस जानकारी का सत्यापन इस प्रकार किया कि विभिन्न लोगों से भिन्न-भिन्न क्रम में वही प्रश्न पूछे। उसने ऐसे ही एक प्रकरण का उल्लेख भी किया है और उस पर आश्चर्य भी प्रकट किया है कि विभिन्न व्यक्तियों से जब उसने इस प्रकार जिरह की तो उन्होने कैसे 'भिन्न-भिन्न उत्तर' दिए। उसने कुछ कटुता के साथ कहा भी है, "भला देखो तो कैसे-कैसे भिन्न-भिन्न उत्तर लोगो ने मुझे दिए। अल्लाह बड़ा आकिल है!"

अल-बिरूनी की किसी भी विषय की जानकारी यदि अपूर्ण रही है तो उसने बड़ी ईमानदारी से उसका उल्लेख कर दिया है। (पृ० 63, 74, 78-79, 123

1. सोलहवें अध्याय मे देश के विभिन्न भागो मे प्रचलित विभिन्न भाषाओं, लिपियो, सख्याबोधक चिन्हों का उल्लेख है लेकिन उसके अंतिम भाग मे 'हिन्दुओं के विचित्र रीति-रिवाज' की चर्चा है जो तिरेसठवें और चौसठवें अध्याय के लिए अधिक उपयुक्त है।

आदि)। लेकिन जहां वह अपर्याप्त जानकारी की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है तो वह उसे उस विषय पर हर प्रकार की चर्चा से बचने का औचित्य नहीं मानता बल्कि जो भी जानकारी उपलब्ध हो उसे पाठकों के सम्मुख रख देना उचित समझता है (पृ० 101)। अंत में उसने अन्य जातियों में प्रारंभिक काल में प्रचलित मिलते-जुलते विचारों और आचार-व्यवहार की ओर भी ध्यान दिलाया है। इस सब से यह पता चलता है कि अल-बिरूनी की पद्धति बहुत ही आधुनिक और वैज्ञानिक थी तथा वह प्रत्येक विषय में तुलनात्मक अध्ययन का पक्षधर था।

अल-बिरूनी की समाजशास्त्रीय अंतर्दृष्टि विशेष रूप से महत्त्व रखती है जिसका स्पष्ट प्रभाव हमें उन अध्यायों में मिलता है जिनमें जातिप्रथा, नागर तथा धार्मिक नियमों, मूर्तियों और मूर्तिपूजा आदि पर चर्चा की गई है। उदाहरण के लिए, जातिप्रथा के उद्भव की व्याख्या करते हुए उसने यह बताया है कि यदि कोई दृढ़संकल्प व्यक्ति "राजनीतिक या सामाजिक जीवन में एक नयी व्यवस्था" लाने का प्रयास करता है और उसे धार्मिक स्वीकृति मिल जाती है तो वह धीरे-धीरे एक सर्वस्वीकृत सामाजिक नियम का रूप धारण कर लेती है (पृ० 46)। प्राचीन काल के राजाओं ने जो अपने कर्त्तव्यों तथा दायित्वों के प्रति बहुत सजग होते थे "अपनी प्रजा के विभिन्न वर्गों और व्यवस्थाओं में विभाजन" करने तथा उसे बनाए रखने पर पूरा ध्यान दिया और प्रत्येक वर्ग के लिए एक विशेष प्रकार का कार्य निर्धारित किया तथा उनमें किसी भी प्रकार का अन्तर्मिश्रण निषिद्ध कर दिया (पृ० 46)। कोई भी व्यक्ति चाहे कितना ही गुणवान क्यों न हो यदि इन प्रतिबंधों के अतिक्रमण का प्रयास करता तो उसे दंडित किया जाता था चाहे वह प्रयास कितना ही सदाशयतापूर्ण क्यों न हो" (पृ० 234)। उसने सुस्थापित समाज-व्यवस्था की रक्षा करने में राज्य की भूमिका पर भी बल दिया है और कहा है कि "धर्म और राज्य के बीच (जो दोनों सहजात हैं)" जो सामंजस्य है उसका समाज पर हितकर प्रभाव पड़ता है। इसके साथ ही जहां उसने हिन्दू धर्म-शास्त्र की प्रकृति और उसके निराकरण के प्रश्न पर चर्चा की है वहां उसने इस बात के महत्त्व पर बल दिया है कि धार्मिक सिद्धांतों में जो परिवर्तन होते हैं उनकी "आवश्यकता इसलिए पड़ी कि मनुष्य का स्वभाव बदल गया था और वह इतना दुर्बल हो गया था कि अपने कर्त्तव्यों का भार वहन नहीं कर सकता था" (पृ० 51)।

अल-बिरूनी ने प्राचीन भारतीय परंपराओं पर भी ध्यान दिया है जिनमें उसकी इस प्रकार की समाजशास्त्रीय अंतर्दृष्टि के स्पष्ट संकेत मिलते हैं। उदाहरण के लिए उसने शौनक की कथा (पृ० 239-40) का उदाहरण दिया है जो शायद 'विष्णुधर्म' से ली गई है और जिसमें परिस्थिति-विज्ञान संबंधी

अंतर और समाज-संगठनों की बहुलता को मानव सभ्यता के विकास के लिए आवश्यक माना गया है। परस्पर सहायता के लिए जो कि सभ्यता का मूल है यह आवश्यक है कि एक की अपेक्षा दूसरे की परिस्थिति में कुछ अंतर हो "जिसके परिणामस्वरूप एक को दूसरे की आवश्यकता पड़ती है"। आगे चलकर यह भी बताया गया है कि रीति-रिवाज लोगों को एक विशेष प्रकार का जीवन बिताना और आचरण करना सिखाते हैं और जब उन पर धार्मिक आदेशों का बोझ पड़ जाता है तो उनकी आदतें अधिक बाध्यकर बन जाती हैं क्योंकि समय-समय पर संशोधन भी होते हैं। एक हद तक देशभक्ति की जड़ें भी उस क्षेत्र की जलवायु और धार्मिक-सामाजिक व्यवस्था के प्रति लोगों के लगाव में ही मिलती हैं जहां वे रहते आए हैं।

अल-बिरूनी के वे विचार भी ध्यान देने योग्य हैं जो उसने महाभारत पर अपना विवरण देते हुए युद्धों के कारण और उनकी उपादेयता के बारे में व्यक्त किए है। उसने कुछ ऐसे विचार प्रस्तुत किए हैं जो प्राकृतिक वरण और योग्यतम की उत्तरजीविता के सिद्धांत से इतने मिलते-जुलते हैं कि उनकी समानता पर आश्चर्य होता है। उन्ही से इस बात का भी पता चलता है कि जिसे आजकल परिस्थितिविज्ञान संबंधी संतुलन कहते हैं उसे बनाए रखने की आवश्यकता के प्रति उसमें कुछ सजगता विद्यमान थी। वह लिखता है :

"संसार का जीवन वपन और प्रजनन पर निर्भर है। ये दोनों ही प्रक्रियाएं समय के साथ-साथ बढ़ती जाती हैं और इनकी कोई सीमा नहीं होती जबकि संसार सीमित होता है।

जब किसी जाति के पौधों या जतुओं की संरचना में कोई वृद्धि नहीं होती और वे एक विशिष्ट जाति के रूप में स्थिर हो जाते हैं, जब उनमें से प्रत्येक व्यक्ति केवल इतना ही नहीं कि जन्म लेता और मृत्यु को प्राप्त हो जाता है बल्कि अपने ही जैसे एक या अनेक प्राणियों को जन्म देता है और यह एक बार नहीं, कई बार करता है···तो पौधों या जंतुओं की यह एकल प्रजाति पृथ्वी पर बनी रहती है और अपना तथा अपनी प्रजाति का जितने क्षेत्र में संभव हो प्रसार करती है।···

वनपाल वृक्षों की उन शाखाओं को छोड़ देता है जिन्हें वह श्रेष्ठ समझता है और शेष सभी को काट डालता है···।

प्रकृति का भी यही क्रम है, लेकिन उसके यहां कोई भेदभाव नहीं होता क्योंकि उसकी कार्रवाई सभी परिस्थितियों में एक जैसी होती है।··· इस प्रकार यदि पृथ्वी पर निवासियों की संख्या अत्यधिक होने के कारण वह नष्ट हो जाती है या नष्ट प्राय: हो जाती है तो उसका नियामक··· पृथ्वी पर अपना दूत भेजता है जो यहां के निवासियों की संख्या को कम

करता है और समस्त पापियों का नाश कर देता है।" (पृ० 190-91)

उन विशिष्ट विषयों को देखकर जिनका अल-विरूनी ने निरूपण किया है आश्चर्य होता है कि उसका रुचि-विस्तार कितना अधिक है। यद्यपि उसका प्रमुख आकर्पण धार्मिक तथा वौद्धिक पहलुओं के प्रति था लेकिन उसने अन्य अनेक विपयों पर भी लिखा है जैसे—सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियां, भोजन और वेशभूषा, खेल, मनोविनोद, सिक्के और माप, मुकदमे और अंध-विश्वास आदि। लेकिन साथ ही इस वात की भी अनदेखी नहीं की जा सकती कि कतिपय अन्य महत्वपूर्ण पहलुओं पर वह विलकुल मौन है। जहां तक राजनीतिक पक्ष का संवंध है यह माना जा सकता है कि वह उसकी अध्ययन-परिधि से वाहर था और साथ ही उस पर अन्य वर्तमान ग्रंथों में विचार किया गया है। लेकिन व्यापार, उद्योग, कृपि, कला-कौशल और वास्तुकला[1] आदि विपयों पर उसकी खामोशी अचरज पैदा करती है।

सामाजिक परिस्थितियों के संवंध में जातिप्रथा और धार्मिक कृत्यों तथा रिवाजों पर, जिनका पालन ब्राह्मणों और अन्य वर्णों के सदस्यों के लिए अनिवार्य था, जो अध्याय हैं (पृ० 46-49, 228-35) वे पुस्तक के सबसे अधिक मूल्यवान अंग हैं। पूर्व मध्यकालीन भारत में प्रचलित जातिप्रथा का इतना विस्तृत और अनुभूतिक्षम विवरण किसी भी अन्य अभारतीय स्रोत में उपलब्ध नहीं है। पुस्तक का यह भाग अंशत: उस स्थिति पर आधारित होगा जिनका उल्लेख मानक धर्मग्रंथों में हुआ है किंतु उस पर कुछ नया आलोक भी पड़ता है। उदाहरण के लिए एक ओर तो कहीं-कहीं ब्राह्मणों और क्षत्रियों को जोड़ दिया गया है और दूसरी ओर वैश्यों और शूद्रों को कुछ वातों में जो उनके लिए विधिसम्मत निपिद्ध थीं मिला दिया गया है (पृ० 49, 235, 246-47)।

विभिन्न वर्ग के लोगों के वारे में जो हवाला दिया गया है कि "फ़िर भी वे उन्हीं नगरों और गांवों में एक साथ रहते हैं और एक ही प्रकार के मकानों और स्थानों में एक-दूसरे से मिलते-जुलते रहते हैं" (पृ० 48) यह प्रकट करता है कि कम-से-कम वैश्यों और शूद्रों में कुछ हद तक अंतर्जातीय विवाह भी होते थे। अल-विरूनी ने इसी प्रसंग में इस वात का विशेष रूप से ज़िक्र किया है कि अंतर्विवाह अंत्यजों में आम था जिनकी "गणना किसी भी जाति में नहीं होती, बल्कि उन्हें किसी विशेप शिल्प या व्यवसाय का सदस्य माना जाता है"।

यह भी प्रतीत होता है कि जाति-भेद की सामाजिक और धार्मिक वातों में

1. सोपानयुक्त तटवंधों वाले सरोवरों के निर्माण का संक्षिप्त हवाला दिया गया है जिसमें उनकी प्रशंसा की गई है (पृ० 238)। एक और स्थल पर जहां अल-विरूनी ने वास्तुकला विपयक एक भारतीय ग्रंथ की चर्चा की है (पृ० 78) किंतु मूल अरवी पाठ में कुछ रिक्ति रह गई हैं। यह वड़े दुर्भाग्य की वात है, क्योंकि जो अंश छूट गया है संभवत: उसी में हमें इसे उपेक्षित अंग पर कुछ और जानकारी मिल जाती।

तो मान्यता थी ही, उसका कुछ अन्य मामलों में भी संबंध था जैसे बहुविवाह[1] और प्रसूति के बाद की अवधि। अल-बिरूनी ने लिखा है कि कुछ हिन्दुओं का यह मत था कि पत्नियों की संख्या जाति पर निर्भर होती है और तदनुसार ब्राह्मण चार पत्नियां रख सकता है, क्षत्रिय तीन, वैश्य दो और शूद्र एक (पृ० 246)। दूसरी बात के बारे में उसने लिखा है कि प्रसव की अवधि ब्राह्मण के लिए 8 दिन, क्षत्रिय के लिए 12 दिन, वैश्य के लिए 15 दिन और शूद्र स्त्री के लिए 30 दिन थी (पृ० 247-48)। यहां यह बताना अनुचित न होगा कि गरीब लोगों में जहां काम करने वाले हर सहायक का महत्व होता है प्रसवकाल के बढ़ जाने से कुछ आर्थिक कठिनाइयां अवश्य पेश आती होंगी।

शिक्षा, क्षेत्रीय भाषाओं और लिपियों पर भी बड़ी मूल्यवान जानकारी इसमें मिलती है। इसी से हमें यह मालूम होता है कि उस युग में बच्चे पाठशाला में लिखने के लिए स्लेट और खड़िया का इस्तेमाल करते थे (पृ० 92)। हमें उस पद्धति का भी विवरण मिलता है जिससे विभिन्न प्रकार के वृक्षों की छाल और पत्तियों से लेखन-सामग्री तैयार की जाती थी। साथ ही उस प्रणाली का भी पता चलता है जिसके द्वारा खजूर के पत्ते पर हाथ से लिखी पांडुलिपियों की जिल्द बांधकर उन्हें परिरक्षित किया जाता था (पृ० 85)।[2] रेशमी कपड़ों के टुकड़े भी लिखने के लिए इस्तेमाल किए जाते थे, हालांकि ऐसा केवल विशेष मामलों में ही होता था (पृ० 199)।

'हिन्दुओं की लिपि' या वर्णमाला में पचास अक्षर थे जो एक क्रमिक पद्धति के अनुसार विकसित हुई थी। इसमें अक्षरों की बड़ी संख्या के कई कारण थे जिनमें से एक यह था कि उनकी भाषा में कई ध्वनियां थीं जो दूसरी भाषाओं में नहीं थीं। इसके बाद 'हिन्दुओं की लिपि' का बड़ा सजीव चित्रण मिलता है— यूनानियों की भांति, "हिन्दू बाईं से दाहिनी ओर लिखते हैं। वे रेखा खींचकर नहीं लिखते जिसके ऊपर अक्षरों के शीर्ष हों और उनके निचले सिरे नीचे की ओर रहते हैं जैसा कि अरबी लिपि में होता है। इसके विपरीत उनकी अधोरेखा ऊपर होती है—हरेक अक्षर के ऊपर एक सीधी— और इस रेखा में लटका कर अक्षर-उसके नीचे लिखा जाता है। रेखा के ऊपर जो भी चिह्न लगाया जाता है वह केवल व्याकरणिक संकेत होता है जो इस अक्षर का उच्चारण दर्शाता है जिसके ऊपर वह लगा हुआ है" (पृ० 86)।

1. उसने (पृ० 92) एक और बड़ी दिलचस्प प्रथा का उल्लेख किया है जो देश के पूर्वी भागों में प्रचलित थी कि छोटे बच्चे से ज्यादा प्यार किया जाता था क्योंकि ज्येष्ठ पुत्र के जन्म का आधार "प्रमुख रूप से कामुकता" थी जबकि कनिष्ठ पुत्र "प्रौढ़ चिंतन और शांत प्रगमन" का परिणाम माना जाता था।
2. पुस्तकों और पांडुलिपियों के अनेक निजी संग्रहों में खजूर के पत्तों पर लिखी पांडुलिपियां आज भी उसी प्रकार से परिरक्षित रखी जाती हैं।

अल-बिरूनी ने आगे चलकर कुछ अन्य क्षेत्रीय भाषाओं और लिपियों तथा उन क्षेत्रों का जिक्र किया है जहां वे इस्तेमाल की जाती थीं। उनमें से एक 'मैक्षुकी' (पृ० 86) है जो पूर्व देश[1] में उदुनपुर में प्रयुक्त होती थी और जो 'बुद्ध की लिपि' (बौद्धों की लिपि) थी। यहां यह बात ध्यान देने की है कि क्षेत्रवार गिनाई गई भाषाओं के विपरीत मैक्षुकी किसी क्षेत्र विशेष में बोली जाने वाली भाषा नहीं थी बल्कि उस क्षेत्र में रहने वाले संप्रदाय की भाषा थी। प्रमुख त्योहारों का वर्णन (पृ० 264-68) भी बड़ा रोचक है। आज जबकि इस वर्णन को सैकड़ों वर्ष बीत चुके हैं, पाठक होली, दुर्गापूजा और दीपावली जैसे त्योहार पहचान सकता है। वह यह आज भी समझ सकता है कि इन अवसरों पर होने वाले अनुष्ठानों और संस्कारों में कौन-कौन आज भी किए जाते हैं और कौन-से बदल गए हैं। इन बातों के बारे में प्राचीन तथा मध्यकाल के प्रारंभ के भारतीय सार-संग्रहों में उपलब्ध जानकारी तो मिल जाती है लेकिन इस संबंध में अल-बिरूनी द्वारा दिया गया विवरण एक प्रकार की तथा पूरक आधार-सामग्री है जो इन पर एक भिन्न कोण से प्रकाश डालती है।

अल-बिरूनी का मत था कि ज्ञान सच्चे अर्थों में अंतर्राष्ट्रीय होता है और विचारों तथा प्रमुख आविष्कारों का लाभ चाहे वे किसी ने किसी भी क्षेत्र में किए हों सभी राष्ट्रों को पहुंचता है (पृ० 73)। उसकी यह धारणा कि ज्ञान का प्रसार किसी व्यक्ति के अपने देश की सीमाओं से परे करना उपयोगी होता है, उसकी इस बात से स्पष्ट हो जाती है कि 'मैं हिन्दुओं के लिए 'उक्लीदिस' और 'अलमजीस्ती' के अनुवाद में और वेधयंत्र (एस्ट्रोलैब) के निर्माण पर एक निबंध लिखवाने में व्यस्त हूं" (पृ० 68)। उसका यह भी विश्वास था कि राजा-महाराजा ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर सकते हैं क्योंकि वे ही ऐसे लोग हैं जो विद्वानों को भौतिक चिंताओं से मुक्त कर सकते हैं और उन्हें अपना अध्ययन-कार्य पूरे संतोष और निष्ठा के साथ संपन्न करने में समर्थ बना सकते हैं (पृ० 73)। लेकिन अल-बिरूनी ने दुःख भरे स्वर में यह भी कहा कि "वर्तमान-युग" इस कार्य के लिए अनुकूल नहीं है। न तो राजा-महाराजाओं का संरक्षण सुलभ है और न ही "जनता का रुझान" विज्ञान की ओर है। यही कारण है कि किसी "नये विज्ञान या नये प्रकार के अनुसंधान" का उभरना असंभव है। इस समय जो कुछ है भी वह "बीते हुए अच्छे युग के अल्प अवशेष मात्र" हैं। अल-बिरूनी की भारतीय वैज्ञानिक अध्ययन के अवरुद्ध

1. सखाउ का यह अनुमान ठीक ही है कि उदुनपुर और कोई स्थान नहीं बल्कि दानापुरी में स्थित बौद्ध मठ ही है। यह बिहार के वर्तमान ज़िले नालंदा में स्थित है। टिप्पणी 30ए भी देखिए।

विकास के संबंध मे यह टिप्पणी इस तथ्य से पुष्टि होती है कि कुछ मानक ग्रथ जो उसे सुलभ थे तथा जिनका उसने उपयोग किया था वे थे जो सदियो पहले लिखे गए थे। अल-बिरूनी ने आगे यह भी कहा है कि सभी शासक और धनिक "विज्ञान की श्रेष्ठता" से अवगत नही हैं। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे क्यो विद्वानो के घर नही जाते थे जबकि उनके घरो पर हमेशा विद्वानो की भीड लगी रहती थी (पृ० 96)।

जहा तक 'हिन्दू' शास्त्रो का संबंध है अल-बिरूनी ने खगोलशास्त्र पर विशेष ध्यान दिया। इसका कारण तो यह था कि "वही उनमें सबसे अधिक लोकप्रिय था" और दूसरा यह कि स्वयं उसे उस विषय मे रुचि थी। ज्ञान की इस शाखा में उनकी (हिन्दुओ की) प्रवीणता की प्रशंसा करते हुए उसने "दो सिद्धांतो—सामान्य और वैज्ञानिक"—के बीच सूक्ष्म भेद पर बल दिया है। दोनो समय के साथ एक-दूसरे मे मिल गए थे और यही कारण था कि उनके गणित और खगोलशास्त्र विषयक साहित्य मे यह देखा गया है कि "वैज्ञानिक प्रमेय" "जन-साधारण की हास्यास्पद धारणाओ के साथ गड्डमड्ड हो गए हैं" (पृ० 10); मानो वह एक ऐसा थैला है जिसमे "ठीकरियो में मिले हुए सीप या गोबर से लिपटे हुए मोती या कंकरियो में पड़े हुए रत्न" भी हैं (पृ० 10)। यह इसलिए था कि वे "शुद्ध वैज्ञानिक निगमन" का प्रयोग नही करते थे (पृ० 10)। अल-बिरूनी ने अन्यत्र इस प्रकार के दृष्टिकोण के लिए जिम्मेदार कारको का उल्लेख किया है। इनमे अपनी धारणा पर सुकरात की भाति दृढ रहने के साहस की कमी (पृ० 10, 224), सामाजिक बधनो का दबाव और सामाजिक निंदा का भय आते हैं (पृ० 222-24)।

अल-बिरूनी ने कुछ अन्य 'हिन्दू' शास्त्रो के बारे मे भी लिखा है जैसे कीमिया, मापविद्या और आयुर्विज्ञान। कीमिया के संदर्भ मे उसने ऊर्ध्वपातन, भस्मीकरण और अभ्रक पर मोम लगाने की प्रक्रियाओ का जिक्र किया है। लेकिन उसने रसायन के छद्म-विज्ञान पर भी व्यंग्य किया है जिसके विशेषज्ञ घटिया धातुओ से सोना बनाने की कोशिश करते थे; साथ ही उसने उन अज्ञानी हिन्दू राजाओ मे सोना बनाने का लालच होने की निंदा की। यदि उन्हे कोई मिथ्या रसायनशास्त्री सोना बनाने की कोई ऐसी तरकीब सुझा देता कि बच्चो को आग में झोंक दो तो वे "इस प्रकार का जघन्य अपराध करने मे भी सकोच" न करते। अंत मे अल-बिरूनी ने यह भी विचार व्यक्त किया कि 'हिन्दुओ' ने विज्ञान तथा साहित्य की अन्य अनेक शाखाओ का विकास किया। साथ ही उसने एक विद्वान की-सी विनम्रता के साथ यह भी कहा कि मैं उन सबको 'समझ' नही पाया क्योंकि मेरा ज्ञान सीमित था।

धर्म के क्षेत्र मे भी हिन्दुओ के शिक्षित वर्ग और जन-साधारण के विश्वासो मे अतर दिखाया गया है। शिक्षितजनो की ईश्वर के संबंध मे जो सकल्पना थी वह

पूर्णतः एकेश्वरवादात्मक थी—"ईश्वर एक है, शाश्वत है, अनादि-अनंत है, स्वेच्छा से जो चाहे करता है, सर्वशक्तिमान् है···। जीवंत है, जीवनदाता है, नियामक है, रक्षक है।" दूसरी ओर, जनता में मूर्तिपूजा व्यापक रूप से प्रचलित थी। लेकिन अल-बिरूनी ने उसका विरोध ही नहीं किया बल्कि उसे समझने और अपने पाठकों के लिए उसकी व्याख्या करने की कोशिश की है। उसने बताया कि जन-मानस में अमूर्त विचारों के प्रति अरुचि थी और उनका झुकाव इंद्रियगोचर संसार की ओर था। यही कारण था कि देवताओं और ऋषि-मुनियों की स्मृति को बनाए रखने और उनके प्रति श्रद्धा-भाव प्रकट करने के लिए स्मारक स्थापित किए जाते थे और मूर्तियां बनाई जाती थीं। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया मूर्ति-पूजा के उद्‌गम की परिस्थितियां तो भुला दी गईं किंतु प्रथा बनी रही और मूर्ति के प्रति श्रद्धा का भाव लोगों के मन में पक्का होता गया (पृ० 53)। यह स्पष्ट है कि यद्यपि व्यक्तिगत रूप से अल-बिरूनी के मन में मूर्तिपूजा के लिए घृणा की भावना थी लेकिन उसके बावजूद उसने अपने पाठकों के समक्ष हिन्दुओं में मूर्ति-पूजा की प्रथा को वस्तुगत रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

आर्थिक बातों पर अल-बिरूनी ने अपेक्षतया कम ध्यान दिया लेकिन सोमनाथ के महत्व (पृ० 220), गौ-वध निषेध (पृ० 244), वेश्यावृत्ति का प्रचलन (पृ० 248) आदि विविध विषयों के आर्थिक कारणों का विवेचन करके उसने अद्‌भुत अंतर्दृष्टि का परिचय दिया है। उसने यह स्पष्ट किया है कि सोमनाथ इसलिए बहुत प्रसिद्ध हो चला था कि वह समुद्रगमन करने वालों के लिए एक बंदरगाह और पूर्वी अफ्रीकी तट तथा चीन के बीच व्यापार करने वालों के लिए एक केंद्र बना गया था। जहां तक गौ-वध का प्रश्न है, उसका निषेध इस कारण से किया गया था कि गाय कृषि-संबंधी तथा घरेलू प्रयोजनों के लिए विभिन्न प्रकार से उपयोगी थी। वेश्याओं के संबध में उसका यह विचार था कि राजा उन्हें "अपने नगरों के लिए आकर्षण और अपनी प्रजा के लिए आमोद-प्रमोद के साधन" के रूप में केवल "आर्थिक दृष्टि से" प्रयुक्त करते थे। उनसे जुर्माने और कर के रूप में जो राजस्व प्राप्त होता था वह सेना पर खर्च किया जाता था।

एक और हवाला मिलता है—जो प्रासंगिक ही सही लेकिन महत्वपूर्ण है—जिसमें यह बताया गया है कि प्रारंभ के कुछ मुस्लिम शासकों के कार्य-व्यापार प्रायः धार्मिक भावनाओं पर आधारित न होकर केवल राजनीतिक स्वार्थों पर आधारित थे। मुहम्मद बिन कासिम द्वारा मुल्तान की विजय का उल्लेख करते हुए अल-बिरूनी ने लिखा है कि विजेता को जब यह मालूम हुआ कि मंदिर और उसकी मूर्ति के ही प्रताप से उस नगर में अपार धन-संपत्ति एकत्रित हुई थी और

वही उसकी संपन्नता का भी कारण थी (पृ० 55) तो उसने मूर्ति को (जिसे वह अपवित्र कर चुका था) जहां थी वहीं रहने दिया। इससे भी अधिक मार्मिक वर्णन "मुकुटों और हीरों से जड़ी हुई स्वर्ण मूर्तियों" के जिन्हें मुआविया की खिलाफ़त (651-680) के दौरान सिसिली से लूटा गया था, सिंध भेजने का है जहां वे उस देश के राजाओं को बेचने के लिए भेजी गई थीं। खलीफ़ा को "मूर्ति-पूजा की घृणित वस्तुओं" की बिक्री से धन प्राप्त करने पर जरा भी पाप शंका नहीं हुई क्योंकि उसने उस मसले को "धार्मिक दृष्टि से न देखकर केवल राजनीतिक कारणों से ऐसा किया" (पृ० 59)।

कराधान के नियम और आय-विभाजन-संबंधी विचार (पृ० 241) भी ध्यान देने योग्य हैं। अल-बिरूनी के ही शब्दों में, मन को चितामुक्त करने के लिए आपात काल के लिए अपार आरक्षित धन पर जो बल दिया जाता था, वह यह सिद्ध करता है कि लोगों में संचयन की तथा व्यापार और व्यवसाय में धन निवेश न करने की आदत बन गई थी। यह प्रसंग भी उल्लेखनीय है जिसमें देश से बाहर जाने पर धार्मिक प्रतिबंध लगाए गए थे और ब्राह्मणों के लिए "घोर आवश्यकता की स्थिति को छोड़कर" व्यापार करना वर्जित था और यदि व्यापार की अनुमति उन्हें मिलती भी तो केवल कपड़े और सुपारी का ही व्यापार कर सकते थे (पृ० 230)। व्यापार ब्राह्मणों के लिए अवांछनीय माना जाता था क्योंकि उसमें "झूठ और धोखाधड़ी" का सहारा लेना पड़ता है। "सूदखोरी या प्रतिशतता लेना" भी वर्जित था, अलबत्ता शूद्रों को इसकी इजाज़त थी जो दो प्रतिशत तक ब्याज ले सकते थे (पृ० 242)। क़ानूनी तथा अन्य विवरणों में से भी महत्त्वपूर्ण सूचना किस तरह निकाली जाती है, इसमें भी अल-बिरूनी को कमाल हासिल था जिसका प्रमाण उसका उभयलिंगी प्राणी के प्रसंग में मिलता है जिसे विरासत के प्रयोजन के लिए पुरुष माना जाता था।

देश के प्राकृतिक भूगोल का वर्णन करते हुए भी अल-बिरूनी की दृष्टि प्रत्येक बात पर जाती थी जिसमें चट्टानों और पत्थरों के आकार, लंबाई-चौड़ाई और बनावट से लेकर (पृ० 100) लोगों के मानवशास्त्रीय नाक-नक़्श और वेशभूषा (पृ० 102) तक सभी कुछ आ जाता है। अपने वृत्तांत के भौगोलिक अंश में वह पुस्तकों के उद्धरणों पर इतना निर्भर नहीं रहता जितना कि वैज्ञानिक प्रेक्षण और परिकलन पर। देश के विभिन्न भागों को जाने वाले मुख्य मार्गों[1] का वर्णन और प्रमुख नगरों के बीच दूरी की गणना (पृ० 101-07) अल-बिरूनी के वर्णन का

1. अल-बिरूनी ने सोलह मुख्य मार्गों का उल्लेख किया है जो कन्नौज, मथुरा, अनहिलवाड़ा और धार से शुरू होते थे। शायद उसने यह जानकारी सुल्तान महमूद के सैनिक तथा सिविल अधिकारियों से प्राप्त की होगी जो देश के उस भाग से अधिक परिचित थे।

बहुत ही महत्वपूर्ण अंश है लेकिन उसके सही इस्तेमाल के लिए यह परिश्रम आवश्यक है कि सभी स्थानों के नामों की पहचान की जाए और अल-बिरूनी ने जिन मात्रकों का प्रयोग किया है उनके ठीक-ठीक भारतीय समानक खोजे जाएं।

कहीं-कहीं तो अल-बिरूनी ने बहुत ही मूल्यवान जानकारी असंवद्ध विषय पर चर्चा करते हुए दे दी है। इसी प्रकार 'हिन्दुओं की वर्णमाला' का वर्णन करते समय जो देश के विभिन्न भागों में प्रयुक्त होती थी और "कर्नाट देश" में प्रयुक्त कर्नाट का जिक्र करते हुए उसने बताया है कि सुल्तान महमूद की सेना में कुछ ऐसे सैनिक थे जो "कन्नड़" कहलाते थे क्योंकि उनकी भर्ती कर्नाट देश से हुई थी(पृ० 86)। अन्यत्र, सप्तर्षि के तारामंडल के बारे में लिखते हुए उसने कहा है, "हमारा समय" (अर्थात् 'किताब-उल-हिन्द' का रचनाकाल था 421 हिजरी) शक संवत 952 के अनुरूप है(पृ०186)। इससे शक संवत के ईसवी सन् के साथ सामंजस्य की परोक्ष रूप में पुष्टि होती है और इस मत का भी समर्थन होता है कि वह 78 ईसवी में शुरू हुआ था। जैसाकि हम जानते है, 421 हिजरी 1030 ईसवी के अनुरूप है और 78 में 952 जोड़ने से 1030 आ जाता है। एक और स्थल पर देशांतरों के निर्धारण की पद्धति की चर्चा करते हुए उसने भारत के कुछ नगरों की सूची दी है जहां वह गया था और जिनके देशांतरों का भी निर्धारण उसने स्वयं ही किया था (पृ० 150)। इस जानकारी का जिस पर लोगों का पर्याप्त ध्यान नहीं गया है अल-बिरूनी की भारत में की गई यात्राओं के प्रश्न से संवद्ध है जिस पर मतभेद है। एक और उदाहरण लें—काल विभाजन के बारे में लिखते समय उसने जलघड़ियों का जिक्र किया है जो समय की इकाई जानने का "घटी" नामक एक यंत्र है जिसे उसने पेशावर में देखा था और इन जलघड़ियों की व्यवस्था के लिए धर्मपरायण लोगों ने "संपत्ति और नियत आय की वसीयत कर दी है"[1] (पृ० 164)।

अल-बिरूनी के इतिहास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसका दृष्टिकोण अपने अध्ययन के विषय के प्रति ईमानदारी तथा सहानुभूति का था। इस दृष्टिकोण के महत्त्व को समझने के लिए यह बात याद रखने की है कि उस पुस्तक की रचना एक ऐसे काल में हुई थी जब आए दिन सैनिक संघर्ष होते रहते थे और हिन्दू और मुसलमानों के बीच सैद्धांतिक और भावनात्मक शत्रुता दिन-प्रति-दिन बढ़ती जा रही थी। कभी-कभी तो उसने कुछ भारतीय रीति-रिवाजों के बारे में बड़ी

1. हमें ज्ञात है कि इसी प्रकार का प्रबंध फीरोज़ तुग़लक़ (1351-88) के काल में भी किया गया था और बाबर (1526-30) ने भी भारत में इसी प्रकार के प्रबंध का प्रशंसात्मक ढंग से निर्देश किया है। इस परिपाटी के बने रहने का यह प्रमाण बताता है कि वह बहुत प्राचीन काल से चली आ रही थी।

कठोर भाषा का प्रयोग किया है और जिसे वह हिन्दुओं की श्रेष्ठता, मनोग्रंथि और संकीर्ण दृष्टिकोण समझता था उसकी भी विशेष रूप से आलोचना की है (पृ० 9-10, 90-91)। लेकिन इसके बावजूद उसने यह भी निस्संकोच रूप से कह दिया कि ये दोष केवल हिन्दुओं में ही नहीं हैं बल्कि दूसरी जाति के लोगों में भी मिल जाते हैं जिनमें इस्लाम-पूर्व अरब भी शामिल हैं। आगे चलकर उसने यह भी स्पष्ट किया है कि वे (दोष) मुझ जैसे विदेशी को इसलिए भी अजीब लगे क्योंकि मेरे अपने समाज में वे कहीं नहीं मिलते (पृ० 90-91, 94)।

इसके अलावा अल-बिरूनी की यह अंतिम टिप्पणी भी बहुत महत्त्व रखती है कि यह पुस्तक उन लोगों को दृष्टिगत रखकर लिखी गई है जो हिन्दुओं के साथ "उनकी अपनी सभ्यता के आधार पर धर्म, विज्ञान या साहित्य-विषयक प्रश्नों पर उनसे विचार-विमर्श करना" चाहते हैं (पृ० 279, बल मेरा है)। आजकल पाश्चात्य विद्वान पूर्वी संस्कृतियों को अपनी ही शर्तों और देशी स्रोतों के आधार पर समझने पर अधिक बल देते हैं। यह अल-बिरूनी की महानता ही तो है कि उसने लगभग एक हजार वर्ष पहले इस प्रकार का प्रयास किया और उसमें उसे काफी हद तक सफलता भी मिली। असल बात तो यह है कि किसी भी विदेशी संस्कृति को यथा-तथ्य रूप में समझने के लिए अल-बिरूनी का विवेकशील और मूलतः गुणग्राही दृष्टिकोण ही है जिसने उसके इतिहास को मध्य काल में भारत पर लिखे सभी इतिहासों में प्रतिष्ठित किया है। सखाउ के अंग्रेजी अनुवाद के इस संक्षिप्त संस्करण में सभी अध्यायों को उनके मूल रूप में रखा गया है और विभिन्न विषयों पर अल-बिरूनी के अपने विचार भी यथावत् रखे गए हैं। पुस्तक का अधिकांश भाग खगोलशास्त्र, ज्योतिष, कालक्रमविज्ञान और संबंधित विषयों पर है और स्वयं अल-बिरूनी की दृष्टि में यही शायद उसके इतिहास का अधिक महत्त्वपूर्ण भाग है। लेकिन इसका खासा भाग ऐसा है जिसमें सामान्य पाठक को विशेष रुचि नहीं होगी; दूसरे, हाल में हुई वैज्ञानिक प्रगति के कारण वह अप्रचलित भी हो गया है। दूसरी ओर, अधिक रुचि उस अंश में ली जाती है जो समाज-संगठन, आचार-विचार, रीति-रिवाज, मेले-ठेले और त्योहार, विधि-व्यवस्था और स्थान वर्णन संबंधी विवरण आदि से संबद्ध है। मूल पाठ का संपादन इसी के अनुसार किया गया है। जिन अंशों को निकाल दिया गया है वे मुख्य रूप से वे हैं जिनमें खगोलशास्त्र और ज्योतिष से संबंधित प्राविधिक ब्योरा है, पौराणिक कथाएं और गाथाएं हैं और जिनमें मूल स्रोतों से (जिनमें ऐसे उद्धरण जो किसी विशिष्ट विषय से संबंधित हैं अपवादस्वरूप रख लिए गए हैं) लंबे-लंबे उद्धरण दिए गए हैं। ऐसे अंशों में केवल विशेषज्ञों की रुचि हो सकती है। निकाले गए अंशों की विषय-वस्तु का संक्षिप्त निर्देश बड़े कोष्ठकों में कर दिया गया है और पृष्ठों की क्रम-संख्याएं नयी दिल्ली के 1964 के पुनर्मुद्रण के अनुसार सार रूप में बड़े कोष्ठकों में

दे दी गई हैं। कुछ स्थलों पर प्रतिनिर्देश दिए गए हैं जहां अल-बिरूनी ने पूर्व पृष्ठ पर किसी बात का उल्लेख किया है। ऐसी स्थिति में छोटे कोष्ठकों में दी गई तदस्थानी पृष्ठ संख्या इसी वर्तमान संस्करण की है। जहां छोटे-छोटे अंश जो एक या दो पृष्ठों के थे निकाले गए हैं उनका निर्देश बिन्दुओं द्वारा किया गया है। अल-बिरूनी द्वारा उद्धृत कुछ पुस्तकों और लेखकों तथा पाठ में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों पर व्याख्यात्मक टिप्पणियां[1] भी जोड़ दी गई हैं। इनमें से कुछ तो सखाउ की अपनी विस्तृत टिप्पणियों पर आधारित हैं जो पुस्तक के 150 पृष्ठों में फैली हुई हैं। इन्हें बनाए रखना या इनका सार प्रस्तुत करना इसलिए आवश्यक नहीं समझा गया कि उनमें से अनेक ऐसी थीं जो विशिष्ट भाषाविज्ञान में रुचि रखने वालों के लिए हैं। साथ ही इनमें से कुछ को हाल के अनुसंधान के संदर्भ में अधुनातन बनाना आवश्यक था। उन लोगों की सुविधा के लिए जिनको अल-बिरूनी की टिप्पणियों के किसी विशेष भाग पर आगे काम करने हैं, रुचि में संगत लेखों की एक चयनिका भी दे दी गई है। जो अनुक्रमणिका दी गई है उसमें सामाजिक संगठन, धर्म और विविध शास्त्रों आदि से संबद्ध अंशों पर विशेष ध्यान दिया गया है। सुल्तान महमूद के साम्राज्य का विस्तार बताने के लिए एक मानचित्र भी दिया गया है जिसमें साम्राज्य का भारतीय भाग भी दर्शाया गया है। इस प्रकार अल-बिरूनी के इतिहास का तत्त्व इस प्रकार से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है कि वह एक सामान्य व्यक्ति के लिए न केवल सार्थक हो बल्कि मनोरंजक भी बन जाए।

सुल्तान महमूद और अल-बिरूनी भारतीय तथा इस्लामी सभ्यताओं के बीच हुए संपर्क के दो भिन्न पहलुओं के प्रतीक हैं। इनमें से पहला यदि तात्कालिक, बाह्य और विनाशकारी परिणामों का प्रतिनिधि है तो दूसरा दीर्घकालीन, आंतरिक और रचनात्मक प्रभाव को दर्शाता है। यह दुर्भाग्य की बात है कि सामान्य पाठक जिनमें वे भी शामिल हैं जिनकी इतिहास में रुचि है अल-बिरूनी द्वारा भारतीय समाज के विद्वत्तापूर्ण अध्ययन के बारे में कम और सुल्तान महमूद के भारत पर आक्रमण के बारे में ज्यादा जानकारी रखते हैं। यदि यह पुस्तक इस झुकाव को ठीक करने और संतुलन को पुनः स्थापित करने में सहायक सिद्ध हुई तो इसका उद्देश्य पूरा हो जाएगा।

इसके हिन्दी अनुवाद के प्रकाशित होने से मुझे प्रसन्नता तो हो ही रही है, मेरा उत्साह भी बढ़ा है। यह अंग्रेजी पुस्तक के संशोधित संस्करण का अनुवाद

1. पादटिप्पणियों की संख्या सखाउ के अंग्रेजी अनुवाद में नहीं छपी है; उन्हें पुस्तक के अंत में पृष्ठवार रख दिया गया है। लेकिन मैंने पाठ में पादटिप्पणियों की संख्या अनुक्रमानुसार दी हैं और उन टिप्पणियों को पुस्तक के अंत में क्रमबद्ध रूप में रख दिया है।

है। इसमें मूल पाठ के कुछ उद्धरण बढ़ाए गए हैं और संपादक की भूमिका, चुने हुए निर्देशों और टिप्पणियों में भी संशोधन किया गया है।

मैं अपने मित्र पॉल जैक्सन, एस०जे० का ऋणी हूं जिन्होंने उन यूनानी शब्दों का जो अंग्रेजी अनुवाद में प्रयुक्त हुए हैं रोमन लिपि में लिप्यंतरण किया। मैं पटना विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष प्रोफेसर योगेन्द्र मिश्रा का कृतज्ञ हूं जिन्होंने मुझे हिन्दू पंचांग के संबंध में बड़ी उपयोगी जानकारी दी जिससे मुझे त्योहारों पर टिप्पणियां तैयार करने में सहायता मिली। मैं अपने सहयोगी डॉ० आर०एन० नंदी का भी, जो पटना कालेज के इतिहास विभाग में रीडर हैं, आभारी हूं जिन्होंने कुछ टिप्पणियां तैयार करने में मेरी सहायता की और अनेक ऐसे मामलों में चर्चा करने के लिए समय निकाला जिनमें व्याख्या अपेक्षित थी। मेरे पुत्र इम्तियाज़ अहमद ने जो पटना कालेज के इतिहास विभाग में प्राध्यापक हैं, अनुक्रमणिका बनाने और पुस्तक की प्रेस कापी तैयार करने में मेरी मदद की।

—क़यामउद्दीन अहमद

विषय-सूची

हिन्दू विचारधारा की ग्राह्य व त्याज्य सभी श्रेणियों का यथार्थ वर्णन

रचयिता

अबू रेहान मुहम्मद इब्न अहमद
अल-बिरूनी

प्राक्कथन

बिस्मिल्लाह् इर्रहमान इर्रहीम*

।

1. परंपरा, जनश्रुति या प्रत्यक्षदर्शन, 2. विभिन्न प्रकार के संवाददाता, 3. सच्चाई की प्रशंसा

इस बात से कोई इंकार नहीं कर सकता कि ऐतिहासिक प्रामाणिकता के मामले में जनश्रुति प्रत्यक्षदर्शी की समता नहीं कर सकती, क्योंकि प्रत्यक्ष दर्शन में दर्शक की आंख उस वस्तु के तत्व को जिसे वह देख रही है उसी देश-काल की परिधि में पकड़ लेती है जहां वह मौजूद है, लेकिन जनश्रुति की अपनी कुछ विशिष्ट त्रुटियां होती हैं। यदि ये त्रुटियां न हों तो जनश्रुति को प्रत्यक्ष दर्शन की तुलना में श्रेयस्कर माना जाता, क्योंकि आंख से देखी गयी वस्तु का अस्तित्व केवल प्रत्यक्षतः और क्षणजीवी होता है जबकि जनश्रुति में वर्तमान, भूत और भविष्यत् तीनों समान रूप से शामिल रहते हैं जिससे कि उसे एक विशेष अर्थ में दोनों पर—जो है और जो नहीं है (अर्थात् जो लुप्त हो चुका है या जो अभी प्रकट ही नहीं हुआ) — घटाया जा सकता है। लिखित संवाद भी एक प्रकार की जनश्रुति ही हैं—बल्कि हम यहां तक कह सकते हैं कि वही सर्वश्रेष्ठ है। यदि लेखनी से तैयार किए गये ये चिरस्थायी स्मारक न होते तो हम जातियों का इतिहास कैसे जान पाते ?

किसी घटना के संबंध में ऐसा संवाद जो स्वयं न तो तर्कशास्त्र-संबंधी नियमों का विरोध करता है और न ही प्रकृति के नियमों का, निश्चय ही अपने सत्य या मिथ्या स्वरूप के लिए संवाददाताओं के चरित्र पर निर्भर होगा जो विविध प्रकार के स्वार्थों और विभिन्न जातियों के बीच विद्यमान सभी प्रकार के विद्वेषों के वैर-भाव से प्रभावित रहते हैं। हमें विभिन्न वर्गों के संवाददाताओं में भेद करना चाहिए।

उनमें से एक झूठ इसलिए बोलता है कि उससे उसका अपना कोई स्वार्थ पूरा होता है—चाहे वह झूठ अपने परिवार या जाति का 'गुणगान करके' बोला

*प्रारंभ करता हूं मैं अल्लाह के नाम से जो बड़ा कृपालु और महा दयालु है।

जाए क्योंकि वह उसी का एक अंग है या अपने विरोधी पक्ष के परिवार अथवा जाति पर 'प्रहार करके', क्योंकि वह यह समझता है कि ऐसा करके ही उसका हित-साधन हो पाएगा। दोनों ही स्थितियों में उसका व्यवहार अवांछनीय अर्थ-लिप्सा और द्वेष-भाव से प्रेरित होता है।

दूसरा किसी वर्ग-विशेष के लोगों के संबंध में जिन्हें वह पसंद नहीं करता इस तरह झूठ बोलता है जैसे उनका आभारी हो या उन लोगों के संबंध में जिनसे वह घृणा करता है इसलिए झूठ बोलता हैं क्योंकि उनके बीच कोई अप्रिय घटना घट चुकी है। ऐसा संवाददाता पहले से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है, क्योंकि वह भी व्यक्तिगत अभिरुचि और शत्रुता से प्रेरित होकर व्यवहार करता है।

तीसरा इसलिए झूठ का सहारा लेता है, क्योंकि वह ऐसे नीच स्वभाव का है जिसकी दृष्टि हमेशा किसी-न-किसी प्रकार के लाभ पर टिकी रहती है, या इसलिए कि वह इतना कायर है कि सच बोलने से भी डरता है।

चौथा इसलिए झूठ बोलता है कि झूठ बोलना उसका स्वभाव बन गया है और झूठ बोले बिना वह रह नहीं सकता और उसके इस स्वभाव का कारण है उसके चरित्र का असल कमीनापन और उसकी अंतरात्मा की भ्रष्टता।

अंतिम कारण यह है कि आदमी अज्ञानवश झूठ बोल सकता है; हो सकता है, वह उन लोगों का अंधानुसरण कर रहा हो जिन्होंने उसे वैसा ही बताया हो। अब यदि इस प्रकार के संवाददाताओं की संख्या इतनी अधिक हो जाए कि वे किसी स्मृति-विशेष के प्रतीक बन जाएं या यदि कुछ समय बाद वे—एक के बाद दूसरा—समुदायों या जातियों का निर्माण कर लें तो पहला संवाददाता और उसके अनुयायी झूठ के आविष्कारक और उसके श्रोता के बीच की कड़ी बन जाएंगे और यदि उन्हें जोड़ने वाली कड़ी समाप्त कर दी जाए तो शेष बचेगा उस कथा का प्रवर्तक जो उन अनेक झूठों में से एक होगा जिन्हें हम गिनवा चुके हैं और वही ऐसा व्यक्ति है जिससे हमें निपटना है।

केवल वही मनुष्य प्रशंसा का पात्र है जो झूठ से दूर भागता है और हमेशा सचाई पर अड़ा रहता है, जिसकी दूसरों का कहना ही क्या झूठों में भी प्रतिष्ठा होती है।

1. धार्मिक तथा दार्शनिक सिद्धांतों पर मुस्लिम ग्रंथों के दोष, 2. जिनका हिन्दुओं के संबंध में उदाहरण दिया गया है—इरान-शहरी की पुस्तक की आलोचना, 3. अल-बिरूनी से इस विषय पर पुस्तक लिखने का अनुरोध, 4. उसने अपनी पद्धति बताई

मैं जब एक दिन उस्ताद अबू सहल अब्दुल मुनइम इब्न-ए-अली इब्न-ए-नूह अतिफलिसी से मिला (अल्लाह उनकी मदद करे!) तो देखा कि उन्होंने मोतजिला

संप्रदाय[2] पर लिखी एक पुस्तक के लेखक की उस संप्रदाय के सिद्धांत को ग़लत ढंग से प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति की निंदा की। क्योंकि मोतज़िलियों के अनुसार अल्लाह सर्वज्ञ है और इस सिद्धांत को लेखक ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है मानो 'अल्लाह अज्ञान है' (जिस प्रकार मनुष्य अज्ञान हैं) और इस प्रकार उसने अशिक्षित लोगों को गुमराह किया है कि वे यह समझ बैठें कि मोतज़िलियों के मतानुसार 'अल्लाह ज्ञान-शून्य' है। सुब्हान अल्लाह! अल्लाह जो इस प्रकार की और ऐसी ही अन्य अशोभन उक्तियों से कहीं ऊपर है। उस पर मैंने उस्ताद को बताया कि ठीक यही पद्धति उन लोगों में भी बहुत अधिक प्रचलित है जो ऐसी धार्मिक तथा दार्शनिक प्रणालियों का इतिवृत्त प्रस्तुत करने का बीड़ा उठाते हैं जिनसे उनका थोड़ा-सा मतभेद होता है या जिनके वे घोर विरोधी हैं···।

अपनी बात स्पष्ट करने के लिए उपस्थित लोगों में से एक ने उदाहरण के रूप में हिन्दुओं के धर्मों और सिद्धांतों का उल्लेख किया। उसके बाद मैंने उनका ध्यान इस तथ्य की ओर दिलाया कि इस विषय पर हमारे साहित्य में जो कुछ उपलब्ध है वह अप्रत्यक्ष जानकारी है जो एक ने दूसरे से लेकर नक़ल कर दी है। सामग्री का यह ऐसा घालमेल है जिसे आलोचना की छलनी में कभी छाना ही नहीं गया। इस वर्ग के जितने भी लेखक हैं मैं उनमें से केवल एक को जानता हूं जिसने बिना किसी द्वेष या पक्षपात के इस विषय पर सीधा-सच्चा और ठीक-ठीक विवरण प्रस्तुत करने का बीड़ा उठाया था और वह था अबुल अब्बास अलईरान शहरी।[3] उसका तत्कालीन धर्मों में से तो किसी भी एक पर विश्वास नहीं था लेकिन वह अपने ही बनाए हुए मज़हब का अकेला अनुयायी था और उसी का प्रचार करता था। उसने यहूदियों और ईसाइयों के धर्म-सिद्धांतों और साथ ही 'तौरैत' (मूसा-संहिता) और 'बाइबिल' के पाठों का बड़ा अच्छा निरूपण किया है। इसके अलावा उसने मानिकीवादियों तथा अतीत के उन अप्रचलित धर्मों का उत्कृष्ट वर्णन किया है जिनका उनके ग्रंथों में उल्लेख हुआ है। लेकिन जब वह अपनी पुस्तक के उस स्थल पर पहुंचा जहां उसे हिन्दुओं और बौद्धों के संबंध में चर्चा करनी थी तो उसका निशाना चूक गया और आगे चलकर तो बिलकुल ही भटक गया और वह ज़रकानियों के ग्रंथ[4] पर प्रहार कर बैठा जिसका विषय उसने अपनी पुस्तक में शामिल कर लिया। लेकिन जो कुछ उसने ज़रक़ान से ग्रहण नहीं किया है वह सब उसने स्वयं हिन्दुओं और बौद्धों में साधारण लोगों से सुना है।

कालांतर में उस्ताद अबू सहल ने उन्हीं ग्रंथों का दुबारा अध्ययन किया और जब उन्हें मामला वैसा ही लगा जैसा मैंने यहां वर्णित किया है तो उन्होंने मुझसे कहा कि तुम हिन्दुओं के बारे में जो कुछ जानते हो लिख डालो ताकि वह उन लोगों के लिए सहायक सिद्ध हो सके जो हिन्दुओं के साथ धार्मिक समस्याओं पर

चर्चा करना चाहते हैं और साथ ही उन लोगों के लिए सूचनागार बन सके जो उनके साथ मिल जाना चाहते हैं। उन्हीं को खुश करने के लिए मैंने यह सब किया और हिन्दुओं के धर्म-सिद्धांतों पर पुस्तक लिखी जिसमें उन लोगों के विरुद्ध जो हमारे विरोधी हैं न तो कहीं बेबुनियाद लांछन लगाए हैं और साथ ही जहां कहीं भी मैंने यह समझा कि उन्हीं के शब्द विस्तार से उद्धृत करना विषय के प्रतिपादन में सहायक होगा मैंने बहैसियत एक मुसलमान के ऐसा करना अपने कर्तव्यों से असंगत न मानकर किया। यदि इन उद्धरणों में कही गयी बातें ग़ैर-मुस्लिम लगें और सच्चाई की राह पर चलने वाले यानी मुसलमान उन्हें आपत्तिजनक मानें तो हम केवल यही कह सकते हैं कि हिन्दुओं का यही विश्वास है और वे स्वयं अपना बचाव करने में समर्थ हैं।

यह पुस्तक विवादात्मक हरगिज़ नहीं है। मैं अपने विरोधियों के तर्क इस उद्देश्य से प्रस्तुत नहीं करूंगा कि जिन्हें मैं ग़लत समझता हूं उनका खंडन कर सकूं। मेरी पुस्तक तो तथ्यों का सीधा-सच्चा ऐतिहासिक अभिलेख मात्र है। मैं पाठकों के सामने हिन्दुओं के सिद्धांत ठीक उसी रूप में प्रस्तुत करूंगा जैसे कि वे हैं और मैं उन्हीं के संबंध में यूनानियों के वे सिद्धांत भी पेश करूंगा जो उनसे मिलते-जुलते हैं ताकि उन दोनों के बीच जो संबंध विद्यमान रहे हैं, वे उजागर हो सकें। क्योंकि जहां तक यूनानी दार्शनिकों का प्रश्न है यद्यपि वे सिद्धांत के रूप में सत्य की खोज करते हैं, जनसाधारण से संबद्ध समस्याओं के संदर्भ में वे कभी भी रूढ़िगत बाह्य अभिव्यक्तियों और धर्म तथा न्याय दोनों के ही सिद्धांतों से ऊपर नहीं उठ पाते। यूनानी विचारों के अतिरिक्त हम यदा-कदा सूफ़ियों या ईसाइयों के किसी-न-किसी संप्रदाय के विचार भी पेश करेंगे क्योंकि पुनर्जन्म और सृष्टि के साथ ईश्वर के एकत्व के बारे में सर्वेश्वरवादियों की जो धारणाएं रही हैं उनमें और इन व्यवस्थाओं में बहुत-कुछ साम्य मिल जाता है।

मैं पहले ही दो पुस्तकों का अरबी में अनुवाद कर चुका हूं—जिनमें से एक तो सृष्टि के आरंभ और समस्त प्राणियों के बारे में है जिसे 'सांख्य'[5] कहा जाता है और दूसरी आत्मा के शरीर के बंधन से मुक्ति के बारे में है जिसे 'पातंजल' कहा जाता है। इन दोनों पुस्तकों में हिन्दुओं के विश्वास के अधिकांश तत्व तो विद्यमान हैं किन्तु उनसे उद्भूत सभी धर्म-सिद्धांत नहीं दिए गये हैं। आशा है कि प्रस्तुत पुस्तक से पाठकों को पहली दो पुस्तकों और उसी प्रकार की अन्य पुस्तकों का अध्ययन करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। यही इस विषय का पर्याप्त निरूपण करेगी और यदि खुदा ने चाहा तो वे इससे पूरी तरह परिचित हो सकेंगे।

[पुस्तक के अलग-अलग अध्यायों का अल-बिरूनी का सार—देखें, पृ० XXXIII-XXXIII तथा आगे पृ० 9-16 पर दिया गया है।]

पहला अध्याय

सामान्य हिन्दुओं के संबंध में प्रस्तुत विचारों की प्रस्तावना

हिन्दुओं को मुसलमानों से पृथक करने वाले अवरोधों का वर्णन, जिनके कारण किसी मुसलमान द्वारा किसी भी भारतीय विषय का अध्ययन विशेषतः कठिन हो जाता है।

अपने विषय का प्रतिपादन शुरू करने से पहले हमें उस बात का ठीक-ठीक अनुमान कर लेना चाहिए कि जो भारत संबंधी किसी भी विषय के मूलभूत स्वरूप के गहन अध्ययन में विशेष रूप से बाधा उपस्थित करती है। इन कठिनाइयों का आभास या तो हमारे कार्य की प्रगति को सुकर बना देगा या फिर वह हमारी उन त्रुटियों का समर्थक बन जाएगा जो हमसे हुई होंगी। इसका कारण यह है कि पाठकों को यह बात हमेशा याद रखनी चाहिए कि हिन्दू हमसे हर दृष्टि से सर्वथा भिन्न हैं। अनेक ऐसे विषय जो बड़े जटिल और गूढ़ दिखाई देते हैं बिलकुल स्पष्ट हो सकते थे यदि हमारे और उनके बीच अधिक संपर्क होता। जो अवरोध मुसलमानों को हिन्दुओं से पृथक करते हैं उनके भिन्न-भिन्न कारण हैं।

पहला कारण : भाषा का अंतर और उसकी विशिष्ट प्रकृति

और यहां सबसे पहले हम भाषा को ही लेते हैं हालांकि भाषा का अंतर अन्य जातियों में भी मौजूद है। यदि आप इस कठिनाई पर विजय प्राप्त करना चाहते हैं (अर्थात् संस्कृत सीखना चाहते हैं) तो यह भी आपके लिए सरल नहीं होगा, क्योंकि इस भाषा का क्षेत्र शब्दों और रूप-रचना दोनों ही दृष्टि से बड़ा व्यापक है। यह कुछ-कुछ अरबी जैसी है जिसमें एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं—जिनमें मूल शब्द भी हैं और व्युत्पत्तियां भी—और विभिन्न प्रकार के विषयों के लिए एक ही शब्द का प्रयोग किया जाता है जिन्हें ठीक तरह से समझना हो तो उनमें भेद करने के लिए विभिन्न विशेषण जोड़ने होंगे। इसका कारण यह है कि कोई भी व्यक्ति किसी भी शब्द के विभिन्न अर्थों में भेद नहीं कर सकता जब तक कि वह उस संदर्भ को न जानता हो जिसमें उसका प्रयोग

किया गया है और न यही कि वाक्य के पूर्वापर भागों में उसका क्या संबंध है।' अन्य लोगों की भांति हिन्दू अपनी भाषा की इस व्यापकता की डींग मारते हैं जबकि वास्तव में यह एक दोष है।

इसके अतिरिक्त यह भाषा दो भागों में विभक्त है—एक तो उपेक्षिता अशिष्ट भाषा जो केवल आम लोगों में बोली जाती है और दूसरी शास्त्रीय भाषा जिसका उच्च वर्ग और शिक्षित जनों में प्रयोग होता है। यह बहुत परिष्कृत भाषा है और व्याकरणिक रूप-रचना तथा व्युत्पत्ति-संबंधी नियमों में बंधी हुई है। व्याकरण तथा अलंकारशास्त्र की सभी बारीकियां इस पर लागू होती हैं।

और आगे बढ़ें तो इसकी कुछ ध्वनियां (व्यंजन) जिनसे भाषा का निर्माण हुआ है न तो अरबी और फारसी के समान हैं और न ही किसी भी प्रकार से उन जैसी लगती हैं···। इसलिए किसी भी भारतीय शब्द को अपनी लिपि में लिखना बहुत कठिन है, क्योंकि उस शब्द का उच्चारण निश्चित करने के लिए हमें अपने वर्तनी-विषयक बिंदुओं और चिह्नों को बदलना पड़ेगा और विभक्तियों का उच्चारण या तो अरबी के सामान्य नियमों या फिर इसी प्रयोजन के लिए ग्रहण किए गये विशेष नियमों के अनुरूप करना होगा।

इतना ही नहीं, भारतीय लिपिक लापरवाह भी होते हैं और शुद्ध तथा सुसंबद्ध प्रतियां तैयार करने में परिश्रम नहीं करते। इसका परिणाम यह होता है कि लेखक के मानसिक विकास से उद्भूत उच्चतम परिणाम उनकी असावधानी के कारण नष्ट हो जाते हैं और उसकी पुस्तक की पहली या दूसरी प्रति पहले ही इतनी दोषपूर्ण हो जाती है कि उसका पाठ एक प्रकार से बिलकुल ही नया लगने लगता है जो न तो किसी विद्यार्थी की समझ में आ सकता है और न ही किसी ऐसे व्यक्ति की जो विषय का ज्ञाता है चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान। यदि हम पाठक को यह बताएं तो शायद बात काफ़ी स्पष्ट हो जाएगी कि हमने कभी-कभी हिन्दुओं के मुख से निकले शब्द का उच्चारण बड़े परिश्रम से स्थिर करके लिखा है और बाद में जब वही शब्द हमने उनके सामने दोहराया तो उन्हें उसे पहचानने में बड़ी कठिनाई हुई।

साथ ही, हिन्दुओं की शास्त्र-संबंधी पुस्तकों की रचना विभिन्न छंदों में की गयी है जिसका अभिप्राय यह रहा होगा कि छंदोबद्ध रचना कंठस्थ करने में आसानी होती है, अन्यथा पुस्तकों में लोग कहीं प्रक्षेप और कहीं विलोपन करके उसे विकृत कर देते हैं। साथ ही, वे उसी को प्रामाणिक मानते हैं जो कंठस्थ हो सके, जो कुछ लिखित रूप में विद्यमान है उसका उनकी दृष्टि में उतना महत्व नहीं। यह बात अब सर्वविदित है कि सभी छंदोबद्ध रचनाओं में ऐसी अस्पष्ट और बोझिल शब्दावली का प्रायः प्रयोग किया जाता है जिसका उद्देश्य केवल छंद-पूर्ति और एक प्रकार का जोड़जाड़ करना होता है और इसी कारण थोड़ा-

बहुत शब्दाडंबर आवश्यक हो जाता है। यह भी एक कारण है कि एक ही शब्द कभी एक अर्थ देता है और कभी दूसरा।

इस समस्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाएगा कि साहित्यिक रचनाओं के छंदोबद्ध रूप के कारण भी संस्कृत साहित्य का अध्ययन विशेष रूप से दुरूह बन जाता है।

दूसरा कारण : उनके धार्मिक पूर्वाग्रह

दूसरे, वे धर्म में भी हमसे सर्वथा भिन्न हैं क्योंकि जिन बातों पर उनका विश्वास है उन पर हम विश्वास नहीं करते और इसके विपरीत जो हमारी आस्था हैं वे उनकी नहीं हैं। कुल मिलाकर जहां तक धर्मविज्ञान संबंधी विषयों का प्रश्न है उनमें आपस में शायद ही कोई विवाद होता हो; यदि वे कभी झगड़ते भी हैं तो उनकी लड़ाई शब्दों तक सीमित रहती है, लेकिन धार्मिक वाद-विवाद पर वे अपनी आत्मा, शरीर या अपनी संपत्ति दाव पर कभी नहीं लगाते। इसके विपरीत उनकी समस्त धर्मान्धता का लक्ष्य वे लोग होते हैं जो उनमें से नहीं हैं—अर्थात् सभी विदेशी। वे उन्हें मलेच्छ अर्थात् अपवित्र कहते हैं और उनसे किसी भी प्रकार का संबंध रखने का निषेध करते हैं चाहे वह अंतर्विवाह हो या अन्य प्रकार का संबंध हो या उनके साथ उठना-बैठना, खाना-पीना हो। क्योंकि उनका विचार है कि ऐसा करने से वे अपवित्र हो जाएंगे। वे हर उस वस्तु को अपवित्र मानते हैं जो किसी विदेशी की अग्नि या जल से छू जाए और ज़ाहिर है कि कोई गृहस्थी इन दो तत्वों के बिना चल ही नहीं सकती। इसके अलावा उन्हें इसकी कभी इच्छा नहीं होती कि जो वस्तु एक बार अपवित्र हो जाए उसे पवित्र करके इस्तेमाल किया जाए, क्योंकि साधारण परिस्थितियों में यदि कोई व्यक्ति या कोई वस्तु अशुद्ध हो जाए तो वह व्यक्ति या वस्तु पवित्रता को फिर से प्राप्त करने के लिए सचेष्ट होगा। उन्हें किसी ऐसे व्यक्ति को अपने घर में आने देने की अनुमति नहीं है, जो उनका धर्मावलंबी नहीं है चाहे वह स्वयं आना चाहता हो या उसका उनके धर्म के प्रति झुकाव क्यों न हो। यह भी एक ऐसा कारण है जिससे उनके साथ किसी प्रकार का संबंध स्थापित करना सर्वथा असंभव है और यही हमारे और उनके बीच सबसे बड़ी खाई बनी हुई है।

तीसरा कारण : उनके आचार-विचार और रीति-रिवाजों में मूल अंतर

तीसरा कारण यह है कि आचार-व्यवहार और रीति-रिवाजों में उनमें और हममें इतना अधिक भेद है कि वे हमारी वेश-भूषा, तौर-तरीकों और रिवाजों से अपने बच्चों को डराते हैं, यहां तक कि हमें राक्षस की संतान बताते हैं और हमारे कार्यकलाप को बुरा और अनुचित मानते हैं। लगे हाथों यहां यह स्वीकार करना

भी न्यायोचित है कि विजातीयों के प्रति इसी प्रकार का निंदा-भाव हममें और हिन्दुओं में ही नहीं वरन् सभी जातियों में एक-दूसरे के प्रति यही भावना पाई जाती है···।

चौथा कारण

चौथा कारण यह है कि हिन्दुओ की विजातीयों के प्रति घृणा तब और अधिक बढ़ गयी जब मुसलमानों ने उनके देश पर आक्रमण करने शुरू कर दिए। मुहम्मद इब्न अलक़ासिम इब्न-अल-मुनब्बा ने सिजिस्तान (सकसतीन) की तरफ़ से सिंध में प्रवेश किया और बहमनवा और मूलस्थान नामक नगरों पर विजय प्राप्त की। उसने पहले नगर को 'अल-मंसूरा' और दूसरे को 'अल-मामूरा' के नाम दिए। वह मुख्य भारत भूमि में दाखिल हुआ और कन्नौज तक पहुंच गया और वहां से गांधार देश तक बढ़ता चला गया। वापसी में कश्मीर की सीमाओं से गुज़रा जहां कभी तो उसने हाथ में तलवार लेकर युद्ध किया और कभी संधि द्वारा अपना लक्ष्य सिद्ध किया। उसने उन लोगों को छोड़कर जिन्होंने स्वेच्छा से मुसलमान बनना स्वीकार कर लिया, दूसरों के प्राचीन विश्वास को यथावत् बना रहने दिया। इन सभी घटनाओं ने उनके मन में गहरी नफ़रत के बीज बो दिए।

महमूद द्वारा देश पर आक्रमण और मुसलमानों की विजय

परवर्ती काल में कोई मुस्लिम विजेता ऐसा नहीं हुआ जो काबुल की सरहद और सिंधु नदी से आगे गया हो। अलबत्ता तुर्कों के काल में ऐसा ज़रूर हुआ जब उन्होंने ग़ज़ना में जो सामानी वंश के अधीन था सत्ता हथिया ली और सर्वोच्च सत्ता नसीरउद्दौला सबुक्तगीन के हाथ में आ गयी। इस राजकुमार ने जेहाद को अपना व्यवसाय बनाया और इसीलिए खुद को अल-ग़ाज़ी (अल्लाह की राह में लड़ाई करने वाला) कहलवाया। उसने अपने उत्तराधिकारियों के हित में भारत की सीमा को कमज़ोर करने के लिए वे सड़कें बनवाईं जिन पर चलकर उसके बेटे यामीनउद्दौला महमूद ने तीस-चालीस या इससे कुछ अधिक वर्षों तक भारत पर चढ़ाई की। खुदा बाप-बेटे दोनों पर रहम करे! महमूद ने देश की संपन्नता को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और वहां ऐसे कारनामे किए जिनके फलस्वरूप हिन्दू धूल के कणों की भांति चारों दिशाओं में बिखर गये और लोगों की ज़बान पर अतीत की कहानी बनकर रह गये। उनके बिखरे हुए अवशेष आज तक मुसलमानों के प्रति घोर घृणा का भाव रखते हैं। यह भी एक कारण है कि हिन्दू शास्त्र देश के उन भागों से दूर चले गये जिन पर हमने विजय प्राप्त की थी और उन्होंने ऐसे स्थानों अर्थात् कश्मीर, बनारस और अन्य नगरों में जाकर शरण ली जहां हमारे हाथ अब तक नहीं पहुंच पाए हैं और यही वे स्थान हैं जहां उनकी सभी विजातीयों

के प्रति विरोध की भावना दिन-प्रति-दिन बढ़ती जाती है और उन्हें राजनीतिक तथा धार्मिक दोनों स्रोतों से निरंतर बल मिलता है।

पांचवां कारण : हिन्दुओं का अभियान और उनकी हर विजातीय वस्तु के प्रति तिरस्कार की भावना

पांचवें स्थान पर कुछ अन्य कारण आते हैं जिनका उल्लेख व्यंग्य जैसा लगता है—उनके जातीय चरित्र की विशिष्टताएं हैं तो गहरी जमी हुई, लेकिन हरएक को दिखाई देती हैं। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि मूर्खता एक रोग है जिसकी कोई दवा नहीं और हिन्दुओं का यह विश्वास है कि न तो उनके जैसा कोई देश है, न जाति, न उनके जैसे राजा, न उनका जैसा क्षेत्र और न ही उनका जैसा विज्ञान। वे दंभी हैं, *अहम्मन्य हैं, अभिमानी हैं और भाव-शून्य हैं।* जो कुछ वे जानते हैं, उसे दूसरे तक पहुंचाने में वे स्वभाव से ही कृपण हैं और इस संबंध में बड़ी सावधानी बरतते हैं कि जो कुछ उन्हें ज्ञात है वह उनके अपने लोगों में भी दूसरी जाति के लोगों तक न पहुंच जाए, किसी विजातीय तक तो उसके जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। उनके मतानुसार संसार भर में उनके जैसा देश दूसरा नहीं है, न उनकी जाति जैसी कोई अन्य जाति है और उनके अलावा ऐसे प्राणी भी पृथ्वी पर नहीं हैं जिनके पास किसी प्रकार ज्ञान या विज्ञान हो। उनके दर्प की यह स्थिति है कि यदि आप उनके सामने किसी और विज्ञान या खुरासान और ईरान में किसी विज्ञान का नाम लें तो वे आपको न केवल अज्ञानी बल्कि झूठा भी समझेंगे। यदि वे अपने देश से बाहर जाएं और दूसरी जातियों से मेल-जोल बढ़ाएं तो उनके विचार बहुत जल्दी बदल जाएंगे, क्योंकि उनके पूर्वज इतने संकीर्णमना नहीं थे जितनी कि वर्तमान पीढ़ी है।

लेखक के व्यक्तिगत संबंध

अब भारत में यह वस्तुस्थिति है। मुझे अपने विषय पर काम करने में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है, हालांकि मुझे इससे बहुत लगाव है और इस दृष्टि से शायद मैं इस युग में अकेला ही हूं और हालांकि मैं ऐसे स्थानों से संस्कृत की पुस्तकें प्राप्त करने में न कष्ट का खयाल करता हूं और न ही पैसों का, जहां मेरे विचार से उनके उपलब्ध होने की संभावना है; यहां तक कि दूरस्थ स्थानों से भी ऐसे हिन्दू विद्वानों को हासिल करने का प्रयत्न करता हूं जो उन्हें समझते हैं और मुझे पढ़ा सकते हैं। भला ऐसा कोई और विद्यार्थी भी होगा जिसे इस विषय का अध्ययन करने के लिए ऐसे ही अनुकूल अवसर प्राप्त होंगे जैसे मुझे प्राप्त हैं? ऐसा तो किसी विरले के साथ ही होता होगा जिसे अल्लाह अपने करम से वह सब कुछ देता है जो उसने मुझे नहीं दिया—यानी ऐसा जिसे इच्छानुसार

कार्य करने और घूमने-फिरने की पूरी स्वच्छंदता हो; क्योंकि जहां तक मेरा संबंध है मुझे अपने कार्य-कलाप और कहीं आने-जाने की भरपूर आजादी कभी मयस्सर नहीं हुई, न ही मुझे कभी इतनी शक्ति प्राप्त हुई कि मैं जैसा चाहता किसी को दे सकता और जो मेरी दृष्टि में श्रेष्ठ होता उसे प्राप्त कर सकता। लेकिन फिर भी अल्लाह ने मुझे जो कुछ दिया है उसके लिए उसका शुक्र अदा करता हूं और उसने जो कुछ भी दिया है उसे अपने लिए काफी समझता हूं।

ग़ैर-यहूदी यूनानियों का भी ईसाई धर्म के उदय के पहले बहुत कुछ ऐसा ही मत था जैसा हिन्दुओं का; उनके शिक्षित वर्गों के भी बहुत कुछ वैसे ही विचार थे जैसे कि हिन्दुओं के हैं; उनकी साधारण जनता भी हिन्दुओं की ही भांति मूर्ति-पूजा में विश्वास रखती थी···। लेकिन यूनानियों में दार्शनिक भी थे जिन्होंने अपने ही देश में रहकर सामान्य अंधविश्वास को प्रश्रय नहीं दिया बल्कि उनके लिए विज्ञान के तत्वों का आविष्कार किया और उनका समाधान प्रस्तुत किया···। सुकरात की उस स्थिति की कल्पना कीजिए जब उसने अपनी जाति के जनसमूह का विरोध किया था···और···सत्य के प्रति निष्ठा रखते हुए अपने प्राणों की आहुति दी थी।

हिन्दुओं में इस प्रकार के लोग नहीं थे जो विविध शास्त्रों में परिपूर्णता लाने में समर्थ और इच्छुक होते। यही कारण है कि आपको हिन्दुओं में अधिकतः यह देखने को मिलेगा कि तथाकथित वैज्ञानिक प्रमेय ऐसी ही अस्तव्यस्त अवस्था में पड़े हैं; न उनमें कोई तार्किक क्रम है और अंत तक पहुंचते-पहुंचते जनसमूह की हास्यास्पद धारणाओं के साथ गड्डमड्ड हो गये हैं···। उनके गणित और खगोल-शास्त्र से संबंधित साहित्य की तुलना जहां तक मुझे उनकी जानकारी है, ठीकरियों में मिले हुए सीप या गोबर से लिपटे हुए मोती या कंकरियों में पड़े हुए रत्न से की जा सकती है। उनकी दृष्टि में दोनों प्रकार की वस्तुएं समान हैं इसलिए कि वे स्वयं को शुद्ध वैज्ञानिक निगमन की पद्धतियों तक उठाने में असमर्थ हैं।

मैंने अपनी पुस्तक के अधिकांश स्थलों पर बिना टीका-टिप्पणी के केवल वर्णन भर कर दिया है, अलबत्ता जहां ऐसा करना विशेष रूप से आवश्यक हुआ टीका-टिप्पणी भी की है। मैंने आवश्यक संस्कृत नामों और पारिभाषिक शब्दों का केवल एक बार उल्लेख किया है और वह भी वहां जहां हमारी व्याख्या के संदर्भ में वह आवश्यक था। यदि शब्द 'मूल' है और जिसका अर्थ अरबी में दिया जा सकता है वहां मैंने अरबी का समानक ही प्रयुक्त किया है; और यदि संस्कृत का शब्द अधिक व्यावहारिक लगा है तो हमने उसे वैसा ही रख लिया है और उसका यथासंभव शुद्ध लिप्यंतरण करने का प्रयास किया है। यदि शब्द गौण या व्युत्पन्न है, लेकिन उसका सामान्यतः प्रयोग होता है तो हमने उसे भी वैसा ही

रख लिया है चाहे उसका अरबी रूप मौजूद हो। लेकिन उसका प्रयोग करने से पहले हमने उसका अर्थ भी स्पष्ट कर दिया है। इस प्रकार हमने शब्दावली के अर्थबोध में सुविधा प्रदान करने का प्रयास किया है।

अंत में हमारा यह विचार है कि हम अपनी चर्चा में हमेशा ज्यामितीय पद्धति का कड़ाई से अनुसरण नहीं कर सकते—हम जो कुछ पहले आ चुका है उसका हवाला तो दे देते हैं लेकिन जो कुछ आगे आने वाला है उसका निर्देश कभी नहीं करते। उदाहरण के लिए, हमें किसी अध्याय में कभी एक अज्ञात घटक का उल्लेख करना पड़ता है जिसकी व्याख्या पुस्तक के उत्तरवर्ती भाग में ही दी जा सकती है। अल्लाह मदद करे!

दूसरा अध्याय

हिन्दुओं का अल्लाह के बारे में विश्वास

अल्लाह का स्वरूप

प्रत्येक जाति में शिक्षित और अशिक्षित लोगों के धार्मिक विश्वास में अंतर होता है; क्योंकि शिक्षितजन अमूर्त विचारों की कल्पना करते हैं और सामान्य सिद्धांतों की व्याख्या करते हैं जबकि अशिक्षितजन उससे आगे नहीं जाते जो इंद्रियों द्वारा ग्राह्य होता है और गौण सिद्धांतों से ही संतुष्ट हो जाते हैं। उन्हें उनके विवरण से कोई रुचि नहीं होती और विशेप रूप से धर्म और विधि के प्रश्नों पर, जिनके संबंध में लोगों के मत और उनके हित अलग-अलग हैं। हिन्दुओं का अल्लाह के संबंध में यह विश्वास है कि वह शाश्वत है, अनादि है, अनंत है, स्वेच्छा से जो चाहे करता है, सर्वशक्तिमान है, सर्वज्ञ है, जीवंत है, जीवनदाता है, नियंता है, रक्षक है; वह जिसकी प्रभुसत्ता अनन्य है, वह सदृशता से परे है; न वह किसी वस्तु से मिलता-जुलता है और न कोई वस्तु उससे मिलती है। इस बात को समझाने के लिए हम उनके साहित्य से कुछ उदाहरण प्रस्तुत करेंगे ताकि पाठक यह न समझ बैठें कि हमारा विवरण मात्र जनश्रुति है।

['पातंजल', 'गीता,'—'भारत' नामक पुस्तक का वह भाग जिसमें अर्जुन तथा वासुदेव का संवाद है—और 'सांख्य' नामक ग्रंथ से उद्धरण पृ० 27-30 पर दिए गये हैं।

यही पद्धति अल-बिरूनी ने परवर्ती अध्यायों में भी अपनाई है। पहले तो उसने किसी विपय-विशेप पर भारतीय दार्शनिकों और वैज्ञानिकों के विचार प्रस्तुत किए हैं और बाद में भारतीय शास्त्रों और/या धर्मग्रंथों के संगत उद्धरण दिए हैं। यदा-कदा उसने यूनानी दार्शनिकों और सूफ़ियों के भी उसी प्रकार के विचारों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है।]

कर्म और कर्ता-विपयक विचार

हिन्दुओं में कर्म की परिभाषा के संबंध में आपस में मतभेद है। कुछ लोग जो ईश्वर को ही कर्म का स्रोत मानते हैं, उसे सार्वभौम हेतु मानते हैं क्योंकि कर्ताओं

का अस्तित्व उसी के कारण है तो वही उनके कर्म का कारण हुआ और फलस्वरूप यह उसी का कर्म है जो उनके माध्यम से उत्पन्न होता है। दूसरे लोग 'कर्म' को ईश्वर से निःसृत नहीं मानते बल्कि उसके अन्य स्रोत मानते हैं और उन्हें ऐसे विशिष्ट हेतु मानते हैं जो अंत में बाह्य प्रेक्षण के अनुसार संबंधित कर्म को जन्म देते हैं।

अल्लाह के स्वरूप के बारे में दार्शनिक और अभद्र धारणाएं

शिक्षितजनों का अल्लाह के संबंध में यही विश्वास है। वे उसे 'ईश्वर' अर्थात् आत्मनिर्भर कहते हैं। वह निःस्पृह है, कृपालु है और केवल देता है, लेता कुछ नहीं। वे ईश्वर के एकत्व को निरपेक्ष समझते हैं, पर साथ ही उनका यह विचार है कि ईश्वर से इतर जो कुछ एकत्व-सा लगता है वह वास्तव में एक ही वस्तु का अनेकत्व है। वे ईश्वर के अस्तित्व को ही यथार्थ अस्तित्व मानते हैं, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ जिसका अस्तित्व है वह उसी के कारण अस्तित्व में आया है। यह समझना तो असंभव नहीं है कि विद्यमान प्राणी 'नहीं' है और वह 'है', लेकिन यह समझना असंभव है कि वह 'नहीं' है और वे 'हैं'।

अतः यदि हम हिन्दुओं में शिक्षितजनों के विचारों से जनसाधारण के विचारों की ओर जाएं तो हमें पहले यह बताना होगा कि उनमें भारी विविधता है। उनमें से कुछ तो बहुत घृणास्पद हैं, किंतु इसी प्रकार की भूलें अन्य धर्मों में भी होती हैं। इतना ही नहीं, इस्लाम में भी हमें कुछ बातों का निश्चय ही तिरस्कार करना पड़ेगा जैसे मानवतारोपी सिद्धांत, जबरिया[8] संप्रदाय की शिक्षाएं, धार्मिक विषयों पर चर्चा करने संबंधी निषेध और ऐसी ही अन्य। धर्म-संबंधी एक-एक वाक्य के जो आम लोगों के लिए निर्दिष्ट किया गया है, शब्द का चयन बहुत सावधानी से किया जाना चाहिए जैसा कि नीचे उदाहरण में बताया गया है। किसी हिन्दू विद्वान ने अल्लाह को एक बिंदु कहा है जिससे यह अभिप्राय है कि शरीर-संबंधी विशेषताएं उस पर चरितार्थ नहीं होतीं। अतः इसी बात को जब एक अशिक्षित व्यक्ति पढ़ता है तो वह यह समझ बैठता है कि ईश्वर बिंदु के समान सूक्ष्म है और वह यह जानने का प्रयत्न नहीं करता कि इस वाक्य में बिंदु शब्द का प्रयोग किस अभिप्राय से किया गया है। वह इस प्रकार की घृणित तुलना तक ही सीमित नहीं रहता बल्कि अल्लाह को कहीं बड़ा बनाकर प्रस्तुत करता है और कहता है "वह बारह अंगुल लंबा और दस अंगुल चौड़ा है।" सुब्हान अल्लाह! वह तो मात्रा और संख्या से कहीं ऊपर है। इसके अलावा यदि कोई अशिक्षित व्यक्ति वह सब सुनता है जिसका हमने ज़िक्र किया है कि ईश्वर समस्त ब्रह्मांड में इस प्रकार व्याप्त है कि उससे कोई बात छिपी नहीं है तो वह तत्काल यह कल्पना कर लेगा कि यह व्याप्ति दृष्टि के माध्यम से संभव हुई है; और दृष्टि केवल नेत्र

से संभव है और नेत्र यदि एक के बजाय दो हों तो बेहतर है और परिणामतः वह ईश्वर को सहस्त्र नेत्रों वाला मान लेगा। क्योंकि उससे उसकी सर्वज्ञता प्रकट होती है।

इसी प्रकार की वीभत्स कपोल-कल्पनाएं हिन्दुओं में और विशेषतः उन जातियों में दिखाई देती हैं जिनके लिए शास्त्रों का अध्ययन करना निषिद्ध है और जिनके बारे में हम आगे चलकर बताएंगे।

तीसरा अध्याय

"बोधगम्य" तथा "अनुभवगम्य" दोनों प्रकार के पदार्थों के संबंध में हिन्दुओं के विश्वास

आदि कारण से संबंध में यूनानियों और सूफी दार्शनिकों के विचार

उस युग में जब दर्शन का अधिक विकास नहीं हुआ था, इस विषय पर प्राचीन यूनानियों का लगभग वही मत था जो हिन्दुओं का था। यूनानियों में दर्शन को उन तथाकथित सात 'बुद्धिस्तंभों' के तत्वाधान में महत्ता प्राप्त हुई जिनके नाम इस प्रकार हैं: एथेंस का सोलन, प्रिएन का ब्यस, कोरिंथ का पेरिआंडर, मिलेतस का सालिस, लेसिडेमोन का किलोन, लेस्बोस का पिटेकस और लिंडोस का क्लियो ब्यूलस और उनके परवर्ती दार्शनिक। उनमें से कुछ का विचार था कि सभी पदार्थ एक हैं और यह एक पदार्थ कुछ लोगों के मतानुसार 'टु लेंथानिएन' है जबकि अन्य लोगों का कहना है कि यह 'हि ड्यूनामिस' है; उदाहरण के लिए, पत्थर या अचेतन संसार की तुलना में मनुष्य का यही एकमात्र परमाधिकार है और वह उनकी तुलना में आदि कारण के कुछ अधिक निकट है। यदि यह न होता तो उसकी स्थिति उनकी अपेक्षा कुछ अधिक अच्छी न होती।

कुछ अन्य लोगों का विचार है कि वास्तविक अस्तित्व केवल आदि कारण का है क्योंकि केवल वही स्वावलंबी है अर्थात् किसी का मुखापेक्षी नहीं है जबकि अन्य प्रत्येक वस्तु उसकी मुखापेक्षी हैं। कोई भी वस्तु जो अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा करती है उसका जीवन स्वप्निल होता है यथार्थ नहीं और वह यथार्थ केवल वही 'एक' है और आदि जीव (आदि कारण) है।

'सूफी' शब्द की व्युत्पत्ति

यही सिद्धांत सूफियों अर्थात् मनीषियों का भी है क्योंकि 'सूफ' का अर्थ यूनानी भाषा में प्रज्ञा (सोफिया) है। यही कारण है कि यूनानी भाषा में फिलॉसॉफर (दार्शनिक) को पीलासोपा (फिलॉसॉफ्स) अर्थात् प्रज्ञा भी कहा जाता है। जब इस्लाम में लोगों ने इन्हीं दार्शनिकों के सिद्धांतों से मिलते-जुलते सिद्धांत

अपनाए तो उन्होंने नाम भी उन्हीं का अपना लिया। लेकिन कुछ लोगों की समझ में इस शब्द का अर्थ नहीं आया और उन्होंने ग़लती से इसे अरबी के शब्द 'सफ़ा' के साथ इसे जोड़ दिया, मानो सूफ़ी (यूनानी फिलॉसॉफाई) और तथाकथित 'अहल-उस्सुफ्फा' जो मुहम्मद के साथियों में थे एक ही हों। कालांतर में ग़लत वर्तनी के कारण यही शब्द विकृत हो गया और अंततोगत्वा इसे 'सूफ़' से व्युत्पन्न मान लिया गया (सूफ़ का शाब्दिक अर्थ है बकरियों का ऊन)। अबुलफ़तह अलबुस्ती[9] ने इस ग़लती से बचने का बड़ा प्रशंसनीय प्रयास किया और कहा, "प्राचीन काल से लोगों में 'सूफ़ी' शब्द के अर्थ के बारे में मतभेद रहा है और वे इसकी व्युत्पत्ति सूफ़ (अर्थात् ऊन) शब्द से मानते आ रहे हैं। जहां तक मेरा संबंध है मैं इस शब्द का अर्थ ऐसा नवयुवक समझता हूं जो साफ़ी अर्थात् पवित्र होता है। यही 'साफ़ी' सूफ़ी बन गया और इसी रूप में दार्शनिकों (यानी सूफ़ी) के वर्ग का नाम बन गया।"

उन्हीं यूनानियों का आगे यह भी विचार है कि वर्तमान संसार 'एक' ही है और आदि कारण इसमें विभिन्न आकारों में परिलक्षित होता है। आदि कारण की शक्ति विभिन्न परिस्थितियों में संसार के अंगों में निहित रहती है जिनके कारण सांसारिक पदार्थों में एक प्रकार का अंतर पैदा हो जाता है चाहे उनका मूलभूत एकत्व बना रहे।

उन्हीं में से कुछ अन्य लोगों का मत था कि जो भी अपने समस्त अस्तित्व के साथ आदि कारण की ओर उन्मुख होता है और उसी के यथासंभव तद्रूप होने का प्रयत्न करता है वह अंतर्वर्ती अवस्थाओं से गुज़रकर और सभी अनुबंधों और बाधाओं से मुक्त होकर 'उसके' साथ 'एकाकार' हो जाएगा। धर्मसिद्धांत की इसी समरूपता के कारण सूफ़ियों के भी ऐसे ही मत थे।

आत्माओं और प्रेतात्माओं के बारे में यूनानियों का विचार है कि शरीरों में प्रवेश करने से पहले उनका अपना स्वतंत्र अस्तित्व रहता है। वे कुछ विशेष संख्या और समूहों में रहती हैं जिनका एक-दूसरे के साथ विभिन्न प्रकार का संबंध होता है, वे एक-दूसरे को जानती भी हैं और नहीं भी जानतीं। वे शरीरों में निवास करने के दौरान स्वेच्छा से किए गये कर्मों द्वारा एक ऐसा भाग्य प्राप्त करती हैं जो उन्हें शरीरों से पृथक होने के बाद उन्हें मिलता है अर्थात् संसार पर विभिन्न प्रकार से नियंत्रण करने की क्षमता। इसलिए उन्होंने उन्हें देवताओं की संज्ञा दी, उनके नाम से मंदिर बनवाए और उन पर बलि चढ़ाई।

यूनानी सामान्यत: हर उस वस्तु में देवत्व का आरोप करते हैं जो भव्य और महान है और ऐसी ही रूढ़ि अनेक जातियों में प्रचलित है। यहां तक कि वे तो पर्वतों, समुद्रों आदि को भी देवता के नाम से पुकारते हैं। दूसरे, वे 'देवता' शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में आदि कारण देवदूतों तथा अपनी आत्माओं के लिए

भी करते हैं। एक तीसरी रूढ़ि के अनुसार प्लेटो ने देवताओं को 'सेकिनात' (मूसाई) कहा है। लेकिन इस विषय पर निर्वचनकर्ताओं द्वारा प्रयुक्त शब्द स्पष्ट नहीं है जिसका परिणाम यह होता है कि हम नाम तो जान पाते हैं किंतु उसका अर्थ नहीं समझ पाते।

ईश्वर के अरबी, इब्रानी और सीरियाई भाषाओं में नामों के अंतर

किंतु कुछ अभिव्यक्तियां ऐसी भी हैं जो किसी एक धर्म की धारणाओं के अनुसार आपत्तिजनक हैं जबकि दूसरे धर्म के मतानुसार स्वीकार्य हैं, जो एक भाषा में ग्राह्य हैं किंतु दूसरी भाषा उसे अस्वीकार करती है। इसी श्रेणी के अंतर्गत एक शब्द आता है 'अपॉथिओसिस' (देवत्वारोपण) जो मुसलमानों को सुनने में बुरा लगता है। यदि हम अरबी भाषा में 'देवता' शब्द के प्रयोग पर विचार करें तो हमें ज्ञात होगा कि सभी नाम जिनसे 'परम सत्य' अर्थात् अल्लाह को जाना जाता है, अल्लाह के अलावा अन्य प्राणियों के लिए किसी भी प्रकार से प्रयुक्त किए जा सकते हैं किंतु जहां तक अल्लाह शब्द का संबंध है वह केवल खुदा या ईश्वर के लिए ही प्रयुक्त किया जा सकता है और यही उसका 'सबसे बड़ा' नाम है।

यदि हम इस शब्द के इब्रानी और सीरियाई भाषाओं में प्रयोग पर ग़ौर करें जिनमें क़ुरान से पहले धार्मिक ग्रंथ प्रकट हुए थे, तो हमें यह ज्ञात होगा कि 'तौरैत' और बाद में आए पैगंबरों के ग्रंथ जिन्हें 'तौरैत' के समान ही महत्व दिया जाता है 'रब' शब्द अरबी के 'अल्लाह' का समानार्थी है, किंतु संबंधकारक रचना में यह शब्द ईश्वर के अतिरिक्त किसी के लिए इस्तेमाल नहीं किया जा सकता और आप मकान का रब या जायदाद का रब (जो अरबी में स्वीकार्य है) नहीं कह सकते।

ईश्वर शब्द से आगे चलकर हम 'पिता' और 'पुत्र' पर आते हैं और इस संबंध में यह बताना आवश्यक है कि इस्लाम इन शब्दों के प्रयोग में उदार नहीं है, क्योंकि अरबी में 'इब्न' का अर्थ हमेशा ही 'पुत्र' होता है और वालिदैन (माता-पिता) तथा 'विलादत' (संतान) से संबंधित कोई ऐसा शब्द नहीं बनता जिससे 'रबूबियत' (ईश्वरत्व) का अर्थ लगाया जा सके। लेकिन दूसरी भाषाएं इस दृष्टि से कहीं अधिक स्वतंत्र हैं, क्योंकि यदि लोग किसी व्यक्ति को 'अब' (पिता) कह कर संबोधित करते हैं तो वह प्रायः ऐसा ही है जैसे वे उसे 'सैयद' (श्रीमन्) कह कर संबोधित कर रहे हैं। जैसा कि सभी जानते हैं, इस प्रकार के मुहावरे ईसाइयों में इतने आम हो गये हैं कि कोई भी व्यक्ति जो लोगों को संबोधित करते समय 'अब' (पिता) और 'इब्न' (पुत्र) शब्दों का सदा प्रयोग नहीं करता उसे वे शायद ही अपनों में समझें। 'पुत्र' शब्द से उनका अभिप्राय विशेष रूप से यीशु होता है, लेकिन वे इसका प्रयोग यीशु के अलावा दूसरों के लिए भी करते हैं।

[अल-बिरूनी ने मानविकीवादियों के मानवतारोपी विचारों का भी उल्लेख किया है और उसके बाद उसने हिन्दुओं में प्रचलित धार्मिक विचारों की चर्चा की है, पृ० 39।]

शिक्षित हिन्दुओं की धारणाएं : सभी जीवधारी एकात्म हैं

शिक्षित हिन्दू इस प्रकार के मानवतारोपों से घृणा करते है किंतु उनमें भी जन-साधारण और अलग-अलग संप्रदाय इनका व्यापक रूप में प्रयोग करते हैं। वे तो उन सबसे जिनका हमने उल्लेख किया है, आगे बढ़ जाते हैं और ईश्वर का पत्नी, पुत्र, पुत्री, गर्भाधान और समस्त शारीरिक क्रियाओं से संबंध जोड़ते है। वे इतने कम धर्मनिष्ठ हैं कि इन बातों की चर्चा करते समय मूर्खता और अशोभन भाषा का प्रयोग करने में भी संकोच नहीं करते। लेकिन इसके बावजूद कोई इन वर्गों और उनके सिद्धांतों पर ध्यान नही देता चाहे वे संख्या में कितने ही अधिक क्यो न हो। हिन्दू चिंतन धारा का मुख्य और सबसे बुनियादी मुद्दा वह है जो ब्राह्मण समझते है और जिस पर विश्वास करते हैं क्योकि उन्हें अपने धर्म की सुरक्षा और उसे बनाए रखने के लिए विशेष रूप से प्रशिक्षित किया जाता है। यही वह मुद्दा है जिसकी हम व्याख्या करेंगे अर्थात् ब्राह्मणों का विश्वास।

पुरुष

I. वे हिन्दू जो अस्पष्ट संकेतों की अपेक्षा स्पष्ट और शुद्ध परिभाषाओ को तरजीह देते हैं आत्मा को 'पुरुष' कहते है क्योंकि वर्तमान संसार में वही एक जीवंत तत्वहै। जीवन ही एकमात्र ऐसा गुण है जिसका वे आत्मा मे सन्निवेश करते है। उनका विचार है कि आत्मा में ज्ञान और अज्ञान बारी-बारी से आता-जाता रहता है। उसमें प्रत्यक्षतः अज्ञान होने पर भी ज्ञान की संभावना विद्यमान रहती है और वह अज्ञान की अवस्था में ज्ञान अर्जित करने के लिए प्रयत्नशील रहती है। पुरुष की अनभिज्ञता कर्म के अस्तित्व का कारण है और उसकी अभिज्ञता कर्म के अंत का कारण।

अव्यक्त

II. इसके बाद आता है सामान्य पदार्थ अर्थात् सूक्ष्म तत्व जिसे वे अव्यक्त अर्थात् निराकार कहते है। यह जड है किंतु इसमें तीन शक्तियां जो सत्व, रजस् और तमस् कहलाती हैं वास्तव में तो नहीं किंतु संभवतः विद्यमान रहती हैं। मैंने सुना है कि बुद्धोदन[10] (एवमेव) ने अपने अनुयायी श्रमणों को संबोधित करते समय इन्हें बुद्ध, धर्म और संघ कहा था मानो वे 'बुद्धि', 'धर्म' और 'अज्ञान' हों (एवमेव)। पहली शक्ति है सुख-चैन और शांति और इन्हीं से भावन और

विकमन होता है। दूसरी है उद्योग और श्रांति और इन्हीं से दृढ़ता और स्थायित्व आता है। तीसरी है उदासीनता और अनिश्चय, जिनका परिणाम होता है विध्वंस और विनाश। अत: पहली शक्ति का आरोपण देवताओं में, दूसरी का मनुष्यों में और तीसरी का पशुओं में किया जाता है। इन सब बातों में 'पूर्व', 'पश्च' और 'तत्पश्चात' का उल्लेख समय के संबंध में साधारण धारणाएं बताने के उद्देश्य से नहीं किया जाता, बल्कि एक सामान्य क्रम बताने और भाषा के इन्हें व्यक्त करने में असमर्थ होने के कारण किया गया है।

व्यक्त और प्रकृति

III. 'ड्यूनोमिस' से निकलकर विभिन्न आकारों में और 'तीन मूल शक्तियों के साथ' 'प्राक्सिस' तक जाने वाले पदार्थ को व्यक्त अर्थात् साकार कहा जाता है और निराकार तत्व और साकार पदार्थ प्रकृति कहलाता है।

लेकिन इस शब्द का हमारे लिए कोई अर्थ नहीं है; हम किसी निराकार पदार्थ की चर्चा करना नहीं चाहते, हमारे लिए पदार्थ शब्द ही पर्याय है क्योंकि एक का दूसरे के बिना अस्तित्व ही संभव नहीं है।

अहंकार

IV. इसके आगे आता है स्वभाव जिसे वे 'अहंकार' कहते हैं। इस शब्द की व्युत्पत्ति 'अभिभूत करने', 'विकास करने' और 'स्वाग्रह करने' संबंधी विचारों से हुई है क्योंकि पदार्थ जब आकार ग्रहण कर वस्तुओं को नये रूपों में विकसित करता है और यह विकास 'बाह्य' या विजातीय तत्वों के परिवर्तन करने और विकसित होने वाले तत्व में उसका स्वांगीकरण है। अत: यह ऐसा है मानो 'स्वभाव' 'दूसरे' या विजातीय तत्वों को परिवर्तन की इस प्रक्रिया में अभिभूत कर रहा हो और जो कुछ परिवर्तित हो गया है उसे वशीभूत करने का प्रयत्न कर रहा हो।

महाभूत

V-IX. स्वाभाविक रूप से प्रत्येक यौगिक के लिए परिशुद्ध तत्वों का होना आवश्यक है जिनके मिश्रण से वह बना है और जिनमें वह फिर से विघटित हो जाता है। संसार में जिनका सार्वभौम अस्तित्व है वे पांच तत्व हैं जो हिन्दुओं के विश्वास के अनुसार आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी हैं। इन्हें 'महाभूत' कहा जाता है जिसका अर्थ है 'महान अहंकारों से युक्त'। वे अन्य लोगों की भांति यह मानते नहीं कि अग्नि आकाश के अधोभाग के निकट एक ऊष्ण-शुष्क पिंड का नाम है। वे अग्नि को पृथ्वी की वह साधारण आग समझते हैं जो धुएं के उत्तेजन से पैदा होती है।

पंच मातृ

X-XIV. चुंकि ये तत्व यौगिक हैं इसलिए इनके निर्माण के लिए शुद्ध तत्व जो 'पंचमातृ' अर्थात् पांच माताएं कहलाते हैं आवश्यक हैं। वे इन्हें इंद्रियों के कार्य कहते हैं। आकाश का शुद्ध तत्व है 'शब्द' अर्थात् वह जो सुना जाता है; वायु का स्पर्श है अर्थात् वह जो छूआ जाता है; अग्नि का 'रूप' है अर्थात् वह जिसे देखा जाता है; जल का 'रस' है अर्थात् वह जिसका आस्वादन किया जाता है; और पृथ्वी का 'गंध' है अर्थात् वह जिसे सूंघा जाता है। इन महाभूत तत्वों में (जैसे पृथ्वी, जल आदि) प्रत्येक के साथ पहले तो वे 'पंच मातृ' तत्वों में से 'एक' को जोड़ते हैं जैसा कि हमने यहां वताया है और वाद में उन सवके साथ जो पहले उल्लिखित महाभूत तत्वों के साथ जोड़ देते हैं। इस प्रकार पृथ्वी में तो ये पांचों गुण शामिल हैं लेकिन जल में सूंघन का गुण नहीं है (अर्थात् उसमें चार गुण ही हैं); अग्नि में घ्राण और आस्वाद के गुण नहीं होते (अर्थात् तीन गुण होते हैं); वायु में घ्राण, आस्वाद और दृष्टि नहीं होते (अर्थात् दो गुण होते हैं); आकाश में घ्राण, आस्वाद, दृष्टि और स्पर्श नहीं होते (अर्थात् एक ही गुण होता है)।

···इन सभी तत्वों का फल जिन्हें हमने गिनाया है अर्थात् उन सवका यौगिक यश होता है। हिन्दू पौधों को पशु की प्रजाति में ही मानते हैं जैसा कि प्लेटो का भी विचार था कि पौधों में भी वोध होता है क्योंकि उनमें यह भेद करने की क्षमता होती है कि उनके लिए क्या अनुकूल है और क्या प्रतिकूल। पशु ऐसा प्राणी है जो पाषाण से भिन्न होता है क्योंकि उसके पास इंद्रियां होती हैं।

इंद्रियां

XV-XIX. शक्तियां पांच होती हैं जिन्हें इंद्रियां कहते हैं। सुनने के लिए कान, देखने के लिए आंख, सूंघने के लिए नाक, चखने के लिए जीभ और छूने के लिए त्वचा।

मनस्

XX. इसके वाद आती है इच्छा शक्ति जो इंद्रियों को उनके विभिन्न व्यापारों की ओर प्रवृत्त करती है और जिसका निवास हृदय में होता है। इसलिए वे उसे 'मनस्' कहते हैं।

कर्मेंद्रियां

XXI-XXV. पाशव वृत्ति को पांच आवश्यक कर्म परिपूर्ण वनाते हैं जिन्हें वे 'कर्मेंद्रियों' की संज्ञा देते हैं जिनका अर्थ है कर्मों की इंद्रियां। पहले गिनाई गयी इंद्रियां विद्या और ज्ञान प्रदान करती हैं और वाद की कर्म और उद्योग। हम उन्हें

'आवश्यकताएं' कहेंगे। वे हैं :

1. मनुष्य की विभिन्न आवश्यकताओं और इच्छाओं में से किसी एक के लिए शब्द उत्पन्न करना, 2. अपनी ओर खींचने या ढकेलने के लिए हाथों को बलपूर्वक फैलाना, 3. किसी वस्तु को प्राप्त करने या उससे बचने
चलना, 4-5. दो रंध्रों के माध्यम से पाषाण के अतिरिक्त
निकालना जो इसी प्रयोजन के लिए बनाए गये हैं।

पच्चीस तत्वों का सारांश

इन तत्वों की कुल संख्या पच्चीस है, यथा :

1. सामान्य आत्मा
2. सूक्ष्म तत्व
3. साकार पदार्थ
4. अभिभूत करने का स्वभाव

5-9. परिशुद्ध माताएं
10-14. मूलभूत तत्व
15-19. ज्ञानेंद्रियां
20. प्रेरक इच्छा (मनस्)
21-25. कर्मेंद्रियां

इन सब पदार्थों का समग्र रूप तत्व कहलाता है और समस्त ज्ञान उन्हीं तक सीमित होता है।

चौथा अध्याय

कर्म का कारण और आत्मा का प्रकृति के साथ संबंध

आत्मा जो शरीर के साथ एकाकार होने की इच्छुक है मध्यवर्ती प्रेतात्माओं द्वारा ही एक होती है

यदि शरीर जीवित नहीं है और उसका आत्मा के साथ, जो स्पृह है, निकट का संबंध नहीं है तो किसी भी जीवधारी के शरीर में स्वैच्छिक क्रियाएं जन्म नहीं ले सकतीं। हिन्दुओं का मत है कि आत्मा, जो अपनी ही मूलभूत प्रकृति और उसके भौतिक अव: स्तर से अनभिज्ञ है, जो नहीं जानती उसे समझने के लिए लालायित रहती है और उसका विश्वास है कि प्रकृति के बिना उसका कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। इसलिए चूंकि वह शिव की आकांक्षा करती है जो कि स्थायित्व है और जो कुछ उससे छिपा हुआ है वह सीखना चाहती है वह प्रकृति से एकाकार होने के लिए सक्रिय हो उठती है। किंतु ऐसे पदार्थ जो 'सघन' हैं और ऐसे जो 'विरल' हैं, यदि उनमें ये गुण अत्यधिक मात्रा में हों तो वे उन मध्यवर्ती तत्वो के द्वारा ही एक-दूसरे में मिल सकते हैं जिनका उनमें से प्रत्येक के साथ कुछ-न-कुछ संबंध है। अत: वायु, अग्नि और जल के बीच माध्यम है जो इन दो गुणों में एक-दूसरे के विपरीत हैं, क्योंकि वायु का अग्नि से संबंध उसकी विरलता का कारण है और जल के साथ सघनता के कारण और इन्हीं दोनों गुणों के द्वारा वह दोनों को एक-दूसरे में मिलने के योग्य बना देती है। इस प्रकार शरीर और अ-शरीर के बीच इससे बढ़कर कोई विपरीतता नहीं हो सकती। इसलिए आत्मा अपने स्वरूप के कारण अपनी इच्छा की पूर्ति केवल उन्हीं माध्यमों, प्रेतात्माओं के द्वारा कर सकती है जिनका अस्तित्व भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक नामक लोकों में पंचमातृ के ही कारण हैं। हिन्दू उसे सघन पिंडों से पृथक करने के लिए जिनका अस्तित्व सामान्य पांच भूतों से होता है, विरल पिंड की संज्ञा देते हैं। आत्मा माध्यमों से एकाकार होने के फलस्वरूप उन्हें अपने साधनों के रूप में प्रयुक्त करती है। इस प्रकार सूर्य का बिंब, यद्यपि वह केवल 'एक' है अनेक दर्पणों के द्वारा दर्शाया जाता है जो उसके सामने रखे जाते हैं और ऐसा ही पानी के बरतन

उसके सामने रखकर भी किया जाता है। सूर्य प्रत्येक दर्पण और प्रत्येक बरतन में एक-सा दिखाई देता है और उनमें से प्रत्येक में उसके तप्त करने और प्रकाशित करने का आभास होता है'''।

इस प्रकार आत्मा के क्रियाशील होने का यही सर्वोच्च कारण है।

प्रकृति जो आत्मा के साथ एकाकार होना चाहती है

दूसरी ओर निम्नतम कारण जो प्रकृति से उभरता है यह है :

वही प्रकृति परिपूर्णता के लिए प्रयत्न करती है और वह हमेशा कम अच्छे की तुलना में अधिक अच्छे को तरजीह देती है अर्थात् वह संभाव्य अवस्था (ड्यूनेमिस) से निकलकर साकार अवस्था (प्राक्सिस) की ओर उन्मुख रहती है। अपनी आत्मश्लाघा और महत्वाकांक्षा के फलस्वरूप जो उसके मूल तत्व हैं प्रकृति सभी प्रकार की संभावनाएं जो उसमें विद्यमान हैं अपनी आश्रिता आत्मा के पैदा करने के लिए करती है और उसे दिखलाती है, और उसे सभी प्रकार की वनस्पतियों और जीवधारियों तक ले जाती है।

सांख्य दार्शनिकों के अनुसार कर्म के कारण के रूप में प्रकृति

'सांख्य दर्शन' ग्रंथ के अनुसार कर्म का उद्गम प्रकृति है क्योंकि रूपों का अंतर जिनमें प्रकृति परिलक्षित होती है 'तीन प्रमुख शक्तियों' पर और इस बात पर निर्भर करता है कि क्या उनमें से एक या दो शेष शक्तियों पर प्रमुत्व स्थापित कर सकती है या नहीं। ये शक्तियां 'दिव्य', 'मानवीय' और 'पाशविक' हैं। इन तीनों शक्तियों का संबंध प्रकृति से है, आत्मा से नहीं। आत्मा का कर्म एक ऐसे दर्शक की भांति प्रकृति की क्रियाओं को सीखना या जानना है जो उस यात्री से मिलता-जुलता है जो विश्राम के लिए किसी गांव में रुक जाए। प्रत्येक ग्रामवासी अपने-अपने कार्य में व्यस्त हो लेकिन वह (यात्री) उनकी ओर देखे और उनके क्रिया-कलाप पर विचार करे—कुछ को वह नापसंद करे और कुछ को पसंद और उनमें से कुछ उदाहरण ले। इस प्रकार वह व्यस्त हो जबकि जो भी कार्य-व्यापार चल रहा है उसमें उसका अपना कोई साझा न हो और न ही वह उस कार्य का कारण हो।

लोगों का कहना है कि आत्मा वर्षा के पानी के समान है जो आकाश से गिरता है; जो हमेशा वही और एक ही प्रकार का होता है। लेकिन यदि उसे बरतनों में इकट्ठा किया जाए जो इसी काम के लिए रखे गये हैं—विभिन्न सामग्री से बने जैसे सोना, चांदी, शीशा, मिट्टी, चिकनी मिट्टी या पत्थर के बरतन—तो उसमें रूप, रस और गंध में अंतर पड़ जाता है। इस प्रकार आत्मा किसी भी रूप में प्रकृति को प्रभावित नहीं करती सिवाय इसके कि वह प्रकृति को उसके निकट

संपर्क में होने के कारण जीवन प्रदान करती है। इसलिए जब प्रकृति क्रियाशील हो जाती है तो परिणाम भिन्न होता है जो 'तीन मूलभूत शक्तियों में से' एक के अनुकूल होता है जो दूसरी शक्तियों से प्रबल हो जाती है और पारस्परिक सहायता के सदृश्य होती है जो अन्य दो सुप्त शक्तियां उपर्युक्त एक शक्ति को प्रदान करती हैं। यह सहायता विभिन्न प्रकार से दी जा सकती है, जैसे ताज़ा तेल, सूखी बत्ती और धूमिल अग्नि प्रकाश उत्पन्न करने के लिए एक-दूसरे की सहायता करते हैं। आत्मा का प्रकृति में वही स्थान है जो किसी गाड़ी में कोचवान का होता है जिसकी परिचारिकाएं इंद्रियां होती हैं जो कोचवान की इच्छा के अनुसार गाड़ी को चलाती हैं। दूसरी ओर, आत्मा उस बुद्धि द्वारा नियंत्रित होती है जो ईश्वर ने उसे प्रदान की है। इस बुद्धि को वे इस रूप में पेश करते हैं जिसके द्वारा चीज़ों की वास्तविकता का बोध होता है, जो ईश्वर के ज्ञान और ऐसे कर्मों का मार्ग दर्शाता है जिन्हें हरेक व्यक्ति पसंद करता है और उनकी प्रशंसा करता है।

पांचवां अध्याय

आत्माओं की दशा और पुनर्जन्म के द्वारा उनका संसार में आवागमन

जिस प्रकार "लाइलाहा इल्लल्लाह मुहम्मद उर-रसूल-उल-ल्लाह"* इस्लाम का धर्म-मंत्र है, 'त्रयी' ईसाई धर्म का प्रतीक और 'सैबथ' (विश्राम) संस्कार यहूदियों की विशेषता है, उसी प्रकार पुनर्जन्म हिन्दुओं का धर्म-मंत्र है। जिसका पुनर्जन्म में विश्वास नहीं, वह हिन्दू नहीं है और उसकी गणना हिन्दुओं में नहीं हो सकती। उनका इस संबंध में निम्न विश्वास है :

पुनर्जन्म का आरंभ, विकास और अंतिम परिणाम

आत्मा जब तक पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेती तब तक वह विश्व के सकल पदार्थों को सहज रूप में नहीं जान पाती। इसलिए उसे सभी योनियों और प्राणियों की खोज करनी चाहिए और अस्तित्व की समस्त संभावनाओं की परीक्षा करनी चाहिए और चूंकि उनकी संख्या अनंत नहीं फिर भी अत्यधिक है, इसलिए आत्मा को उन सबका ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक लंबा समय आवश्यक होता है ताकि वह उन बहुसंख्यक पदार्थों का अवलोकन कर सके। आत्मा विभिन्न प्राणियों और योनियों और उनके विशिष्ट कर्मों तथा स्थितियों का अवलोकन करके ही ज्ञान प्राप्त करती है। वह प्रत्येक पदार्थ से अनुभव प्राप्त करती है और इस प्रकार उसे नया ज्ञान मिलता रहता है।

लेकिन इन कर्मों में उतना ही भेद है जितना कि तीनों आदि तत्वों में। इसके अतिरिक्त जगत को भी दिशाहीन नहीं छोड़ा जाता बल्कि उसे लगाम देकर एक निश्चित लक्ष्य की ओर ले जाया जाता है। इसलिए अनश्वर आत्माएं अपने अच्छे और बुरे कर्मों के अनुसार नश्वर शरीरों में विचरण करती रहती हैं। यह कहने का उद्देश्य कि आत्मा स्वर्ग में जाती है यह होता है कि आत्मा को पुण्य कर्म की ओर

*कोई नहीं है अल्लाह के सिवाय और मुहम्मद उसके रसूल (पैग़ंबर) हैं।

प्रवृत्त किया जाए ताकि उसमें यथासंभव अधिकाधिक पुण्य कर्म करने की लालसा उत्पन्न हो। आत्मा के नरक लोक में जाने से अभिप्राय यह है कि उसका ध्यान दुष्कर्मों और निषिद्ध पदार्थों की ओर दिलाया जाए और वह उनसे दूर रहने का यथाशक्य प्रयत्न करे।

यह पुनर्जन्म की क्रिया निम्न अवस्था की योनियों से आरंभ होती है और पुनर्जन्म ऊपर से नीचे नहीं जैसा कि हम जान-बूझकर कहते हैं बल्कि नीचे से ऊपर, उच्चतर योनियो में होता रहता है। इसका कारण यह है कि यदि ऊपर से नीचे की ओर होता है तो नीचे से ऊपर की ओर होना भी तो संभव है। उच्चतर और निम्नतर अवस्थाएं कर्मों पर निर्भर होती हैं और यह भी स्वभावों की गुणात्मक तथा परिमाण-संबंधी विविधता और उनके विभिन्न अंशों में संयोग का परिणाम होता है जिसमें वे स्वभाव प्रकट होते हैं।

पुनर्जन्म की यह क्रिया तब तक जारी रहती है जब तक आत्मा और पदार्थ के लिए निर्धारित लक्ष्य पूरी तरह सिद्ध न हो जाए; इसमें निम्न लक्ष्य तो पदार्थ के रूप का लोप है, जिसमें केवल एक अपवाद यह है कि वह कोई ऐसा नया रूप धारण कर ले जो वांछनीय प्रतीत हो। उच्च लक्ष्य यह है कि आत्मा की वह सब कुछ जानने की इच्छा की समाप्ति जो वह अपने स्वतंत्र अस्तित्व की उदात्तता के बोध से पहले नहीं जानती थी। वह यह समझती थी कि वह पदार्थ के निकृष्ट स्वभाव और उसके आकारों की अस्थिरता और उस सबसे जो पदार्थ इंद्रियों को प्रदान करता है और उससे प्राप्त होने वाले आनंद की कथाओं के सत्य से परिचित होने के बाद उसका त्याग कर सकती है। ऐसा होने पर आत्मा पदार्थ से विमुख हो जाती है; उन दोनों को मिलाने वाली कड़ियां टूट जाती हैं और उनकी अभिन्नता खंडित हो जाती है। अलगाव और विघटन हो जाता है और आत्मा अपने केन्द्र को लौट जाती है और अपने साथ ज्ञान का उतना ही आनंद ले जाती है जितनी कि तिल के कण और मंजरियां होती हैं और जो बाद में तेल से अलग नहीं होतीं। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय सब मिलकर एकाकार हो जाते हैं।

अब उनके (हिन्दुओं के) साहित्य से इस विषय और अन्य जातियों के सजातीय सिद्धांतों के संबंध में कुछ स्पष्ट साक्ष्य प्रस्तुत करना हमारा कर्तव्य हो जाता है।

[इसके बाद 'गीता' और हिन्दुओं के अन्य धर्म-ग्रंथों के उद्धरण दिए गये हैं। यूनानियों के मिलते-जुलते विचारों की ओर भी ध्यान दिलाया गया है और सुकरात के 'फ़ाइडो' नामक ग्रंथ का उद्धरण दिया गया है, पृ० 52-57]

सूफ़ी सिद्धांत

…यही सिद्धांत उन सूफ़ियों ने भी प्रतिपादित किया है जो यह शिक्षा देते हैं कि यह संसार तो आत्मा की सुप्तावस्था है जबकि परलोक आत्मा की जाग्रतावस्था है और जो साथ ही यह भी स्वीकार करते हैं कि ईश्वर कुछ विशिष्ट स्थानों में विद्यमान है—उदाहरण के लिए स्वर्ग—आसन तथा खुदा के तख्त में (जिसका कुरान में उल्लेख है)। लेकिन कुछ दूसरे ऐसे भी हैं जिनकी यह मान्यता है कि ईश्वर समस्त संसार में—पशुओं में, वृक्षों में तथा अचेतन संसार में—सर्वत्र व्याप्त है और उसकी इसी व्याप्ति को वे विश्वव्यापी की संज्ञा देते हैं। जिन लोगों का यह मत है, उनकी दृष्टि में आत्मा के विभिन्न योनियों में पुनर्जन्म की संकल्पना कोई गौरव की बात नहीं।

छठा अध्याय

विभिन्न लोक तथा स्वर्ग और नरक में प्रतिफल के स्थान

तीन लोक

हिन्दू संसार को लोक कहते हैं। इसका प्रमुख विभाजन है: ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक। ऊर्ध्व को 'स्वर्गलोक' अर्थात् स्वर्ग कहा जाता है; अधो को 'नाग-लोक' अर्थात् सर्पों का संसार जो नरक है; इसे वे 'नर-लोक' भी कहते हैं और कभी-कभी इसे 'पाताल' अर्थात् निम्नतम संसार भी कहते हैं। बीच का लोक जिसमें हम रहते हैं 'मध्यलोक' और मनुष्य-लोक अर्थात् मनुष्यों का संसार कहलाता है। मनुष्य-लोक में मानव को कर्म करना होता है, ऊर्ध्वलोक में उसे प्रतिफल या पुण्य मिलता है और अधोलोक में वह दंड पाता है। ऐसा मनुष्य जो स्वर्गलोक या नागलोक में प्रवेश का पात्र होता है, कुछ समय तक किए गये अपने कर्मों का पूरा फल प्राप्त करता है जो उसके कर्मो की अवधि के अनुरूप होता है। लेकिन उन दोनों लोकों में उसकी केवल आत्मा रहती है जो शरीर से मुक्त होती है।

जो लोग स्वर्ग में जाने के पात्र नहीं हैं बल्कि इतने गिरते जाते हैं कि उन्हें नरक में ही स्थान दिया जा सकता है, उनके लिए एक और लोक भी है जिसे 'तिर्यग्-लोक' कहते हैं, जो वनस्पति और पशुओं का अविवेकी लोक है जिसके प्राणियों में से होकर आत्मा तब तक पुनर्जन्म के बंधन में रहती है जब तक कि मानव-योनि में नहीं पहुंच जाती; इस प्रकार वह वनस्पति जगत जैसे निम्नतम प्रकार के लोक से शनै:-शनै: ऊपर उठकर संवेदी जगत के उच्चतम वर्गों तक नहीं पहुंच जाती। आत्मा का इस लोक में निवास निम्नलिखित कारणों से होता है: या तो आत्मा को दिया जाने वाला प्रतिफल उसे स्वर्ग तक ले जाने या उसे नरक में ढकेलने के लिए पर्याप्त नहीं है या आत्मा नरक से वापस आते हुए इधर-उधर भटक रही होती है क्योंकि उनका विश्वास है कि आत्मा स्वर्ग से मनुष्य-लोक की ओर आते समय तत्काल मानव-शरीर धारण कर लेती है जबकि उस आत्मा को नरक से

स्वर्ग-लोक की ओर लौटने से पहले वनस्पतियों और पशुओं में विचरण करना पड़ता है और जब वह मानव-योनि में प्रवेश की पात्र हो जाती है तभी स्वर्ग में जा सकती है।

'विष्णु-पुराण' से उद्धरण

हिन्दुओं ने अपनी स्मृतियों में अनेक नरकों, उनकी विशेषताओं और उनके नामों का उल्लेख किया है और उनके यहां हरेक प्रकार के पाप के लिए विशेष नरक नियत है। 'विष्णु-पुराण' के अनुसार नरकों की संख्या 88000 है।

[अल-बिरूनी ने लोगों द्वारा किए जाने वाले विभिन्न पापों और उनके लिए निर्धारित नरकों के संबंध में इस पुस्तक से उद्धरण प्रस्तुत किए हैं। उन व्यक्तियों में "वह हैं जो झूठी गवाही देता है···निर्दोष लोगों का खून बहाता है···गोहत्या करता है···(और)···ब्राह्मण जो अपनी बहन या पुत्र की पत्नी के साथ जार कर्म करता है···वेद और पुराणों का तिरस्कार करता है···माता-पिता के अधिकारों का सम्मान नहीं करता"···तलवार और छुरियां बनाता है, मुरगे, बिल्लियां और सूअर पालता है, वृक्ष काटकर गिराता है और···सबसे बढ़कर···रूढ़ि-रिवाजों की उपेक्षा करता है और नियमों का उल्लंघन करता है। अल-बिरूनी ने कहा है कि उसने इन्हें इसलिए गिनवाया है कि "यह बताया जा सके कि हिन्दू किस प्रकार के कर्मों से पाप मानकर घृणा करते हैं।" पृ० 60-61)]

कुछ हिन्दुओं का मत है कि वनस्पतियों और पशुओं की योनि में पुनर्जन्म ही नरक कहलाता है

कुछ हिन्दुओं का मत है कि मध्यलोक जो पुण्यार्जनके लिए है, वास्तव में मानव-लोक ही है और मनुष्य इसमें इसलिए भटकता है क्योंकि उसे ऐसा पुरस्कार मिला है जो उसे स्वर्ग में तो नहीं पहुंचाता लेकिन साथ ही उसे नरक से जरूर बचा लेता है। उनके विचार में स्वर्ग एक उच्चतर अवस्था है जहां मनुष्य परमानंद की स्थिति में रहता है और वह स्थिति उसके किए हुए पुण्यों के कारण एक निश्चित समय के लिए होती है। इसके विपरीत वे आत्मा का वनस्पतियों और पशुओं की योनि में भटकना निम्नतर अवस्था मानते हैं, जहां मनुष्य एक नियत समय तक दंड-स्वरूप रहता है और वह समय उसके द्वारा किए गये दुष्कर्मों के अनुरूप माना जाता है। जिन लोगों का यह मत है, वे किसी अन्य नरक को नहीं मानते बल्कि मानव-योनि से निम्नतर इसी विकृति को नरक समझते हैं।

पुनर्जन्म के नैतिक सिद्धांत

प्रतिफल की ये सारी अवस्थाएं इसलिए जरूरी हैं क्योंकि भौतिक बंधनों से

मुक्ति पाने की इच्छा सदा सीधी रेखा पर नहीं चलती जो परम ज्ञान की ओर ले जाती है, बल्कि उसका मार्ग अनुमान पर आश्रित होता है या वह इसलिए अपनाया जाता है क्योंकि दूसरों ने भी उसी को चुना था। मनुष्य का कोई एक कर्म भी बेकार नही जाता, यहां तक कि उसके सबसे अंतिम कर्म की भी गणना उस समय होती है जब उसके पुण्य और पापों की तुलना होती है। लेकिन प्रतिफल उसके कर्मों के अनुसार नहीं मिलता, बल्कि वह उस मनुष्य के उस कर्म को करते समय उसकी नीयत के अनुसार मिलता है और मनुष्य को उसके कर्मों का फल या तो उसे उसी योनि में मिल जाएगा जिसमें वह पृथ्वी पर रहता है या उस योनि में जिसमें उसकी आत्मा पुनर्जन्म लेगी या एक प्रकार की मध्यवर्ती अवस्था में जब वह अपना आकार त्याग चुका है और नयी योनि में प्रवेश नहीं कर पाया है।

पुनर्जन्म के सिद्धांत की 'सांख्य' द्वारा आलोचना

यहां आकर हिन्दू दार्शनिक अटकलबाजी का मार्ग त्याग कर उन दोनों स्थानों के बारे में जहां पुरस्कार या दंड दिया जाता है पौराणिक कथाओं की ओर उन्मुख हो जाते हैं। उदाहरण के लिए उनका विचार है कि मनुष्य इन स्थानों में अमूर्त प्राणी की तरह रहता है और अपने कर्मों का फल प्राप्त करने के बाद वह फिर मूर्त रूप और मानव-योनि धारण कर लेता है ताकि अपनी भावी नियति के लिए तैयार हो सके। इसलिए 'सांख्य' नामक ग्रंथ का लेखक स्वर्ग की प्राप्ति के रूप में मिले पुरस्कार को कोई विशेष लाभ नहीं मानता, क्योंकि वह शाश्वत नहीं है बल्कि उसकी भी एक सीमा है। दूसरा कारण वह यह मानता है कि इस प्रकार का जीवन हमारे इसी संसार के जीवन से बहुत मिलता-जुलता है क्योंकि वह इच्छा और द्वेष से परे नहीं है और उसमें भी जीवन की कई श्रेणियां और वर्ग हैं जहां केवल उन स्थितियों को छोड़कर जहां संपूर्ण समता आ चुकी है अर्थ-लिप्सा और स्पृहा का अंत नहीं होता।

सूफी मत में समानांतर मत

सूफी भी स्वर्ग में निवास को कोई विशेष लाभ नहीं मानते लेकिन उनका इस संबंध में एक भिन्न कारण है। वे कहते हैं कि वहां पहुंचकर आत्मा सत्य अर्थात् ईश्वर से इतर वस्तुओं का आनंद उठाती है और उसके विचार कुछ वस्तुओं के कारण परम शिव से हटकर उन वस्तुओं की ओर भटक जाते हैं जो परम शिव नहीं है।

लोक मत के अनुसार आत्मा का शरीर-त्याग

हम पहले ही कह चुके हैं कि हिन्दुओं के विश्वास के अनुसार आत्मा इन दोनों

स्थानों में अशारीरिक रूप में रहती है। लेकिन यह मत उन शिक्षित हिन्दुओं का है जो आत्मा को एक स्वतंत्र सत्ता के रूप में मानते हैं किंतु निचले वर्ग के लोगों तथा उन लोगों के इस विषय पर सर्वथा भिन्न मत हैं जो आत्मा की बिना शरीर के कल्पना ही नहीं कर सकते। उनमें एक यह है कि मृत्यु की यंत्रणा का कारण है आत्मा का उस देह को ग्रहण करने की प्रतीक्षा जो कि इसके लिए तैयार की जाती है। जब तक कि समान गुण-धर्म संपन्न एक सजातीय प्राणी की उत्पत्ति न हो—अर्थात् उनमें से एक जो प्रकृति या तो मां के गर्भ में भ्रूण के रूप में या धरती के वक्षस्थल में बीज के रूप में तैयार करती है—आत्मा शरीर नहीं छोड़ती। इसके बाद आत्मा उस शरीर को त्याग देती है जिसमें वह निवास कर रही थी।

दूसरों का मत कुछ अधिक परंपरागत है। उनका कहना है कि आत्मा इस प्रकार की घटना की प्रतीक्षा नहीं करती, न ही यह बात है कि वह अपनी दुर्बलता के कारण शरीर का त्याग करती है और इसी बीच उन्हीं तत्वों से एक दूसरा शरीर निर्मित हो जाता है। इस शरीर को 'अतिवाहिका' अर्थात् सद्यः-स्फूर्त कहते हैं क्योंकि उसका आविर्भाव जन्म द्वारा नहीं होता। आत्मा उस शरीर में पूरे एक वर्ष तक छटपटाती रहती है चाहे वह स्वर्ग की भाजन हो या नरक की। यह ईरानियों के 'बर्ज़ख' से मिलती-जुलती संकल्पना है जो उनके मतानुसार कर्म करने और पुण्य अर्जन करने तथा फल-प्राप्ति के बीच की अवस्था है। इसी कारण से मृतक के उत्तराधिकारी को हिन्दू प्रथा के अनुसार वर्ष भर तक मृतक की आत्मा के लिए विभिन्न संस्कार और वे क्रिया-कर्म करने होते हैं जो वर्ष के अंत तक चलते हैं क्योंकि उसके बाद आत्मा उस स्थान में चली जाती है जो उसके लिए बनाया गया है।

[इन विचारों की व्याख्या के लिए 'विष्णु-पुराण' से पृ० 63-64 पर उद्धरण दिए गये हैं।]

पुनर्जन्म के संबंध में मुस्लिम लेखकों के विचार

एक ब्रह्मवेत्ता, जो पुनर्जन्म को मानता है, का कहना है: "पुनर्जन्म की चार श्रेणियां होती हैं:

1. " 'स्थानांतरण', अर्थात् मानव-जाति तक सीमित प्रजनन, क्योंकि यह एक व्यक्ति के अस्तित्व को दूसरे व्यक्ति में 'स्थानांतरित' करती है; और इसके विपरीत है—

2. " 'कायांतरण', जिसका संबंध विशेष रूप से मनुष्यों से है क्योंकि वे बदर, शूकर और हाथी के रूप में 'कायांतरित' होते हैं।

3. "वनस्पतियों की दशा के समान अस्तित्व की एक स्थिर दशा। यह

'स्थानांतरण' से भी वुरी है क्योंकि यह जीवन की एक स्थिर दशा है जो सर्वदा यथावत् वनी रहती है और इसकी आयु पर्वतों की तरह लंवी होती है।

4. " 'विसर्जन' संख्या 3 का विपरीत है जो उन वनस्पतियों पर जिन्हें उखाड़ दिया गया है और उन पशुओं पर जिनकी वलि दे दी गयी है लागू होता है क्योंकि वे अपनी वंश-परंपरा वढ़ाए विना ही नष्ट हो जाते हैं।"

सिजिस्तान के अवू याकूव ने अपनी पुस्तक 'कश्फ़-उल-महजूव' (रहस्यो-द्घाटन) में कहा है कि प्रजातियां या योनियां सुरक्षित रहती हैं और पुनर्जन्म का क्रम हमेशा एक ही प्रकार की योनियों में होता है, न वह कभी अपनी सीमा का अतिक्रमण करता है और न ही दूसरी योनियों में जाता है।

प्राचीन यूनानियों का भी यही मत था···।

[सुकरात की पुस्तक 'फ़ाइडो' से उद्धरण दिए गये हैं; साथ ही जोहानेस ग्रैमेट्युअस द्वारा उद्धृत प्लेटो के मत भी पृ० 65-67 पर दिये गये हैं।]

सातवां अध्याय

भव-बाधा से मुक्ति का स्वरूप और वहां तक जाने का मार्ग

पहला भाग : सामान्य मोक्ष

यदि आत्मा संसार के बंधनों में बंदिनी बनी हुई है और उसके इस प्रकार बंदिनी बने रहने का कोई कारण है तो वह इस समान कारण के विपरीत किसी कारण के बिना इस बंधन से मुक्त नहीं हो सकती। वैसे हिन्दुओं का तो यह मत है, जिसकी हम पहले ही व्याख्या कर चुके हैं, कि इस बंधन का कारण 'अज्ञान' है और इसलिए वह केवल ज्ञान के द्वारा और सभी वस्तुओं को इस प्रकार समझकर कि उन्हें सामान्य और विशेष दोनों रूप में परिभाषित किया जा सके और किसी भी प्रकार के निगमन को अनावश्यक सिद्ध करके तथा सभी प्रकार की शंकाओं का समाधान करके ही मुक्ति प्राप्त कर सकती है। इसका कारण यह है कि आत्मा जो परिभाषाओं के माध्यम से वस्तुओं के बीच भेद करके अपने-आपको पहचान करती है और साथ ही यह भी जान लेती है कि जिस प्रकार अमरत्व प्राप्त करना उसका परम सौभाग्य है उसी प्रकार पदार्थ का यह परम दुर्भाग्य है कि वह परिवर्तनशील रहता है और सभी प्रकार की योनियां धारण करके भी नश्वर ही रहता है। इसके बाद वह पदार्थ का परित्याग कर देती है और यह देख लेती है कि जिसे उसने अच्छा और आनंददायक समझकर अपनाया था वह वास्तव में बुरा और कष्टकर है। इस प्रकार वह वास्तविक ज्ञान प्राप्त करती है और पदार्थ के साथ जुड़ने से इंकार कर देती है। इस प्रकार कर्म का अंत हो जाता है और आत्मा और पदार्थ दोनों एक-दूसरे से अलग होकर मुक्त हो जाते हैं।

सूफ़ियों के समान विचार

प्रबुद्ध प्राणी और उसके बुद्धि की अवस्था तक पहुंचने के संबंध में सूफ़ियों के भी यही विचार हैं क्योंकि उनका कहना है कि उसकी दो आत्माएं होती हैं—एक शाश्वत जिसमें कोई परिवर्तन या रूपांतर नहीं होता, जिसके माध्यम से वह

लोकोत्तर जगत को जो कि छिपा हुआ है जान लेता है और आश्चर्यजनक कार्य कर सकता है, और दूसरी है मानवीय आत्मा जिसमें परिवर्तन होते रहते हैं और जो बार-बार जन्म लेती रहती है।

हिन्दुओं के मतानुसार ज्ञानेंद्रियां ज्ञान-प्राप्ति के लिए बनाई गयी हैं और उनसे जो सुख प्राप्त होता है उसकी सृष्टि लोगों को शोध तथा अन्वेषण के लिए प्रेरित करने के उद्देश्य से की गयी है। उदाहरण के लिए, खाने और पीने से आस्वादन का जो सुख मिलता है उसको इसलिए बनाया गया है कि मनुष्य भोजन के द्वारा अपने शरीर को स्वस्थ बना सके। इसी प्रकार मैथुन-सुख है जो नये प्राणियों को जन्म देकर अपनी प्रजाति को सुरक्षित रखने का काम करता है। यदि इन दोनों क्रियाओं में कोई विशेष सुख न होता तो मनुष्य और पशु इन्हें इन प्रयोजनों के लिए न अपनाते।

इसके अलावा हिन्दुओं का विचार है कि मनुष्य तीन प्रकार से प्रबुद्ध बनता है :

1. प्रेरित होकर, और यह प्रेरणा किसी नियत समय में नहीं मिलती बल्कि जन्म के साथ ही और शैशव काल में ही मिल जाती है, जैसे कपिल मुनि जन्म से ही प्रबुद्ध और ज्ञानी थे।

2. एक समय विशेष के बाद प्रेरणा प्राप्त करके जैसे ब्रह्म-पुत्र क्योंकि उनको वयस्क होने के बाद प्रेरणा प्राप्त हुई।

3. सीख कर, और कुछ समय बाद उसी प्रकार जैसे सभी 'मनुष्य तब कुछ सीख पाते हैं जब उनमें मानसिक प्रौढ़ता आ जाती है।

काम, क्रोध और अज्ञान मोक्ष-प्राप्ति में प्रमुख बाधाएं हैं

ज्ञान के द्वारा मुक्ति तभी प्राप्त की जा सकती है जब पाप से बचा जाए। पाप की अनेक शाखाएं हैं लेकिन हम उन्हें काम, क्रोध और अज्ञान—इन तीन श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। यदि जड़ काट दी जाए तो शाखाएं अपने-आप गिर जाएंगी। यहां हम पहले काम और क्रोध की शक्तियों की चर्चा करेंगे जो मनुष्य की सबसे बड़ी और सबसे अधिक घातक शत्रु हैं क्योंकि वे उसे खान-पान के सुख और प्रतिशोध के आनंद का लोभ देकर बहकाती हैं, जबकि वास्तविकता यह है कि वे उसे सुख के बजाय कष्ट भोगने और अपराध करने की ओर प्रवृत्त करती हैं। वे मनुष्य को वन्य पशु और ढोर ही नहीं बनातीं बल्कि उसे राक्षस बना देती हैं।

अब हमें यह विचार करना है कि मनुष्य को काम और क्रोध की शक्तियों की तुलना में अपने मस्तिष्क की विवेचन-शक्ति पर ही निर्भर करना चाहिए, क्योंकि उसी का अनुसरण करके वह देवताओं के समान बन जाता है। अंतिम बात जिस बात पर हमें ध्यान देना है यह है कि मनुष्य को सांसारिक कार्यों से

पराङ्मुख हो जाना चाहिए। वह इन कार्यों से तब तक नहीं बच सकता जब तक कि वह उनके कारणों से पिंड न छुड़ा ले, जो हैं वासना और इच्छा। इस प्रकार तीन मूल शक्तियों में से दूसरी समाप्त हो जाएगी। लेकिन कर्म का परिहार दो भिन्न प्रकार से होता है :

1. तीसरी शक्ति के अनुसार आलस्य, स्थगन और अज्ञान के द्वारा। लेकिन यह पद्धति वांछनीय नहीं है क्योंकि उसका परिणाम निंदनीय होता है।

2. समझबूझ के साथ चयन के द्वारा तथा यह भेद करके कि अच्छों में भी बेहतर कौन-सा है जिसका निष्कर्ष प्रशंसनीय हो।

कर्मों से बचने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि मनुष्य हर उस वस्तु का त्याग कर दे जो उसे बांधती हो और वह स्वयं को उससे विरक्त कर ले। ऐसा करके वह अपनी इंद्रियों को बाह्य पदार्थों से इस हद तक बचाने में समर्थ हो जाएगा कि उसे यह आभास ही न होगा कि उससे इतर भी कोई वस्तु है और वह सभी प्रकार की क्रियाओं को यहां तक कि श्वसन को रोकने में भी समर्थ हो जाएगा। यह स्पष्ट है कि लोभी मनुष्य अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उद्यम करता है और जो उद्यम करता है वह थक जाता है और थका हुआ मनुष्य हांफने लगता है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि हांफना लोभी होने का नतीजा होता है। यदि लोभ का यह तत्व हटा दिया जाए तो मनुष्य का श्वसन उस प्राणी का-सा हो जाएगा जो समुद्र के तल में निवास करता है जिसे श्वास की आवश्यकता नहीं होती। ऐसा करने के बाद उसका मन केवल एक ही वस्तु में रमता रहता है और वह है मुक्ति की खोज और 'परम' एकात्मता की तलाश।

···हमने जो कुछ बताया है उससे यह जरूरी हो जाता है कि चिंतन की क्रिया निरंतर जारी रहनी चाहिए और उसके लिए कोई संख्या निश्चित नहीं की जा सकती क्योंकि संख्या का अर्थ होता है बारंबार और बारंबारता की यह शर्त होती है कि उसमें अंतराल होना चाहिए और तब चिंतन लगातार न होकर दो नियत समयों के बीच ही हो पाएगा। इससे उसकी निरंतरता भंग हो जाएगी और वह चिंतन को उसके लक्ष्य से एकात्म होने में बाधा डालेगी। किंतु यह तो लक्ष्य है नहीं, बल्कि इसके विपरीत लक्ष्य है 'चिंतन की निरंतरता'।

यह लक्ष्य या तो 'एक ही योनि' में अर्थात् पुनर्जन्म की एक ही अवस्था में या 'अनेक योनियों' में इस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है कि मनुष्य निरंतर सदाचरण करता रहे और अपनी आत्मा को उसका अभ्यस्त बना ले ताकि उसका यह सदाचरण उसके स्वभाव का एक अंग और एक विशेष गुण बन जाए।

हिन्दू धर्म के नौ नियम

सदाचरण वह होता है जिसकी धार्मिक विधि में व्याख्या की गयी है। इसकी

जो प्रमुख विधियाँ हैं जिनसे अनेक गौण विधियां भी वन गयी हैं निम्नलिखित नी हैं :

1. मनुष्य किसी की हत्या न करे।
2. झूठ न वोले।
3. चोरी न करे।
4. वेश्यागमन न करे।
5. धन संचय न करे।
6. वह निरंतर पवित्रता और शुद्ध-हृदयता रखे।
7. उसे विहित व्रत रखना होगा जिसमें कोई व्यवधान नहीं होना चाहिए और उसे न्यूनतम वस्त्र धारण करने चाहिए।
8. वह ईश्वर की आराधना में स्थिरचित्त रहे और व्रत रखते समय मन में ईश्वर के प्रति स्तुति तथा कृतज्ञता के भाव रखे।
9. उसके मन में सदा ओम् शब्द अनुच्चरित रूप में विद्यमान रहे जोकि सृष्टि का शब्द है।

पशु-हत्या के संबंध में जो वर्जना का आदेश है (क्र० सं० 1) वह वस्तुतः 'किसी भी दुःखदायी कृत्य से वचने के लिए' दिए गये सामान्य आदेश का ही एक विशेष अंग मात्र है। इसी शीर्ष के अधीन (क्र० सं० 3) किसी दूसरे मनुष्य की संपत्ति की चोरी आती है और मिथ्या भाषण (क्र० सं० 2) आ जाता है और ऐसे कृत्य की वुराई और अधमता तो इसमें शामिल ही है।

धन-संचय से वचने (क्र० सं० 5) का अर्थ है कि वह परिश्रम का त्याग करे ताकि जिसे ईश्वर की वदान्यता अभीष्ट है, आश्वस्त रहे कि वह उसे अवश्य प्राप्त होगी। इसका यह भी अभिप्राय है कि भौतिक जीवन की अधम दासता से अपना जीवन प्रारंभ करके चिंतन की उदात्त स्वतंत्रता से गुज़रते हुए हम परमानंद प्राप्त कर सकते हैं।

शुचिता के व्यवहार (क्र० सं० 6) का अर्थ है कि मनुष्य को अपने शरीर की गंदगी का वोध होता है और उसे यह आभास होता है कि उसे उस गंदगी से घृणा करनी चाहिए और आत्मा की शुद्धता से प्रेम करना चाहिए। न्यूनतम वस्त्र धारण करके शरीर को कष्ट देने का अभिप्राय (क्र० सं० 7) यह है कि मनुष्य अपने शरीर को स्थूल न होने दे, उसकी उत्तेजनाओं को शांत करें और अपनी इंद्रियों को तेज करे'''।

दूसरा भाग : मोक्ष-प्राप्ति का व्यावहारिक मार्ग

पतंजलि, विष्णु-धर्म और गीता के अनुसार

— पातंजलि की पुस्तक में हमने पढ़ा है, "हम मुक्ति के मार्ग को तीन भागा

में विभक्त करते हैं :

"1. क्रिया योग : इंद्रियों को धीरे-धीरे इसकी अभ्यस्त बनाने की प्रक्रिया है कि वे बाह्य-जगत से स्वयं को तटस्थ कर लें और अंतर्जगत की ओर उन्मुख हो जाएं ताकि वे स्वयं को एकाग्र भाव से ईश्वर के ध्यान में लगा सकें। यह सामान्यत: उस मनुष्य का मार्ग है जिसे जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुओं के अतिरिक्त किसी वस्तु की इच्छा नहीं होती।"

[विष्णु धर्म[12] और गीता से संगत उद्धरण पृ० 77-79 पर दिए गये हैं।]

गीता के अनुसार आत्म-त्याग मुक्ति-मार्ग का दूसरा भाग है

"II. मुक्ति-मार्ग का दूसरा भाग आत्म-त्याग है जिसका आधार उस बुराई का बोध है जो सृष्टि की परिवर्तनशील वस्तुओं और उनकी नश्वरता में विद्यमान है। अंततोगत्वा मन उनसे विरक्त हो जाता है, उनकी चाह समाप्त हो जाती है और मनुष्य उन तीन मूल शक्तियों से ऊपर उठ जाता है जो कर्मों की और उनकी विविधता के कारण हैं। इसलिए वह जो संसार के कार्य-व्यापार को ठीक ढंग से समझ लेता है यह जानता है कि उनमें जो अच्छे लगते हैं वे वास्तव में बुरे होते हैं और वे जिस प्रकार सुख प्रदान करते हैं वही सुख फल-प्राप्ति के समय दु:ख में परिणत हो जाता है। अत: वह हर उस वस्तु से बचता है जो उसे सांसारिक मोह-माया में लिप्त कर देगी और जिसके कारण उसे अधिक समय तक भव-बाधाएं झेलनी पड़ेंगी।

गीता के अनुसार मुक्ति-मार्ग का तीसरा भाग उपासना है

"III. मुक्ति-मार्ग का तीसरा भाग जिस पर उससे पहले के दोनों भागों के साधन के रूप में विचार किया जा रहा है उपासना है जो इस उद्देश्य से की जाती है कि ईश्वर मनुष्य को मुक्ति प्राप्त करने में सहायता दे और उसे पुनर्जन्म में ऐसी योनि प्रदान करने की कृपा करे जिसमें वह स्वयं को स्वर्ग-सुख का पात्र बना सके।

गीता के रचयिता ने उपासना के कर्म को शरीर, वाणी और मन में विभाजित किया है।

शरीर का कार्य है व्रत रखना, प्रार्थना करना, विधि-निर्वाह करना, देवताओं और ब्राह्मणों में ऋषि-मुनियों की सेवा करना, शरीर को स्वच्छ रखना, किसी भी परिस्थिति में हत्या से दूर रहना और कभी दूसरे मनुष्य की पत्नी और दूसरे की संपत्ति की ओर दृष्टि न डालना।

वाणी का काम है धर्मग्रंथों का पाठ करना, ईश्वर की स्तुति करना, सदा सत्य बोलना, लोगों से विनम्रता का व्यवहार करना, उन्हें मार्ग दिखाना और

उन्हें सत्कर्मों का उपदेश देना।

मन का काम है निश्छलता और ईमानदारी के विचार रखना, अहंकार न करना, सदा संतोष से काम लेना, अपनी इंद्रियों को वश में रखना और प्रफुल्लमन रहना।

मोक्ष का स्वरूप

...हिन्दुओं के मतानुसार मुक्ति परमात्मा से मिलन का ही नाम है; क्योंकि उन्होंने ईश्वर का एक ऐसी सत्ता के रूप में वर्णन किया है जिसे न किसी प्रतिफल की चाह है और न ही किसी के विरोध का भय है, वह बुद्धि के लिए अगम्य है क्योंकि वह इतना उदात्त है कि उसकी तुलना न तो किसी ऐसी शक्ति से की जा सकती है जो घृणित या वीभत्स हो और न ऐसी से जो सहानुभूतिपूर्ण हो। और यही वर्णन हिन्दू उस व्यक्ति का करते हैं जिसे मोक्ष प्राप्त हो चुका है क्योंकि आदि के अतिरिक्त और सभी बातों में वह ईश्वर के समान है इसलिए कि उसका अस्तित्व अनादिकाल से नहीं रहा है और दूसरा अपवाद यह कि मोक्ष से पहले वह बाधायुक्त संसार में रहा था और ज्ञेय पदार्थों को केवल मायाजाल के रूप में जानता था और यह ज्ञान उसने घोर परिश्रम करके प्राप्त किया था जबकि उसके ज्ञान का पदार्थ अभी तक मानो परदे से ढंका हुआ है। इसके विपरीत मुक्ति के जगत में सारे परदे उठा दिए जाते हैं, सारे आवरण हटा दिए जाते हैं और सभी प्रकार की बाधाएं दूर कर दी जाती है। वहां प्राणी हर प्रकार से प्रवुद्ध हो जाता है, उसे किसी अज्ञात विषय को जानने की इच्छा नहीं रहती क्योंकि इंद्रियों के दूषित ज्ञान से अलग होकर वह शाश्वत विचारों से जुड़ जाता है।

पतंजलि के उद्धरण

इसलिए 'पातंजल' पुस्तक के अंत में जब शिष्य मोक्ष के स्वरूप के संबंध में प्रश्न करता है तो गुरु उत्तर देता है : "यदि तुम चाहो तो कह सकते हो कि मोक्ष तीन शक्तियों के कर्मों का अंत होता है और ये उस निवास-स्थल को लौट जाती हैं जहां से आई थीं। या यदि चाहो तो यह भी कह सकते हो कि यह आत्मा के प्रवुद्ध प्राणी के रूप में अपने ही स्वभाव में वापसी का नाम है।"

सूफियों के समानांतर मत

...इसी प्रकार के मत सूफियों में भी मिलते हैं। किसी सूफी लेखक ने निम्न कथा वर्णित की है : "सूफियों की एक मंडली हमारे पास आई और आकर हमसे कुछ दूरी पर बैठ गई। फिर उनमें से एक उठा और बोला : 'उस्ताद, क्या आपको यहां कोई ऐसी जगह मालूम है जहां हम मर सकें ?' मैं समझा, उसकी मुराद

'सोने' से है और मैंने उसे एक जगह बता दी। वह व्यक्ति वहां गया और पीठ के बल गिरकर निश्चल पड़ रहा। तब मैं उठा, उसके पास गया और उसे हिलाया तो क्या देखता हूं कि वह ठंडा हो चुका है।"

सूफी ने कुरान की एक आयत की व्याख्या की है, "हमने उसके लिए ज़मीन पर इस तरह जगह बनाई है" (सूरा 18,83) कि "अगर वह चाहे तो ज़मीन उसके लिए सिकुड़ जाती है, यदि वह चाहे तो पानी पर और हवा में चल सकता है जबकि वे दोनों उसके इस प्रकार चलने में काफी रुकावट पैदा करती हैं लेकिन जब वह पहाड़ों में से गुजरता है तो पहाड़ उसका कोई प्रतिरोध नहीं करते।"

वे जो सांख्य के अनुसार मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाते

अब हम उनकी चर्चा करेंगे जो कितना ही कठोर परिश्रम क्यों न कर लें, फिर भी मोक्ष की अवस्था तक नहीं पहुंच पाते। उनके कई वर्ग हैं :

[उन लोगों के बारे में जो मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाते 'सांख्य' से उद्धरण दिए गये हैं। एमोनियस, प्लेटो और प्रोक्युलस जैसे कतिपय यूनानी लेखकों के विचार भी पृ० 83-86 पर दिए गये हैं।]

पतंजलि का सिद्धांत 'सत्य' (यानी ईश्वर) से लौ लगाने के संबंध में सूफियों से मिलता-जुलता है क्योंकि उनका कहना है कि "जब तक तुम किसी वस्तु की ओर ध्यान केंद्रित करते रहो, तुम अद्वैतवादी नहीं हो सकते, किन्तु जब 'सत्य' संकेतित वस्तु पर अधिकार करके उसे नष्ट कर देता है तो न संकेतकर्ता शेष रहता है और न ही संकेतित वस्तु।"

उनकी चिंतन प्रणाली में (सूफी मत) में कुछ स्थल ऐसे हैं जो यह बताते हैं कि वे सर्वेश्वरवादी (ईश्वर) विलयन में विश्वास करते हैं; उदारण के लिए उनमें से एक से जब यह पूछा गया कि सत्य (ईश्वर) क्या है, तो उसका जवाब था : "भला मैं उस सत्ता को कैसे न जानूंगा जो तत्वतः 'मैं' (अहम्) है और अंतरिक्ष में 'मैं नहीं' (अहम्-नास्ति) है ? यदि मैं एक बार फिर लौटकर अस्तित्व में आ जाता हूं तो मैं उससे विलग हो जाता हूं; और यदि मेरी उपेक्षा की जाती है (अर्थात् मुझे पुनर्जन्म नहीं मिलना और मैं संसार में नहीं आता) तो वायवीय बन जाता हूं और 'विलयन' का (एवमेव) अभ्यस्त हो जाता हूं"···।

अबू-यज़ीद अलबिस्तामी से एक बार किसी ने पूछा कि आपने सूफी मत में इतना उच्च स्थान कैसे प्राप्त किया, तो उसने उत्तर दिया : "मैंने अपने अहं को उसी प्रकार त्याग दिया जैसे सांप अपनी केंचुली का त्याग करता है। फिर मैंने अपने अहं पर विचार किया और देखा कि मैं 'वह' अर्थात् ईश्वर हो गया हूं।···"

अल-विरूनी ने यह कहते हुए अध्याय समाप्त किया है कि सूफियों का यह कथन है : "मनुष्य और ईश्वर के वीच प्रकाश और अंधकार की हज़ारों अवस्थाएं हैं। मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह यत्नपूर्वक अंधकार से निकलकर प्रकाश में जाना चाहता है और एक वार जव वह प्रकाश-स्थलों तक पहुंच जाता है तो फिर उसकी वापसी नहीं होती।"

आठवां अध्याय

प्राणियों के विभिन्न वर्ग और उनके नाम

'सांख्य' के अनुसार प्राणियों के विभिन्न वर्ग

इस अध्याय के विषय का अध्ययन करना और उसे सही रूप में समझना बहुत कठिन है क्योंकि हम मुसलमान इसे बाहर से देखते हैं और हिन्दुओं ने इसे वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत भी नहीं किया है। लेकिन चूंकि हम इस विषय के विशद प्रतिपादन के लिए इसे जानना चाहते हैं, हम वह सब कुछ बताएंगे जो हमने प्रस्तुत पुस्तक के पूरे होने तक इसके बारे में सुना है। पहले तो हम 'सांख्य' पुस्तक का एक उद्धरण देते हैं :

"संन्यासी ने पूछा : 'जीवित प्राणियों के कितने वर्ग और प्रजातियां हैं ?'

"ऋषि ने उत्तर दिया : 'उनके तीन वर्ग हैं—अशरीरी गण ऊपर, मनुष्य मध्य में और पशु तल में। उनकी प्रजातियों की संख्या चौदह है जिनमें से आठ अशरीरी प्राणियों से संबद्ध हैं : ब्रह्मा, इंद्र, प्रजापति, सौम्य, गंधर्व, यक्ष, राक्षस और पिशाच। पांच प्रजातितां पशुओं की हैं : ढोर, वन्य जंतु, पक्षी, विसर्पीजीव और उगने वाले पदार्थ यानी वृक्ष। और अंत में एक प्रजाति मानव की है'।"

उसी पुस्तक के लेखक ने उसके अन्य भाग में जो सूची विभिन्न नामों से दी है वह इस प्रकार है : "ब्रह्मा, इंद्र, प्रजापति, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, पितृ, पिशाच।

हिन्दू ऐसे लोग हैं जो वस्तुओं का एक ही क्रम शायद ही कभी बनाए रखते हों और उनकी गणना अधिकांशतः मनमानी हैं। वे नामों के अंक बना लेते या उनका इस्तेमाल करते हैं और भला उन्हें कौन रोक सकता है ?

लेखक ने अशरीरी प्राणियों के आठ वर्ग गिनाए हैं

...अधिकांश हिन्दुओं के सर्वाधिक लोकप्रिय मत के अनुसार अशरीरी प्राणियों के निम्नांकित आठ वर्ग हैं :

1. देव : या फरिश्ते जिनका उत्तर में निवास है। वे विशेषतः हिन्दुओं ही के हैं। लोगों का कहना है कि जरतुश्त ने क्षमणों या बौद्धों को इसलिए अपना शत्रु

बना लिया था कि उसने असुरों को देवताओं की श्रेणी में रख दिया था जबकि उनकी दृष्टि में देवों का स्थान सबसे ऊंचा है। और, यह प्रयोग मागीय युग से लेकर हमारे युग की फारसी भाषा तक में होता चला आ रहा है।

2. दैत्य : दानव राक्षस हैं जो दक्षिण में रहते हैं। उनमें वे सभी आ जाते हैं जो हिन्दू धर्म के विरोधी हैं और गोहत्या करते हैं। उनमें और देवों में चाहे निकट का संबंध ही क्यों न रहा हो, परंतु हिन्दुओं का विचार है कि उनके परस्पर लड़ाई-झगड़ों का कोई अंत ही नहीं है।

3. गंधर्व : संगीतकार और गायक हैं जो देवताओं के लिए संगीत-रचना करते हैं। उनकी वेश्याएं अप्सरा कहलाती हैं।

4. यक्ष : देवों के कोषाध्यक्ष या संरक्षक हैं।

5. राक्षस : कुरूप और विकलांग असुर हैं।

6. किन्नर : इनकी आकृति तो मनुष्यों जैसी होती है लेकिन इनके सिर घोड़े जैसे होते हैं। ये यूनानियों के किन्नरों (सेंटोरों) से बिलकुल विपरीत होते हैं क्योंकि उनका अधोभाग घोड़े के आकार का होता है और उपरिभाग मनुष्य जैसा। किन्नरों की आकृति धनिष्ठता नक्षत्र का राशिचक्रीय संकेत है।

7. नाग : सर्प की आकृति के होते हैं।

8. विद्याधर : असुर-जादूगर जो एक प्रकार का जादू-टोना करते हैं लेकिन उनके जादू का कोई स्थायी फल नहीं होता।

इस सूची की आलोचना

यदि हम प्राणियों की इस शृंखला पर विचार करें तो देखते हैं कि ऊपर के सिरे पर तो दिव्य शक्ति है और निचले सिरे पर पैशाचिक और इन दोनों में एक-दूसरे का काफी सम्मिश्रण है। इन प्राणियों के गुण भिन्न हैं क्योंकि उन्होंने जीवन की यह अवस्था पुनर्जन्म के दौरान कर्म से प्राप्त की है और कर्म तीन मूल शक्तियों के कारण भिन्न-भिन्न होते हैं। वे बहुत अधिक समय तक जीवित रहते हैं क्योंकि वे शरीरों का त्याग कर चुके हैं, क्योंकि उन्हें कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता और वे ऐसे काम करने में समर्थ हैं जो मनुष्य के लिए असंभव हैं। वे मनुष्य की हर इच्छा की पूर्ति करते हैं और जब भी आवश्यकता हो वे उनके समीप ही रहते हैं।

लेकिन 'सांख्य' के उद्धरण के आधार पर हम यह जानते हैं कि यह मत सही नहीं है, क्योंकि ब्रह्मा, इंद्र और प्रजापति किसी प्रजाति विशेष के नाम नहीं हैं बल्कि व्यक्तियों के हैं। ब्रह्मा और प्रजापति का लगभग एक ही अर्थ है लेकिन किसी-न-किसी गुण के कारण उनके नाम भिन्न हो गये हैं। इंद्र सभी लोकों का शासक है। इसके साथ ही वासुदेव ने यक्षों और राक्षसों को असुरों के ही वर्ग में

साथ-साथ गिना दिया है जबकि पुराणों के अनुसार यक्ष एक देव योनि को और देवताओं के परिचरों को कहते हैं।

देवों के संबंध में

इस सबके बाद हम यह कह सकते हैं कि अशरीरी प्राणी जिनका हमने उल्लेख किया है एक श्रेणी में आते हैं जिन्होंने अपने अस्तित्व की वर्तमान अवस्था अपनी मानव योनि के दौरान किए गये कर्मों के द्वारा प्राप्त की है। वे अपने शरीर पीछे छोड़ आए हैं, क्योंकि शरीर में भार होता है जो शक्ति को क्षीण और जीवन-काल को छोटा कर देता है। उनके गुण और दशाएं उसी परिमाण में भिन्न हैं जिसमें 'तीन मूल शक्तियों' में किसी एक ने उन्हें प्रभावित किया है। पहली शक्ति देवों की है जो शांति और आनंद के साथ रहते हैं। उनकी सबसे प्रमुख मन:शक्ति है 'उपादान के बिना' किसी सूक्ष्म विचार को समझ लेना; ठीक उसी प्रकार से जैसे मनुष्य की प्रमुख मन:शक्ति यह है कि उसे विचार को समझने के लिए 'उपादान' की आवश्यकता होती है।

तीसरी शक्ति पिशाच और भूत में होती है जबकि दूसरी शक्ति उनके बीच के वर्गों में होती है।

हिन्दुओं की मान्यता है कि देवताओं की संख्या तेंतीस करोड़ है जिनमें से ग्यारह महादेव के हैं। इसलिए यह संख्या उनके उपनामों में से एक है और उनके नाम (महादेव) से भी यही इंगित होता है। अभी हमने देवताओं की जो कुल संख्या दी है वह 330,000,000 है।

इसके अलावा वे देवों कीही भांति खाते, पीते, संभोग करते, जीते और मरते हैं क्योंकि वे प्रकृति के अंदर रहते हैं, हालांकि उनका अस्तित्व अत्यंत सूक्ष्म और अत्यंत सरल है और उन्होंने यह योनि ज्ञान के द्वारा नहीं वरन् अपने कर्मों के द्वारा प्राप्त की है। 'पातंजल' में यह वर्णन आता है कि नंदिकेश्वर ने महादेव के नाम पर अनेक यज्ञ किए और उसी के फलस्वरूप उसे मानव-शरीर के साथ स्वर्ग में भेज दिया गया। और राजा इंद्र ने चूंकि नहुप नामक ब्राह्मण की पत्नी के साथ संभोग किया था, इसलिए उसे दंडस्वरूप सर्प की योनि में परिवर्तित कर दिया गया था।

पितर और ऋषि

देवों के बाद पितरों अर्थात् मृत पूर्वजों का वर्ग आता है और उनके बाद भूतों का, यानी उन मनुष्यों का जिन्होंने स्वयं को अशरीरी प्राणी (देव) से संबद्ध कर लिया है और वे देवों और मनुष्यों के बीच में स्थित हैं। जिसने यह अवस्था धारण की है किंतु जो शरीर से मुक्त नहीं है वह ऋषि, सिद्ध या मुनि कहलाता है और

इनमें भी अपनी-अपनी विशेपताओं के अनुरूप परस्पर भेद है। सिद्ध वह है जिसने अपने कर्मो के द्वारा ऐसी शक्ति प्राप्त कर ली है कि वह संसार में जो चाहे कर सकता है, लेकिन जिसकी इससे आगे कोई आकांक्षा नहीं है और जो मुक्ति-मार्ग पर जाने के लिए कोई प्रयास नही करता। वह ऊपर उठकर ऋपि वन सकता है। यदि एक ब्राह्मण इस अवस्था को प्राप्त करता है तो वह ब्रह्मर्पि कहलाता है, यदि क्षत्रिय प्राप्त करता है तो उसे राजपि कहा जाता है। निम्न वर्गो के लिए यह अवस्था प्राप्त करना संभव नहीं। ऋषि वे सिद्ध पुरुप होते हैं जो यद्यपि मनुष्य ही होते हैं किंतु अपने ज्ञान के वल पर देवताओं से श्रेष्ठ हो जाते हैं। इसलिए देवता भी उनसे शिक्षा लेते हैं और उनके ऊपर व्रह्मा के अलावा कोई नहीं होता।

ब्रह्मपि और राजपि के वाद उस जन-साधारण के वर्ग आते हैं जो हमारे बीच भी होते हैं जैसे वे जातियां जिनकी चर्चा हम एक अलग अध्याय में करेंगे।

ब्रह्मा, नारायण और रुद्र की त्रिमूर्ति विष्णु

वाद में गिनाए गये ये सभी प्राणी प्रकृति के अंतर्गत आते हैं। अव जहां तक इस धारणा का संवंध है जो कि प्रकृति से ऊपर है हम कह सकते हैं कि प्रकृति और दिव्य विचारों के वीच महातत्व होता है जिसका स्थान प्रकृति से ऊपर हैं और तीनों मूल शक्तियां महातत्व में रहती, और गतिशील रहती हैं। इस प्रकार महातत्व और जो कुछ उसके अंतर्गत आता है ऊपर और नीचे के वीच का सेतु है।

जो भी जीवन आदि कारण के एकांतिक प्रभाव में आकर महातत्व में विचरण करता है उसे ब्रह्मा, प्रजापति कहते हैं और उसके अन्य कई नाम और भी हैं जो हिन्दुओं के धर्म-सिद्धांत और स्मृति में दिए गये हैं। जहां तक उसकी क्रियाशीलता का प्रश्न है यह जीवन प्रकृति से मिलता-जुलता है क्योंकि समस्त सृष्टि, संसार की सृष्टि भी हिन्दुओं के अनुसार ब्रह्मा द्वारा ही की गयी है।

जो भी जीवन महातत्व में दूसरी शक्ति से प्रभावित होकर विचरण करता है उसे हिन्दुओं की लोककथाओं में नारायण कहा गया है जिससे अभिप्राय वह प्रकृति है जिसने अपनी क्रियाशीलता समाप्त कर दी है और वह जो कुछ उत्पन्न हो चुका है उसी की सुरक्षा के लिए प्रयत्नशील है। अतः नारायण संसार को स्थायित्व प्रदान करता है।

जो भी जीवन महातत्व में तीसरी शक्ति से प्रभावित होकर घूमता है उसे महादेव और शंकर कहते हैं लेकिन उसका सवसे अधिक प्रसिद्ध नाम रुद्र है। उसका कार्य विनाश और विध्वंस है जैसे प्रकृति अपने कार्य-व्यापार की अंतिम अवस्थाओं में जव उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है विनाश को प्राप्त हो जाती है।

इन तीन सत्ताओं के अलग-अलग नाम हैं जो विभिन्न अवस्थाओं में ऊपर और नीचे जाने पर दिए गये हैं और उसी के अनुसार उनके कर्म भी भिन्न हो जाते हैं।

किंतु इन सत्ताओं से पहले एक और स्रोत है जहां से प्रत्येक वस्तु का उद्‌गम हुआ है और इस एकत्व में वे तीनों चीज़ों को शामिल करते हैं और उनमें कोई अंतर नहीं करते। इसी एकत्व को उन्होंने विष्णु की संज्ञा दी है; यह ऐसी संज्ञा है जो मध्य शक्ति को अधिक उचित ढंग से प्रकट करती है; लेकिन कभी-कभी तो वे इस मध्य शक्ति और आदिकारण के बीच कोई भेद नहीं करते (अर्थात् वे नारायण को ही आदिकारण मान लेते हैं)।

यहां हिन्दुओं और ईसाइयों में एक समानता मिलती है क्योंकि ईसाई तीन व्यक्तियों में भेद करते हैं और उन्हें अलग-अलग नाम देते हैं—पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा—लेकिन वे उन्हें एक ही तत्व मानते हैं।

हिन्दू धर्म के सिद्धांतों की सूक्ष्म परीक्षा करने पर ये ही परिणाम हमारे सामने आते हैं। जहां तक उनकी लोककथाओं का संबंध है वे हास्यास्पद धारणाओं से भरी हुई हैं। हम उनकी चर्चा आगे करेंगे। आपको यह जानकर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि हिन्दुओं ने देवताओं—जिन्हें हमने फ़रिश्ते कहा है—के संबंध में रचित कथाओं में हर प्रकार की बातों का आरोपण किया है जो स्वयं में असंगत तो हैं ही लेकिन उनमें से कुछ ऐसी हैं जो आपत्तिजनक नहीं, किंतु कुछ निश्चित रूप से आपत्तिजनक हैं। इन दोनों प्रकार की बातों को, ज़ाहिर है कि, इस्लाम के धर्मवेत्ता फ़रिश्तों की गरिमा और प्रकृति के विपरीत मानेंगे।

यूनानी समानांतर मत; ज्यूस के संबंध में कथाएं

यदि आप इन लोककथाओं की यूनानियों के अपने धर्म से संबंधित लोककथाओं से तुलना करें तो आपको हिन्दुओं की व्यवस्था विचित्र प्रतीत नहीं होगी···।

[ज्यूस की कथाओं का उल्लेख किया गया है। अल-बिरूनी ने कहा है, जो कि ऊपर दिया जा चुका है, कि यूनानी कथाओं की तुलना में हिन्दुओं की कथाएं कुछ कम विचित्र थीं। पृ० 95-98।]

नवां अध्याय

जातियां जिन्हें वर्ण कहते हैं और उनसे निम्नतर वर्ग

सिंहासन और बलिवेदी

यदि राजनीतिक अथवा सामाजिक जीवन में किसी ऐसे मानव द्वारा एक नयी व्यवस्था स्थापित की जाए, जो स्वभाव से ही महत्वाकांक्षी है और जो अपने चरित्र और क्षमता के बल पर वास्तव में शासक बनने का पात्र है, ऐसा मनुष्य जिसके विश्वास अटूट हैं और जो संकल्प में दृढ़ है, जिसका विपत्ति के समय भाग्य साथ देता है यानी लोग उसके उपर्युक्त गुणों को जानते हुए उसका साथ देते हैं तो ऐसी व्यवस्था के उन लोगों में सुदृढ़ होने की पूरी संभावना है जिनके लिए वह स्थापित की गयी थी और वह उतनी ही सुदृढ़ रहेगी जितने कि पर्वत होते हैं। वह व्यवस्था उनमें और सभी पीढ़ियों में एक सर्वमान्य नियम के रूप में युग-युगांतर तक शेष रहेगी। और यदि राज्य अथवा समाज के इस नये रूप की बुनियाद कुछ हद तक धर्म पर रखी गयी हो और इन दोनों—राज्य तथा धर्म—में पूर्ण सामंजस्य रहे और उन दोनों के संयोग से मानव समाज का सर्वांगीण विकास होता रहे तो मनुष्य को और कोई इच्छा नहीं होगी।

प्राचीन काल के राजा बड़े अध्यवसाय के साथ अपने कर्तव्यों के निर्वाह में लगे रहते थे और अपना अधिकांश ध्यान अपनी प्रजा के विभिन्न वर्गों और व्यवस्थाओं में विभाजन पर केंद्रित करते थे और इस बात का प्रयास करते थे कि वे आपस में न मिल पाएं और उनमें अव्यवस्था पैदा न हो। इसलिए उन्होंने विभिन्न वर्गों के लोगों का एक-दूसरे से संसर्ग निषिद्ध कर दिया और प्रत्येक वर्ग के लिए एक विशेष प्रकार का कार्य या कला और कौशल निर्धारित कर दिया। उन्होंने किसी को अपने वर्ग की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करने दिया बल्कि जिन लोगों ने अपने वर्ग के प्रति असंतोष व्यक्त किया तो उन्हें दंडित भी किया।

प्राचीन ईरानियों की जातियां

यह सब प्राचीन खुसरवों(ईरान के सम्राट)के इतिहास से भली प्रकार स्पष्ट

हो जाता है क्योंकि उन्होंने इस प्रकार की बड़ी-बड़ी प्रथाएं बनाई थी जिन्हें कोई भी व्यक्ति अपनी विशेष योग्यता के कारण अथवा उत्कोचादि देकर तोड़ नहीं सकता था। जब आर्देशीर बिन बाबक ने फ़ारसी साम्राज्य पर पुनः अधिकार स्थापित किया तो उसने जनता के वर्गों और जातियों को भी निम्न प्रकार से पुनः व्यवस्थित किया :

प्रथम वर्ग में सामंत और राजा आते थे।

द्वितीय वर्ग में मठवासी, अग्निपूजक पुरोहित और धर्मशास्त्रवेत्ता थे।

तृतीय वर्ग में वैद्य, ज्योतिषी और अन्य वैज्ञानिक थे।

चतुर्थ वर्ग में खेतिहर और शिल्पी थे।

और इन वर्गों के भी एक-दूसरे से पृथक प्रविभाजन थे जैसे जातियों की भी उपजातियां होती हैं। इस प्रकार की प्रथाएं एक प्रकार के वंशवृक्ष की भांति होती हैं जिसका तभी तक महत्व रहता है जब तक कि उनका मूल याद रहता है; लेकिन एक बार उनका मूल भुला दिया गया तो वे मानो समस्त राष्ट्र की संपत्ति बन जाती हैं और कोई उनके उद्गम पर संदेह नहीं करता। और इस प्रकार का विस्मरण एक दीर्घकाल—कई शताब्दियों और पीढ़ियों—का परिणाम होता है।

हिन्दुओं में इस प्रकार की प्रथाएं बहुत अधिक हैं। लेकिन जहां तक हम मुसलमानों का संबंध है हमारी स्थिति बिलकुल विपरीत है क्योंकि हम धर्म-परायणता को छोड़कर सभी मनुष्यों को बराबर का दर्जा देते हैं, और यही वह सबसे बड़ी बाधा है जो हिन्दू और मुसलमानों में निकटता, संबंध या मेल-मिलाप नहीं होने देती…।

चार जातियां हैं

हिन्दू अपनी जातियों को 'वर्ण' कहते हैं और वंशावली की दृष्टि से वे उन्हें जातक अर्थात् जन्म कहते हैं। ये जातियां आरंभ से ही केवल चार हैं :

I. इनमें सर्वश्रेष्ठ जाति ब्राह्मणों की है जिनके संबंध में हिन्दू शास्त्रों में कहा गया है कि उनकी सृष्टि ब्रह्मा के सिर से हुई थी। और चूंकि ब्रह्मा प्रकृति नामक शक्ति का ही दूसरा नाम है और सिर पशु के शरीर का सबसे ऊंचा भाग होता है इसलिए ब्राह्मणों को समस्त वंश का श्रेष्ठ अंग माना जाता है। यही कारण है कि हिन्दू ब्राह्मणों को मनुष्य जाति में सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।

II. अगली जाति क्षत्रियों की है जिनके बारे में उनका कहना है कि उनकी सृष्टि ब्रह्मा के कंधों और हाथों से की गयी थी। उनका स्तर ब्राह्मणों से कुछ अधिक निम्न नहीं माना जाता।

III. उनके बाद वैश्य आते हैं जिन्हें ब्रह्मा की जंघा से बनाया गया था।

IV. और, शूद्र ब्रह्मा के पैरों से बनाए गये थे।

बाद के दो वर्गों के बीच बहुत अधिक अंतराल नही है। यद्यपि इन वर्गों में परस्पर भेद है, फिर भी वे उन्हीं नगरों और गांवों में एक साथ रहते हैं और एक ही प्रकार के मकानों और स्थानों में एक दूसरे से मिलते-जुलते रहते हैं।

निम्न जाति के लोग

शूद्रों के बाद वे लोग आते हैं जो अंत्यज कहलाते हैं। वे विभिन्न प्रकार के निम्न कार्य करते हैं और उनकी गणना किसी भी जाति में नही होती बल्कि उन्हें किसी विशेष शिल्प या व्यवसाय का सदस्य माना जाता है। उनकी भी आठ श्रेणियां हैं और उनमें धोबी, चमार और जुलाहों को छोड़कर जिनके साथ कोई भी किसी प्रकार का नाता नही रखना चाहता आपस में शादी-ब्याह भी खूब होते हैं। ये आठ शिल्पी हैं—धोबी, चमार, बाजीगर, टोकरीसाज़ और सिपरसाज़, नाविक, मछुआरा, बहेलिया और जुलाहा। चारों जाति के लोग एक ही स्थान पर उनके साथ नहीं रहते। ये शिल्पी चार जातियों के गांवों और नगरों के निकट लेकिन उनसे बाहर रहते है।

हाडी, डोम (डोंब), चंडाल और बधातउ नामक लोगों की गणना किसी जाति या व्यवसाय में नहीं होती। वे गंदे काम करते हें, जैसे गांवों की सफाई और अन्य छोटे काम। उन सबको एक ही श्रेणी का माना जाता है और उनमें केवल व्यवसायगत भेद ही होता है। वास्तविकता तो यह है कि उन्हें अवैध संतान माना जाता है क्योंकि आम लोगों की यह धारणा है कि वे शूद्र पिता और ब्राह्मणी माता की जारज संतान हे, इसलिए निम्न कोटि के अछूत हैं।

जातियों और व्यवसायों के विभिन्न नाम

हिन्दुओं ने इन चार जातियों के प्रत्येक व्यक्ति को विशिष्ट नाम दे रखे है जो उनके व्यवसाय और रहन-सहन के अनुरूप है। उदाहरण के लिए, ब्राह्मण तभी तक इस नाम से जाना जाता है जब तक कि वह घर बैठकर अपना काम करता हो। जब वह एक अग्नि की पूजा करता है तो 'इष्टिन' कहलाता है, यदि वह सेवा के अतिरिक्त अग्नि में आहुति भी देता है तो उसे 'दीक्षित' कहा जाता है। और जिस प्रकार की संज्ञाएं ब्राह्मण को दी जाती हैं उसी प्रकार अन्य जातियों के भी नाम रखे जाते हैं। जातियों के नीचे जो वर्ग आते हैं उनमें हाड़ियों का स्थान श्रेष्ठ है क्योंकि वे किसी भी गंदी चीज़ से दूर रहते हैं। इसके बाद डोम आते हैं जो बांसुरी बजाने और गाने का काम करते हैं। इनसे भी नीची जातियों का पेशा वध करना और राजदंड देना है। इनमें निकृष्टतम बधातउ हैं जो न केवल मरे हुए जानवरों का मांस खाते हैं बल्कि कुत्ते और अन्य जंगली जानवर भी खाते है।

ब्राह्मणों के रिवाज

चारों जातियों में से प्रत्येक के सदस्य जब एक ही जगह बैठकर खाते है तो उनके लिए अपने दल बनाना आवश्यक है जिसमें एक दल में भिन्न-भिन्न जातियों के दो व्यक्ति नहीं आ सकते हैं। इसके अलावा यदि ब्राह्मण के दल में ऐसे दो आदमी हैं जिनमें आपस में शत्रुता है और एक का स्थान दूसरे की बाजू में है तो वे बीच में एक तख्ता खड़ा करके या कपड़ा बिछवाकर और या किसी और ढंग से आड़ कर लेते हैं और यदि उन दोनों के बीच एक रेखा भी खींच दी जाए तो उनको अलग-अलग मान लिया जाता है। क्योंकि जूठन खाना वर्जित माना गया है इसलिए हर व्यक्ति को उतना ही भोजन लेना चाहिए जितना वह खा सके क्योंकि भोज का कोई भी व्यक्ति एक ही थाली में से कोई वस्तु ले तो थाली में पहले खाने वाले के लेने के बाद जो कुछ बचेगा, वह दूसरे व्यक्ति के लिए जो उसी में से लेना चाहता था, जूठन बन जाएगा और जूठन वर्जित है।

चारों जातियों की यही स्थिति है।

मोक्ष और विभिन्न जातियां

हिन्दुओं में इस बात को लेकर मतभेद है कि इन जातियों में कौन-सी मोक्ष प्राप्त करने की क्षमता रखती है। कुछ लोगों का यह मत है कि केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय ही इस योग्य हैं क्योंकि अन्य लोग वेदों का अध्ययन नहीं कर सकते, जबकि हिन्दू दर्शन के अनुसार मुक्ति सभी जातियों को मिल सकती है बल्कि समस्त मानव-जाति इसकी पात्र हो सकती है यदि उनकी मुक्ति पाने की नीयत बिलकुल ठीक हो। इस बात का आधार व्यास की यह उक्ति है : "पच्चीस बातें भली प्रकार सीख लो, उसके बाद जो धर्म चाहो स्वीकार कर सकते हो तुम्हें निस्संदेह मुक्ति मिलेगी।" इस मत का आधार यह तथ्य है कि वासुदेव शूद्र परिवार में जन्मा था और इसका आधार उसकी यह उक्ति भी है जो उसने अर्जुन को संबोधित करके कही थी : "भगवान किसी के साथ अन्याय या पक्षपात किए बिना उसे कर्मों का फल देता है। यदि लोग पुण्य करते समय उसे भूल जाएं तो वह उनके पुण्य को भी पाप मानता है और पाप को पुण्य मानता है यदि लोग पाप करते समय उसका स्मरण करते हैं और उसे भूल नहीं पाते चाहे वे लोग वैश्य हों, शूद्र हों या नारियां ही क्यों न हों। और यदि वे ब्राह्मण या क्षत्रिय हों तो उसकी कृपालुता कितनी अधिक होगी, इसकी सहज कल्पना की जा सकती है।"

दसवां अध्याय

हिन्दुओं के धार्मिक तथा नागर नियमों के स्रोत, उनके देवदूत और यह प्रश्न कि नियमों का निरसन हो सकता है या नहीं।

यूनानियों में धर्म तथा शास्त्रों की स्थापना ऋषियों ने की थी

प्राचीन यूनानियों ने अपने धार्मिक तथा नागर नियम अपने ऋषियों से ग्रहण किए थे जिन्हें यह कार्य सौंपा गया था और जिनके बारे में उनके देशवासियों की यह धारणा थी कि उन्हें दैवी मार्गदर्शन प्राप्त होता है। ये ऋषि थे सोलोन, ड्रैको, पाइथोगोरस, मिनोस और अन्य। उनके राजाओं की भी यही पद्धति थी, क्योंकि जब मूसा के बाद मिआनोस ने लगभग दो सौ वर्षों तक समुद्रों के द्वीपों और क्रेट्न पर शासन किया तो उन्हें नियम बताए और यह कहा कि वे नियम उसने ज्यूस से प्राप्त किए हैं। यही वह समय था जब मिनोस ने भी अपने नियम बताए...।

हिन्दू शास्त्र के प्रणेता ऋषि थे

यूनानियों में यह स्थिति थी और ठीक यही हाल हिन्दुओं का है। उनका यह विश्वास है कि उनके धार्मिक विधान और भिन्न-भिन्न सिद्धांतों का स्रोत उनके ऋषि-मुनि हैं जो उनके धर्म के आधार-स्तंभ हैं, उन्होंने वे नियम देवदूत अर्थात् नारायण से ग्रहण नहीं किए हैं क्योंकि वे जब भी संसार में आते हैं मनुष्य का अवतार लेकर आते हैं। उनके पृथ्वी पर अवतरण का ध्येय उस कुरीति को नष्ट करना होता है जो संसार के लिए विनाशकारी है, या संसार में जब भी कोई दोष उत्पन्न हो तो उसका उपचार करने के लिए जन्म लेते हैं। इसके अतिरिक्त किसी नियम को दूसरे के द्वारा बदला नहीं जा सकता क्योंकि वे नियमों का उपयोग उनके मूल रूप में करते हैं। इसलिए जहां तक नियम और उपासना का प्रश्न है वे देवदूतों की कोई चिन्ता नहीं करते, हालांकि सृष्टि के अन्य विषयों में उन्हें देवदूतों की कभी-कभार आवश्यकता पड़ जाती है।

नियमों का निरसन किया जा सकता है या नहीं

जहां तक नियमों के निरसन का प्रश्न है ऐसा लगता है, हिन्दुओं के लिए यह असंभव नहीं है क्योंकि उनका कहना है कि बहुत-सी ऐसी चीज़ें जो अब वर्जित मानी जाती हैं वासुदेव के अवतरण के पहले अनुमत्य थीं, जैसे गोमांस। इस प्रकार के परिवर्तनों की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि मनुष्य का स्वभाव बदल गया था और वह इतना दुर्बल हो गया था कि अपने कर्तव्यों का भार वहन नहीं कर सकता था। इन्हीं परिवर्तनों के साथ 'विवाह-पद्धति' और 'वंश के सिद्धांत' में हुए परिवर्तन भी जुड़े हुए हैं क्योंकि प्राचीन काल में किसी के वंश या नातेदारी के निर्धारण की तीन पद्धतियां थीं।

विभिन्न विवाह-पद्धतियां

1. किसी मनुष्य की वैध पत्नी से उत्पन्न संतान पिता की मानी जाती थ जैसा कि हमारे यहां और हिन्दुओं में भी अब तक रिवाज है।

2. यदि कोई मनुष्य किसी स्त्री से विवाह कर ले और उससे उसकी कोई संतान हो, इसके अलावा यदि विवाह-अनुबंध में यह शर्त हो कि स्त्री के बच्चे उस स्त्री के पिता के माने जाएंगे तो वह बच्चा उसके नाना का माना जाएगा जिसने यह शर्त लगाई थी, न कि उसके पिता का जिसने उसे उत्पन्न किया है।

3. यदि किसी पर-पुरुष का किसी विवाहित पत्नी से कोई बच्चा है तो वह बच्चा उस स्त्री के पति का माना जाएगा क्योंकि पत्नी, जो एक प्रकार की धरती है जिसमें वह बच्चा उगा है, पति की संपत्ति है और उसके लिए यह पहले ही से मान लिया जाता है कि बीज-वपन अर्थात् संभोग पति की सहमति से ही किया जा सकता है।

...ये सब प्रथाएं अब समाप्त हो चुकी हैं और उनका निराकरण कर दिया गया है और इसलिए हम उनकी परंपराओं से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सिद्धांत रूप में नियम का निरसन स्वीकार्य है।

तिब्बतियों और अरबों के साथ विभिन्न प्रकार के विवाह

जहां तक अस्वाभाविक प्रकार के विवाह का संबंध है हम यह बता देना चाहते हैं कि इस प्रकार के विवाह हमारे युग में आज भी उसी तरह विद्यमान हैं जैसे कि वे इस्लाम-पूर्व अरबों में मौजूद थे। इसका कारण यह रहा होगा कि 'पंचीर' के क्षेत्र से लेकर कश्मीर के आसपास के पहाड़ी इलाकों में रहने वाले लोगों में आज भी यह प्रथा है कि कई भाइयों की एक ही पत्नी होती है। इस्लाम-पूर्व अरबों में भी विवाह के प्रकार भिन्न-भिन्न थे :

1. एक अरब अपनी पत्नी को यह आदेश देता था कि वह किसी व्यक्ति-

विशेष के पास जाकर उससे संभोग कराए; उसके बाद पत्नी की गर्भावस्था के दौरान वह उससे अलग रहता था क्योंकि वह चाहता था कि वह एक कुलीन और उदार संतान को जन्म दे। यह हिन्दुओं में प्रचलित तीसरे प्रकार के विवाह से मिलता-जुलता है।

2. दूसरा प्रकार यह था कि एक अरब ने दूसरे से कहा, "अपनी पत्नी मेरे हवाले कर दो और मैं अपनी तुम्हारे हवाले कर दूंगा," और इस प्रकार वे पत्नियों का आदान-प्रदान किया करते थे।

3. तीसरा प्रकार यह है कि कई लोग एक ही पत्नी के साथ संभोग करते थे और जब वह किसी बच्चे को जन्म देती थी तो यह बताती थी कि उसका पिता कौन है और यदि वह भी न जानती थी तो ज्योतिषी उन्हें बताते थे।

4. निकाह-अल मक्त यानी जब कोई व्यक्ति अपने पिता या पुत्र की विधवा से विवाह करता था तो इस प्रकार के विवाह से उत्पन्न संतान 'ज़ीज़न' कहलाती थी। यह लगभग वैसा ही है जैसा कि कुछ यहूदियों के विवाह में होता था क्योंकि यहूदियों में यह नियम है कि मनुष्य को अपने भाई की विधवा से विवाह करना चाहिए यदि उसके भाई ने कोई संतान नहीं छोड़ी है और अपने मृत भाई की वंश-परंपरा जारी रखनी चाहिए और वह संतान अपने असल पिता की न होकर मृत व्यक्ति की मानी जाती है। इस प्रकार वे चाहते हैं कि उनके भाई की स्मृति संसार से लुप्त न हो जाए। हीब्रू भाषा में इस प्रकार विवाहित व्यक्ति को 'यबहम' कहते हैं।

[अग्निपूजकों में प्रचलित इसी प्रकार की एक प्रथा का हवाला पृ० 109-110 पर दिया गया है।]

हमने इन बातों का विवरण यहां इसलिए दिया है कि पाठक विषय के तुलनात्मक अध्ययन से यह जान ले कि इस्लाम की प्रथाएं इनकी तुलना में कितनी श्रेष्ठ हैं और इस प्रकार की तुलना से इस्लाम से भिन्न सभी रूढ़ियों और रिवाजों की मूलभूत बुराइयां कितने स्पष्ट रूप में उभर आती हैं।

ग्यारहवां अध्याय

मूर्ति-पूजा का आरंभ और भिन्न-भिन्न मूर्तियों का वर्णन

मूर्ति-पूजा का उदगम् : मनुष्य का स्वभाव

यह सर्वविदित है कि जन-साधारण की रुचि इंद्रियगोचर संसार में होती है और उसे अमूर्त चिंतन से घोर अरुचि होती है क्योंकि उसे केवल सुशिक्षित जन ही समझ पाते हैं जो हर देश और हर काल में गिने-चुने होते हैं। और चूंकि आम लोग मूर्त या साकार प्रदर्शन को मौन भाव से स्वीकार कर लेते हैं इसलिए धार्मिक समुदायों के बहुत-से नेता अब तक सही रास्ते से भटकते रहे हैं क्योंकि उन्होंने अपनी पुस्तकों और आराधना-गृहों में इसी प्रकार की मूर्तियां स्थापित की हैं और इनमें यहूदी और ईसाई तो आते ही हैं, उनसे भी बढ़कर मानिकीवादी हैं। मेरे इन शब्दों का अर्थ एकदम स्पष्ट हो जाएगा यदि उदाहरण के लिए हमारे पैगंबर की या मक्का और काबे की तसवीर बनाई जाए और किसी अशिक्षित स्त्री या पुरुष को दिखाई जाए तो वे उस चीज़ को देखकर इतने आह्लादित होंगे कि उस तसवीर को चूमेंगे, उसको अपने गालों से लगाएंगे और उसके सामने धूल में लोटेंगे मानो वे कोई चित्र नहीं देख रहे वल्कि मूल व्यक्ति के दर्शन कर रहे हैं-और ऐसा महसूस करेंगे जैसे वे मक्का-मदीना में हज के छोटे-बड़े मनासिक (संस्कार) अदा कर रहे हैं।

यही कारण है जो उन्हें मूर्तियां बनाने के लिए प्रेरित करता है और वे कुछ अत्यधिक सम्मान-योग्य व्यक्तियों, पैगंबरों, ऋषियों, फ़रिश्तों आदि के सम्मान में स्मारक बनाते हैं जिसका उद्देश्य उनके अनुपस्थित होने या मर जाने के बाद उनकी स्मृति को बनाए रखना और उनके लिए मरते समय लोगों के हृदय में एक स्थायी श्रद्धा-भाव उत्पन्न करता है। लेकिन उन स्मारकों की स्थापना के पश्चात् जब बहुत अधिक समय बीत जाता है यानी पीढ़ियां और सदियां गुज़र जाती हैं तो उनकी मूल भावना को भुला दिया जाता है और वह रूढ़ि बन जाता है और उसका सम्मान जन-साधारण के व्यवहार के लिए एक नियम का रूप धारण कर लेता है। चूंकि इसकी जड़ें मनुष्य के स्वभाव में गहरी होती हैं इसलिए प्राचीन

काल के विधि-निर्माताओं ने उनकी इस दुर्वलता का लाभ उठाकर उन्हें प्रभावित करने का प्रयास किया। यही कारण था कि उन्होंने चित्रों और स्मारकों का सम्मान करना उनके लिए अनिवार्य कर दिया, जैसा कि जल-प्रलय के पहले और वाद दोनों युगों के ऐतिहासिक अभिलेखों में वताया गया है। कुछ लोगों का तो यह भी दावा है कि खुदा के पैगंवर भेजने से पहले समस्त मानव-जाति मूर्तिपूजा करती थी।

मूर्तिपूजा निम्न वर्ग के लोगों तक सीमित

लेकिन चूंकि हमें यहां इस विषय पर हिन्दुओं की व्यवस्था और उनके सिद्धांतों का निरूपण करना है इसलिए हम उनके हास्यास्पद विचारों की चर्चा करेंगे लेकिन हम साथ ही यहां भी स्पष्ट कर दें कि इस प्रकार के विचार केवल सामान्य अशिक्षितजनों के ही हैं। इसका कारण यह है कि वे लोग जो मुक्ति-मार्ग पर जा रहे हैं या वे जो दर्शनशास्त्र और धर्मशास्त्र का अध्ययन करते हैं और जो अमूर्त सत्य के इच्छुक हैं जिसे वे 'सार' कहते हैं वे ईश्वर के अतिरिक्त किसी भी वस्तु की आराधना नहीं करते और उस ईश्वर को रूपायित करने के लिए वनाई गयी प्रतिमा की आराधना तो वे स्वप्न में भी नहीं कर सकते।

[इसके वाद राजा अंवरीश की कथा आती है जिसने अपने सफल शासन के वाद स्वयं को केवल ज्ञान-ध्यान और पूजापाठ में लगा लिया था। यह देखकर इंद्र उसके समक्ष प्रकट हुए और अंवरीश के एक प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा कि जब भी "तुम्हें मानव-सुलभ विस्मरणशीलता अभिभूत करे तो तुम्हें अपने लिए ऐसी प्रतिमा वना लेनी चाहिए जिसमें मैं तुम्हारे सामने प्रकट हुआ था और उस पर सुगंध और पुष्प चढ़ाने चाहिए। इस प्रकार तुम मुझे हमेशा याद रखोगे।" पृ० 113-15]

...हिन्दुओं का कहना है कि उसी समय से लोग मूर्तियां वनाते चले आ रहे हैं। कुछ में वे चार हाथ वनाते हैं जैसा कि हम वता चुके हैं और कहीं उसके दो ही हाथ रखते हैं और यह सव कथा-विशेष और उसके वर्णन के अनुसार और जिस देवता को चित्रित किया जा रहा है उसके अनुरूप होता है।

मुल्तान की आदित्य नामक प्रतिमा

उनकी एक प्रसिद्ध प्रतिमा मुल्तान की है जो सूर्य को समर्पित है और इसीलिए उसे 'आदित्य' नाम दिया गया है। यह लकड़ी की वनी हुई थी और इस पर लाल चमड़ा मढ़ा गया था, उसकी दोनों आंखों में दो लाल मानिक लगे थे। कहा जाता है कि इसका निर्माण अंतिम 'कृत युग' में किया गया था। यदि यह मान लिया जाए कि यह कृत युग के अंत में वनाई गयी थी तो भी इसे 216,432 वर्ष वीत

चुके हैं। जब मुहम्मद इब्न-अल-क़ासिम इब्न-अल-मुनब्बी ने मुल्तान पर विजय प्राप्त की तो उसने पूछा कि यह नगर इतना समृद्ध कैसे हो गया और यहां इतने अधिक ख़ज़ाने कैसे जमा हो गये ? बाद में उसे पता चला कि उस समृद्धि का कारण यह मूर्ति थी क्योंकि वहां सभी दिशाओं से तीर्थ-यात्री दर्शन के लिए आया करते थे। इसलिए उसने यही अच्छा समझा कि वह मूर्ति वहीं रहने दी जाए लेकिन उसने उस मूर्ति के गले में गौ-मांस का एक टुकड़ा उसका उपहास करने के लिए लटकवा दिया। उसी जगह एक मस्जिद बनवाई गयी। बाद में जब क़रा-मतियों[14] ने मुल्तान पर अधिकार कर लिया तो जलम इब्न शैबान ने जिसने उस पर अनधिकार क़ब्ज़ा किया था उस मूर्ति के टुकड़े कर दिए और उसके पुजारियों को मरवा डाला। उसने ऊंचे स्थान पर ईंटों से बने अपने महल को जो एक प्रकार का क़िला था, पुरानी मस्जिद के बदले मस्जिद में बदल दिया जिसे उसने बनी उमैया वंश के खलीफ़ाओं के शासन-काल में जो कुछ हुआ था उसके प्रति अपनी घृणा प्रकट करते हुए बंद करने का आदेश दिया। जब आगे चलकर शाहज़ादा महमूद ने उमैया वंश के खलीफाओं को उन देशों से खदेड़ दिया तो उसने पुरानी मस्जिद को जुमे की नमाज़ के लिए खुलवा दिया और दूसरी मस्जिद वीरान पड़ी रही। इस समय वह केवल खत्ता बनकर रह गयी है जहां हिना (मेंहदी) के गुच्छे बनाए जाते हैं···।

थानेश्वर की मूर्ति जो चक्रस्वामिन् कहलाती है

थानेश्वर नगर के प्रति हिन्दुओं की अपार श्रद्धा है। वहां जो मूर्ति प्रतिष्ठित है उसे चक्रस्वामिन् कहते हैं जिसका अर्थ है चक्र नामक अस्त्र का स्वामी···। यह कांस्य की बनी हुई है और आदमकद आकार की है। अब वह गजना की रंगभूमि में भगवान सोमनाथ की मूर्ति के साथ, जो शिवलिंग का प्रतीक है, पड़ी हुई है। सोमनाथ के संबंध में हम आगे चलकर उपयुक्त प्रकरण में चर्चा करेंगे। कहा जाता है कि चक्रस्वामिन् की यह मूर्ति भारत के काल में इस नाम से संबद्ध युद्धों के स्मारक के रूप में बनाई गयी थी।

कश्मीर में शारदा की मूर्ति

कश्मीर के अंतवर्ती भाग में जो राजधानी से इतनी दूर है कि वहां दो या तीन दिन में पहुंचा जा सकता है 'बोलर' की पहाड़ियों की ओर एक शारदा नामक मूर्ति है जिसके दर्शन के लिए तीर्थयात्री अकसर बड़े श्रद्धा-भाव से जाते हैं।

वराहमिहिर की 'संहिता' से उद्धरण

अब हम संहिता' नामक ग्रंथ से एक पूरा अध्याय उद्धृत करेंगे जो मूर्तियों के

निर्माण से संबंधित है और जिससे अध्येता को प्रस्तुत विषय को समझने में मदद मिलेगी।

वराहमिहिर[15] का कथन है : "यदि आकृति दशरथ के पुत्र राम या विरोचन के पुत्र बाली की प्रतिमा है तो उसकी लंबाई 120 अंगुलि की रखो," अर्थात् मूर्ति के माप में आने वाली अंगुलि जिसे 'सामान्य अंगुलि' के बराबर करने के लिए 1/10 घटाना होगा जो इस संदर्भ में 108 बनेगा।

"विष्णु की मूर्ति में आठ या चार या दो हाथ लगाओ और बाईं ओर वक्ष-स्थल के नीचे श्री नारी की आकृति अंकित करो। यदि तुम उसके आठ हाथ बनाओ तो दाहिने हाथों में एक तलवार या सोने अथवा लोहे की गदा और एक बाण दो और चौथा हाथ ऐसा बनाओ जिससे लगे कि पानी निकाला जा रहा है; बाएं हाथों में एक ढाल, एक धनुष, एक चक्र और एक शंख दे दो।

"यदि तुम उसमें दो ही हाथ बनाओ तो दाहिना हाथ पानी खींचते हुए और बायां शंख पकड़े हुए बनाओ।

"यदि आकृति बलदेव की प्रतिमा हो जो नारायण का भाई है, तो उसके कान में बुंदे (कर्णफूल) पहनाओ और उसकी आंखें शराबी की-सी बनाओ।

"यदि तुम नारायण और बलदेव दोनों की आकृति बनाओ तो उनके साथ उनकी बहन भगवती (दुर्गा=एकानांश) को भी शामिल कर लो जिसका बायां हाथों उसकी कमर से कुछ दूर नितंब पर टिका हो और उसके दाहिने हाथ में एक कमल हो।

"यदि तुम उसे चार हाथों वाला बनाओ तो दाहिने हाथों में एक माला दे दो और दूसरा हाथ पानी खींचता हुआ बनाओ; बाएं हाथों में एक पुस्तक और कमल दे दो।

"यदि तुम उसे आठ हाथों वाला बनाओ तो बाएं हाथों में कमंडल, कमल, धनुष और पुस्तक दो और दाहिने हाथों में एक माला, दर्पण, बाण और पानी खींचते हुए हाथ लगा दो…।

"ब्रह्मा की मूर्ति में चार मुख हैं जो चारों दिशाओं की ओर हों और उसका आसन कमल हो।

"महादेव के पुत्र स्कंद की मूर्ति में एक लड़का मोर की सवारी करते हुए दिखाया गया है, उसके हाथों में 'शक्ति' है जो दुधारी तलवार के जैसा अस्त्र है जिसके बीचों-बीच एक मूसली बनी हुई है जैसी हावन-दस्ते में होती है।

"इंद्र की मूर्ति में वह अपने हाथ में हीरे का वज्र लिये हुए है। उसका दस्ता वैसा ही है जैसा शक्ति में होता है, लेकिन उसके दोनों ओर दो तलवारें हैं जो दस्ते से जुड़ी हुई हैं। उसके सामने के भाग में तीसरी आंख बनाओ और उसे सफेद हाथी पर बैठा हुआ दिखाओ जिसके चार दांत हों।

"इसी प्रकार महादेव की मूर्ति में सामने की ओर ऊपर तीसरी आंख बनाओ, सिर पर अर्ध-चंद्र, हाथ में शूल दो जो गदा जैसा ही हो लेकिन उसकी तीन शाखाएं हों और एक तलवार हो, और उसका बायां हाथ गौरी की कमर में हो जो हिमवंत की पुत्री है जिसे वह बगल में लेकर अपने सीने से लगाए हुए है।

"जिन अर्थात् बुद्ध की मूर्ति में अत्यधिक सुंदर मुख और अंग बनाओ, उसकी हथेली और पैरों में कमल जैसी रेखाएं बनाओ और उसे कमल पर आसीन दिखाओ; उसके बाल सफेद हों और उसके चेहरे पर शांत-भाव दर्शाओ जिससे लगे कि वही सृष्टि का जनक है···।

"कोषाध्यक्ष कुवेर की मूर्ति में वह मुकुट ओढ़े हुए हो, उसकी तोंद निकली हुई हो, चौड़े कूल्हे हों और वह मनुष्य पर आसीन हो।

"सूर्य की मूर्ति में उसका मुख लाल कमल के पराग जैसा हो जो हीरे की भांति चमकता हो, उसके अंग फैले हुए हों, कानों में छल्ले हों, गले में रत्नमाला हो जो वक्षस्थल तक लटकी हुई हो, वह पहलूदार मुकुट ओढ़े हुए हो, हाथों में दो कमल हों और उसकी वेशभूषा उत्तर भारतीयों की जैसी हो जो टखनों तक पहुंचती हो।"

"यदि तुम सप्त माताओं की प्रतिमा बनाओ तो उनमें से कई को एक ही आकृति में प्रस्तुत करो—ब्रह्माणि के चार मुख चारों दिशाओं की ओर हों, कौमारि के छह मुख हों, वैष्णवी के चार हाथ हों, वराहि का शूकर जैसा सिर और मनुष्य का शरीर हो, इंद्राणि के अनेक नेत्र और हाथ में एक गदा हो, भगवती (दुर्गा) को उसी तरह आसीन दिखाओ जैसे लोग आम तौर पर बैठते हैं, चमुंड को कुरूप जिसके दांत बाहर को निकले हुए हों और कमर पतली हो। उन्हीं में महादेव के पुत्र दिखाओ—क्षेत्रपाल के बाल कड़े हों, चेहरा रूखा हो और शरीर की आकृति कुरूप हो, लेकिन विनायक की प्रतिमा में हाथी का सिर और मानव-शरीर बनाओ जिसके वैसे ही चार हाथ हों जिनका हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं।"

इन मूर्तियों के उपासक भेड़ों और भैंसों का कुठार से वध करते हैं और उनका रक्तपान ही उनका आहार होता है। सभी मूर्तियां कुछ माप-विशेष के अनुसार बनाई जाती हैं जिसका निर्धारण मूर्ति-अंगुलि से हरेक अंग के लिए किया जाता है लेकिन कभी-कभी वे माप किसी के अंगों के संबंध में बदल भी जाते हैं। यदि कोई कलाकार सही माप रखता है और न कोई अंग बहुत बड़ा और न ही बहुत छोटा बनाता है तो उसे कोई पाप नहीं लगता और वह इस बात से आश्वस्त होता है कि जिस शक्ति की वह प्रतिमा बना रहा है वह उस पर कोई विपत्ति नहीं लाएगी।

···हिन्दू अपनी मूर्तियों का सम्मान उस सामग्री के कारण नहीं करते जिससे

वे बनाई गयी हैं बल्कि उन लोगों के कारण करते हैं जिन्होंने उन्हें प्रतिष्ठापित किया है। हम पहले ही बता चुके हैं कि मुल्तान की मूर्ति लकड़ी की थी। उदाहरण के लिए, राम ने राक्षसों से युद्ध करने के बाद जो लिंग स्थापित किया था वह रेत का था जिसे उन्होंने अपने हाथों से रेत का ढेर बनाकर खड़ा किया था लेकिन वह तुरंत ही पथरा गया क्योंकि ज्योतिपविद्या के अनुसार उस स्मारक की स्थापना के लिए जो उपयुक्त क्षण निश्चित था वह उस समय के पहले बीत चुका था जब शिल्पियों ने उस प्रस्तर-स्मारक का निर्माण किया था जिसकी राम ने पहले आज्ञा दी थी। जहां तक मंदिर के निर्माण और उसके परिस्तंभ का संबंध है, राम ने बहुत लंबे और उकता देने वाले अनुदेश दिए थे कि चार विभिन्न प्रकार के वृक्ष काटे जाएं, उनकी स्थापना के लिए फलित-ज्योतिप के अनुसार कौन-सी शुभ घड़ी होगी, उस अवसर पर कौन-से संस्कार किए जाएंगे। इसके अलावा उन्होंने यह भी आज्ञा दी थी कि मूर्तियों की सेवा के लिए अनुचरों और पुजारियों का नामन जनता के विभिन्न वर्गों द्वारा किया जाए। "विष्णु की मूर्ति की पूजा भागवत करेंगे; सूर्य की मूर्ति की अग्निपूजक; महादेव की मूर्ति की पूजा संत और लंबे केशधारी संन्यासी करेंगे जो अपने शरीर पर भस्म लगाते हैं, मृतकों की अस्थियां लटकाते हैं और पोखरों में स्नान करते हैं। ब्राह्मण अष्ट माताओं के भक्त हैं, श्रमण बुद्ध के और अर्हत के भक्त 'नग्न' नामक वर्ग के लोग हैं। कुल मिलाकर हरेक मूर्ति की कुछ विशेप लोग पूजा करते हैं जिन्होंने उन्हें बनाया है और वही लोग जानते हैं कि उस मूर्ति की किस प्रकार से उत्तम सेवा की जाती है।"

यह बताने के लिए 'गीता' से उद्धरण दिए जा रहे हैं कि भगवान को मूर्तियों के साथ गड्ड-मड्ड नहीं करना चाहिए।

ये सारी बेसिर-पैर की बातें बताने का हमारा यह उद्देश्य था कि पाठक के सामने मूर्ति का सही वर्णन कर दिया जाए ताकि यदि वह कोई मूर्ति देखे तो उसे पहचान सके। और हम उन सब बातों की भी व्याख्या करना चाहते थे जो हम पहले बता चुके हैं कि इस प्रकार की मूर्तियां केवल निम्न वर्ग के अशिक्षित लोगों के लिए स्थापित की जाती थीं जिनको अधिक समझ नहीं है। हम यह दोहरा दें कि हिन्दुओं ने भगवान की तो क्या, कभी किसी अलौकिक शक्ति की भी मूर्ति नहीं बनाई थी; और अंत में यह संकेत करना भी हमारा अभीष्ट था कि जन-समूह किस प्रकार पुरोहितों के छल-बल और धोखाधड़ी से ठगा जाता था।

['गीता' से यह बताने के लिए उद्धरण दिया गया है कि भगवान को मूर्तियों के साथ गड्डमड्ड नहीं करना चाहिए, पृ० 122-24]

...यह स्पष्ट है कि मूर्ति-पूजा का पहला कारण मृतकों का स्मरण करने की और जीवितों को सांत्वना देने की इच्छा थी; लेकिन इसी आधार पर यह

विकसित हुई और अंत में एक दूपित और हानिकर कुप्रथा वन गयी ।

यह पुरानी धारणा कि मूर्तियां केवल स्मारक होती हैं सिसिली की मूर्तियों के वारे में खलीफा मुआविया की भी थी। जव 53वीं हिजरी की गर्मियों में सिसिली पर विजय प्राप्त कर ली गयी और विजेताओं ने खलीफा को सोने के मुकुटों और हीरों से जड़ी हुई मूर्तियां भेजीं जो उन्होंने वहां अपने कब्ज़े में की थीं तो उसने उन्हें सिंध भेजने की आज्ञा दी ताकि वे वहां के राजाओं के हाथ वेच दी जाएं। उसका विचार था कि उन्हें ऐसी वस्तुओं के रूप में जो इतने दीनारों के मूल्य की थीं वेच देना ही वेहतर है। उसने ऐसा इस दृष्टि से नहीं किया कि वे घृणित मूर्ति-पूजा की प्रतीक हैं वल्कि उसने तो इस मामले को धार्मिक दृष्टि से न देखकर केवल राजनीतिक कारणों से ऐसा किया।

बारहवां अध्याय

वेद, पुराण और उनका अन्य प्रकार का देशीय साहित्य

वेद के संबंध में विविध टिप्पणियां

वेद का अर्थ है ऐसे विषय का ज्ञान जो पहले अज्ञात था। यह एक ऐसी धार्मिक पद्धति थी जो हिन्दुओं के मतानुसार ईश्वर की ही वाणी है और ब्रह्मा के मुख से निःसृत हुई है। ब्राह्मण वेद का पाठ विना उसे समझे करते हैं, उसे वैसा ही वे कंठस्थ भी कर लेते हैं और वही एक से सुनकर दूसरा याद कर लेता है। उनमें से थोड़े ही ऐसे हैं जो उसकी टीका भी पढ़ते हैं और वे तो गिने-चुने ही होंगे जिन्हें वेद की विषयवस्तु और उसके भाष्य पर ऐसा अधिकार हो कि वे उस पर कोई शास्त्रार्थ कर सकें।

ब्राह्मण क्षत्रियों को वेद की शिक्षा देते हैं। क्षत्रिय उसका अध्ययन तो कर सकते हैं, लेकिन उन्हें उसकी शिक्षा देने का अधिकार नहीं है, यहां तक कि वे किसी ब्राह्मण को भी वेद नहीं पढ़ा सकते। वैश्यों और शूद्रों को तो उसे सुनने की भी मनाही है, उसके उच्चरण और पाठ की तो बात ही दूर है। यदि उनमें से किसी के बारे में यह साबित हो जाए कि उसने वेद-पाठ किया है तो ब्राह्मण उसे दंडनायक के सामने पेश कर देंगे और दंडस्वरूप उसकी जीभ कटवा दी जाएगी।

वेद में विधि-निषेध का वर्णन है और पुरस्कार तथा दंड के विस्तृत विवरण हैं जिनका उद्देश्य लोगों को पुण्य की ओर प्रेरित करना तथा पाप से रोकना है। लेकिन वेद के अधिकतम स्तोत्रों में प्रशंसात्मक प्रार्थनाओं तथा विभिन्न प्रकार के यज्ञों का उल्लेख है जो इतने अधिक और कठिन हैं कि आप उनकी गिनती भी नहीं कर पाएंगे।

वेद का स्मृति के द्वारा प्रेषण

वे वेद को लिपिबद्ध करने की अनुमति नहीं देते क्योंकि उसका पाठ स्वर के विशिष्ट आरोह-अवरोह के अनुसार (सस्वर) किया जाता है और इसीलिए वे लेखनी का प्रयोग नहीं करते क्योंकि उसमें किसी-न-किसी प्रकार की त्रुटि होने की

आशंका रहती है और दूसरे उसके कारण लिखित पाठ में कहीं कुछ जोड़ा जा सकता है या कोई दोष आ सकता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि वे कई बार वेद को भूल चुके हैं और वह नष्ट हो चुका है।

इसके अलावा हिन्दुओं का कहना है कि वेद और उनके देश तथा धर्म के सारे संस्कारों का द्वापर युग में लोप हो चुका था, जिसके संबंध में हम उचित स्थान पर चर्चा करेंगे, और बाद में पराशर के पुत्र व्यास ने इसका फिर से सृजन किया था…।

वसुक्र ने वेद को लिपिबद्ध किया

यही कारण है कि अब से बहुत अधिक समय नहीं बीता जब वसुक्र नामक एक कश्मीर-निवासी ने जो प्रसिद्ध ब्राह्मण था अपनी ओर से वेद की व्याख्या का बीड़ा उठाया और उसे लिपिबद्ध किया।[16] उसने एक ऐसे कार्य का संकल्प किया था जिससे प्रत्येक अन्य व्यक्ति संकोच करता। लेकिन उसने इसे सफलतापूर्वक इसलिए संपन्न किया क्योंकि उसे भय था कि वेद को भुला दिया जाएगा और वह लोगों की स्मृति से निकल जाएगा, क्योंकि उसने देखा था कि लोगों का चरित्र दिन-ब-दिन बिगड़ता जा रहा था और वे सदाचरण तो क्या कर्तव्य तक की परवाह नहीं करते थे।

वेद में कुछ ऐसे अंश हैं जिनके बारे में उनका कहना है कि वे घरों के अंदर नहीं पढ़े जाने चाहिए, क्योंकि उन्हें अंदेशा है कि उनके पाठ से स्त्रियों और पशुओं दोनों में गर्भपात हो सकता है। यही कारण है कि वे खुले स्थान में जाकर उसका पाठ करते हैं। वेद में शायद ही कोई ऐसा श्लोक हो जिसमें ऐसी या इससे मिलती-जुलती निषेधाज्ञा न दी गयी है।

जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं हिन्दुओं के ग्रंथ छंदोबद्ध रचनाएं हैं जैसे कि अरबों की 'रजज़' कविताएं। उनमें से अधिकांश की रचना श्लोक नामक छंद में की गयी है। ऐसा क्यों किया गया है, यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं।

लेकिन वेद की रचना सामान्य श्लोक छंद में नहीं बल्कि किसी अन्य छंद में की गयी है। कुछ हिन्दुओं का विचार है कि कोई भी एक ही छंद में किसी कविता की रचना नहीं कर सकता। लेकिन उनके विद्वानों का कहना है कि यह संभव तो है परन्तु वे वेद के प्रति अपनी श्रद्धा के कारण ऐसे प्रयास से संकोच करते हैं।

व्यास के चार शिष्य और चार वेद

उनकी लोककथाओं के अनुसार व्यास ने वेद को चार भागों में विभक्त कर दिया : ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद…। चारों भागों में से प्रत्येक का पाठ एक विशेष ढंग से किया जाता है।

ऋग्वेद

पहला ऋग्वेद है जिसमें छंदोबद्ध ऋचाएं हैं जिनकी मात्राएं अलग-अलग हैं। इसे ऋग्वेद इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह ऋचाओं का संग्रह है। इसमें यज्ञों का विवेचन है और इसका पाठ तीन भिन्न प्रकारों से किया जाता है। पहला सीधा-सादा ढंग जिससे हरेक पुस्तक पढ़ी जाती है। दूसरा प्रकार वह है जिसमें प्रत्येक शब्द के बाद विराम किया जाता है। तीसरी पद्धति ऐसी है जो सबसे अधिक पुण्यप्रद है और जिसके लिए स्वर्ग में विपुल पुरस्कार का वचन दिया गया है। पहले आप एक संक्षिप्त अवतरण पढ़िए जिसके एक-एक शब्द का स्पष्ट उच्चारण किया जाए, फिर उसे अवतरण के अगले भाग के साथ मिलाकर दुहराइए जिसे अभी नहीं पढ़ा गया है आदि, आदि। इसी प्रकार अंत तक पढ़ते जाइए और और इस तरह आप संपूर्ण पाठ को दो बार पढ़ लेंगे।

यजुर्वेद

यजुर्वेद 'कंडि' में रचा गया है। यह शब्द एक व्युत्पन्न संज्ञा है और इसका अर्थ है 'कंडि का संग्रह'। इसमें और ऋग्वेद में यह अंतर है कि इसका पाठ संधि के नियमों से युक्त पाठ की भांति किया जाता है जिसकी ऋग्वेद के संबंध में अनुमति नहीं दी गयी है। इन दोनों ही में यज्ञ और हवनादि का विवेचन है।

सामवेद और अथर्ववेद

सामवेद में यज्ञों तथा विधि और निषेधों का विवेचन है। इसे गायन के स्वर में पढ़ा जाता है और उसी से इसका यह नाम पड़ा है क्योंकि 'सामन्' का अर्थ है गान-माधुर्य।···अथर्ववेद का पाठ संधि के नियमों से युक्त है। इसमें वैसी रचनाएं नहीं हैं जैसी ऋग्वेद और यजुर्वेद में हैं लेकिन इसमें एक तीसरे प्रकार की रचना है जिसे 'भर' कहते हैं। इसका पाठ स्वरानुक्रम के अनुसार अनुनासिक स्वर में किया जाता है। यह वेद हिन्दुओं में अन्य वेदों की अपेक्षा कुछ कम लोकप्रिय है। इसमें भी अन्य वेदों की भांति यज्ञों का विवेचन है और मृतकों तथा उनके साथ किए गये व्यवहार के संबंध में निषेधाज्ञाएं दी गयी हैं।

पुराणों की सूची

पुराणों के संबंध में हम पहले ही बता दें कि इस शब्द का अर्थ है अनादि, अनंत। पुराण अठारह हैं जिनमें से अधिकांश के नाम पशुओं, मनुष्यों और देवताओं के नाम पर रखे गये हैं क्योंकि उनमें उन्हीं की कथाएं हैं या फिर पुस्तक में कहीं-न-कहीं उनका निर्देश है या पुस्तक में ऐसे उत्तर हैं जो उस प्राणी ने कुछ प्रश्नों के दिए हैं जिसके नाम पर पुस्तक का नाम रखा गया है।

'पुराण'[16A] वे मानव-कृत रचनाएं हैं जिन्हें तथाकथित ऋषियों ने रचा है। नीचे मैं उनके नामों की सूची उसी रूप में दे रहा हूं जिस रूप में मैंने उन्हें सुना है और उन्हें सुनकर लिपिवद्ध किया है :

1. आदि-पुराण अर्थात् पहला।
2. मत्स्य-पुराण अर्थात् मछली।
3. कूर्म-पुराण अर्थात् कछुआ।
4. वराह-पुराण अर्थात् शूकर।
5. नरसिंह-पुराण अर्थात् मनुष्य जिसका सिर सिंह का है।
6. वामन-पुराण अर्थात् बौना।
7. वायु-पुराण अर्थात् हवा।
8. नंद-पुराण अर्थात् महादेव का परिचर।
9. स्कंद-पुराण अर्थात् महादेव का पुत्र।
10. आदित्य-पुराण अर्थात् सूर्य।
11. सोम-पुराण अर्थात् चंद्रमा।
12. सांव-पुराण अर्थात् विष्णु का पुत्र।
13. ब्रह्मांड-पुराण अर्थात् एक महर्षि।
14. मार्कण्डेय-पुराण अर्थात् एक महर्षि।
15. तर्क्ष्य-पुराण अर्थात् गरुड़ पक्षी।
16. विष्णु-पुराण अर्थात् नारायण।
17. ब्रह्मा-पुराण अर्थात् प्रकृति जिसका दायित्व संसार को सुरक्षित रखना है।
18. भविष्य-पुराण अर्थात् भविष्य की बातें।

इस समस्त साहित्य में से मैंने केवल मत्स्य, आदित्य और वायु-पुराण के कुछ अंश ही देखें हैं'''।

'स्मृति' ग्रंथों की सूची

'स्मृति'[17] नामक ग्रंथ वेदों से ही गृहीत है। इसमें विधि-निषेध दिए गये हैं और इसकी रचना ब्रह्मा के बीस पुत्रों की है :

1. आपस्तंब, 2. पराशर, 3. सत्तप, 4. सामवर्त, 5. दक्ष, 6. वशिष्ठ, 7. आंगिरस, 8. यम, 9. विष्णु, 10. मनु, 11. याज्ञवल्क्य, 12. अत्रि, 13. हारीत, 14. लिखित, 15. शंख, 16. गौतम, 17. बृहस्पति, 18. कात्यायन, 19. व्यास, 20. उशनस।

इनके अलावा हिन्दुओं के विभिन्न विषयों पर भी ग्रंथ हैं जैसे उनके धर्म का न्यायशास्त्र, ब्रह्मविद्या, तपस्वी, मानव-योनि से ईश्वरत्व प्राप्त करने की विधि

और संसार से मोक्ष-प्राप्ति। उदाहरण के लिए, गौड़ मुनि[17A] के द्वारा रचित ग्रंथ जिसका नाम भी 'गौड़ संहिता' है; 'सांख्य' जिसकी रचना कपिल ने की है और जिसमें लोकोत्तर विषयों का विवेचन है; पतंजलि की पुस्तक जो मुक्ति की खोज और आत्मा के परमात्मा से मिलन से संबंधित है; 'न्यायभाष'[18] जिसकी रचना कपिल ने वेद और उसके भाष्य पर की है; उसमें यह बताया गया है कि वेद मानवरचित हैं और वेद में ही उन विधानों में भेद किया है जो कुछ विशेष स्थितियों में बाध्यकारी हैं और जो सामान्य रूप से बाध्यकारी हैं; इसी विषय पर जैमिनीकृत ग्रंथ 'मीमांसा'[19] है; 'लोकायत'[20] का रचनाकार बृहस्पति है जिसमें इस विषय का विवेचन किया गया है कि हर प्रकार के अन्वेषण में हमें सर्वदा इंद्रियबोध पर ही विश्वास करना चाहिए। अगस्त्य-रचित ग्रंथ 'अगस्त्य मत'[20A] है जिसमें इस विषय पर चर्चा की गयी है कि हर प्रकार के अन्वेषण में हमें न केवल इंद्रिय-बोध का प्रयोग करना बल्कि परंपरा का भी ध्यान रखना चाहिए और 'विष्णु-धर्म' नामक ग्रंथ है। धर्म का अर्थ पुण्य है किंतु सामान्यतः यह धर्म या मत के लिए प्रयुक्त होता है, इस प्रकार ग्रंथ के इस नाम का अर्थ हुआ भगवद्धर्म और यहां भगवान से आशय है नारायण। इसके बाद व्यास के छह शिष्यों के लिखे हुए ग्रंथ हैं जिनके नाम हैं : देवल, शुक्र, भार्गव, बृहस्पति, याज्ञवल्क्य और मनु। हिन्दुओं के यहां विज्ञान की सभी शाखाओं पर अनेक ग्रंथ हैं। भला कोई व्यक्ति जो हिन्दू नहीं है बल्कि विदेशी है उन सबके नाम कैसे जान सकता है ?

महाभारत

इसके अलावा उनका एक ग्रंथ ऐसा है जिसमें उनकी ऐसी श्रद्धा है कि वे यह दावा करते हैं कि जो कुछ भी अन्य ग्रंथों में उपलब्ध है वह इस ग्रंथ में भी है लेकिन वह सब जो इस ग्रंथ में है, दूसरे ग्रंथों में नहीं मिलता। इसका नाम 'भारत' है जिसकी रचना पराशर के पुत्र व्यास ने उस समय की थी जब पांडु और धृतराष्ट्र के पुत्रों के बीच महायुद्ध हुआ था। इस ग्रंथ के नाम से ही उस युग का आभास मिल जाता है। इसके अठारह भाग है, जिसमें से प्रत्येक 'पर्व' कहलाता है और इसमें 100,000 श्लोक हैं। नीचे हम उनकी सूची दे रहे हैं :

1. 'सभा पर्व' अर्थात् राजप्रासाद; 2. 'अरण्य' अर्थात् पांडु-पुत्रों का वनवास; 3. 'विराट' अर्थात् एक राजा का नाम जिसके राज्य में वे अज्ञातवास के दौरान रहे थे; 4. 'उद्योग' अर्थात् युद्ध की तैयारी; 5. 'भीष्म'; 6. 'द्रोण', ब्राह्मण; 7, 'कर्ण', सूर्य-पुत्र; 8. 'शल्य', दुर्योधन का भाई; जो महान् योद्धा थे उनमें से एक के मारे जाने के बाद दूसरा युद्ध में जाता था; 9. 'गदा'; 10. 'सौप्तिका', सुप्तजनों का वध; जब द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा ने पांचाल नगर पर रात्रि के समय आक्रमण किया था और वहां के सभी निवासियों का वध कर दिया था; 11. 'जल

प्रदानिका' मृत व्यक्तियों को स्पर्श करने से हुई अपवित्रता धोने के बाद मृतकों को निरंतर पानी देना; 12. 'स्त्री'; नारी-विलाप; 13. 'शांति'; इसके चार भाग हैं जिनमें 24000 श्लोक हैं जो हृदय से घृणा दूर करने से संबंधित हैं :

(1) **राज-धर्म**—राजा को कर्त्तव्य-पूर्तिसे होने वाला पुण्य।

(2) **दानधर्म**—भिक्षादान से होने वाला पुण्य।

(3) **आपद्धर्म**—उन लोगों के लिए किया गया पुण्य जो विपत्तिग्रस्त हैं और सहायता के पात्र हैं।

(4) **मोक्षधर्म**—उस व्यक्ति का पुण्य जो संसार के बंधनों से मुक्त हो गया है।

14. 'अश्वमेध', अर्थात् घोड़े का यज्ञ जिसे सेना के साथ समस्त विश्व में घूमने के लिए छोड़ा जाता है। उसके बाद प्रजा में यह घोषणा की जाती है कि यह घोड़ा चक्रवर्ती राजा का है और जो उसे चक्रवर्ती सम्राट न माने वह युद्ध के लिए सामने आए। ब्राह्मण घोड़े के पीछे-पीछे जाते हैं और उन स्थानों पर यज्ञ करते हैं जहां घोड़ा लीद करता है।

15. 'मूसल', अर्थात् यादवों का आपस में युद्ध। यादव वासुदेव के वंशज थे।

16. 'आश्रमवास', अर्थात् स्वदेश-त्याग।

17. 'प्रस्थान', अर्थात् राज्य-त्याग और मुक्ति के लिए प्रयत्न।

18. 'स्वर्गारोहण', अर्थात् स्वर्ग की ओर प्रस्थान।

इन अठारह पर्वों के बाद एक और है जो 'हरिवंश पर्व' कहलाता है जिसमें वासुदेव के संबंध में कुछ लोककथाएं दी गयी हैं।

इस ग्रंथ में ऐसे अंश आते हैं जो प्रहेलिकाओं जैसे हैं जिनके अनेक निर्वचन किए जा सकते हैं। इसके कारण के संबंध में हिन्दुओं में निम्नलिखित कथा प्रचलित है—व्यास ने ब्रह्मा से एक ऐसे व्यक्ति की मांग की जो उससे सुनकर 'भारत' लिख सके। ब्रह्मा ने अपने पुत्र विनायक को यह कार्य सौंपा जिसकी मूर्ति में उसके शरीर पर हाथी की सूंड़ दिखाई देती है और उसे आदेश दिया कि वह लिखते समय कहीं न रुके। साथ ही, व्यास ने भी यह शर्त लगा दी कि वह केवल वही लिखे जिसे वह समझ गया हो। इस प्रकार व्यास लिखवाते समय कुछ ऐसे वाक्य बोलते थे जिस पर लेखक को सोचना पड़ता था और इस प्रकार व्यास को विश्राम के लिए समय मिल जाता था।

तेरहवां अध्याय

हिन्दुओं का व्याकरण तथा छंदशास्त्र-संबंधी साहित्य

व्याकरण पर पुस्तकों की सूची

व्याकरण और छंदशास्त्र अन्य शास्त्रों के पूरक हैं। इनमें पहले अर्थात् 'व्याकरण' का उनकी दृष्टि में प्रथम स्थान है। जैसाकि नाम से प्रकट है यह उनकी भाषा की शुद्धता और शब्दों के व्युत्पत्ति-संबंधी नियम बताता है जिनके द्वारा लिखने और पढ़ने दोनों में उन्होंने अर्थपूर्ण और शास्त्रीय शैली प्राप्त की है। हम मुसलमान इसमें से कुछ नहीं सीख सकते क्योंकि वह शाखा एक ऐसे मूल से निकली है जो हमारी पकड़ से बाहर है—मेरा अभिप्राय भाषा से है। इस शास्त्र पर जो पुस्तकें मुझे बताई गयी हैं उनके नाम निम्नलिखित हैं :

1. 'ऐन्द्र'—देवताओं के राजा इंद्र से संबंधित।
2. 'चांद्र'—बुद्ध के अनुयायी लाल वस्त्रधारी संप्रदाय के चंद्र द्वारा रचित।
3. 'शकट'—इसका नाम लेखक के नाम पर ही है। उसके वंश का नाम भी इसी शब्द से व्युत्पन्न है अर्थात् शकटायन।
4. 'पाणिनि'[21]—लेखक के नाम पर ही ग्रंथ का नाम पड़ गया।
5. 'कतंत्र'—शर्ववर्मन् द्वारा रचित।
6. 'शशिदेववृत्ति'—शशिदेव-कृत।
7. 'दुर्गाविवृत्ति'।
8. 'शिष्यहितवृत्ति'—उग्रभूति द्वारा लिखित।

शाह आनंदपाल और उसका गुरु उग्रभूति

मुझे बताया गया है कि अंतिमोल्लिखित लेखक जयपाल के पुत्र शाह आनंदपाल का आचार्य और गुरु था जो हमारे युग में कश्मीर का शासक था। पुस्तक की रचना करने के बाद उसने वह कश्मीर भेज दी लेकिन वहां के लोगों ने उसे स्वीकार नहीं किया क्योंकि वे ऐसी बातों में घोर रूढ़िवादी थे। अतः उसने शाह से शिकायत की और शाह ने एक शिष्य के नाते अपने गुरु के प्रति कर्तव्य का पालन

करते हुए उसकी इच्छा-पूर्ति का आश्वासन दिया। उसने आज्ञा दी कि दो लाख दिरम और उतने ही मूल्य के उपहार कश्मीर भेजे जाएं जिन्हें उन लोगों में बांट दिया जाए जो उसके गुरु की पुस्तक को पढ़ने के लिए तैयार हों। इसका यह परिणाम हुआ कि वे पुस्तक पर झपट पड़े और यह उनकी धनलोलुपता का प्रमाण है कि व्याकरण पर वे किसी दूसरी को पुस्तक मानते ही न थे। पुस्तक बहुत लोकप्रिय और पुरस्कृत हुई।

व्याकरण की उत्पत्ति के संबंध में कथा

व्याकरण की उत्पत्ति के संबंध में उनकी एक कथा है: उनका एक राजा था जिसका नाम समलवाहन था—शास्त्रीय भाषा में सातवाहन—जो एक दिन तालाब में अपनी पत्नियों के साथ खेल रहा था, जब उनमें से एक से कहा, 'मोदकम देहि' अर्थात् मुझ पर पानी मत फेंको। लेकिन उस स्त्री ने इस वाक्य को 'मोदकम देहि' समझा अर्थात् मुझे लड्डू दो। अतः वह गयी और उसके लिए लड्डू लेकर आ गयी। और जब राजा ने उसके ऐसा करने की निंदा की तो उसने क्रुद्ध होकर बड़ी अभद्र भाषा का प्रयोग किया। जाहिर है कि राजा को बहुत बुरा लगा और जैसी कि उनके यहां प्रथा है उसने खाना-पीना छोड़ दिया और जाकर किसी कोने में छिप गया और तब तक छिपा रहा जब तक एक ऋषि ने आकर उसे नहीं पुकारा। ऋषि ने उसे सांत्वना दी और यह वचन दिया कि मैं लोगों को व्याकरण और भाषा की रूप-रचना की शिक्षा दूंगा। उसके बाद ऋषि महादेव के पास गया और उनकी आराधना की, स्तुति की और भक्तिपूर्वक व्रत रखे। महादेवजी उसके समक्ष प्रकट हुए और उन्होंने कुछ थोड़े-बहुत नियम उसे बताए—कुछ वैसे ही जैसे अबुल असवद अदुअली[22] ने अरबी भाषा के लिए बताए हैं। भगवान महादेव ने उसे व्याकरणशास्त्र के विकास में उसकी सहायता का भी वचन दिया। फिर ऋषि राजा के पास वापस आया और वही शास्त्र उसे पढ़ाया। व्याकरणशास्त्र का यही प्रारंभ था।

हिन्दुओं की छंदोबद्ध रचनाओं के प्रति अभिरुचि

व्याकरण के बाद एक और शास्त्र आता है छंदशास्त्र अर्थात् छंदोबद्ध काव्य, जैसा हमारा छंदशास्त्र है—यह शास्त्र ऐसा था जो उनके लिए अनिवार्य था क्योंकि उनके सारे ग्रंथ पद्य में ही रचे गये हैं। अपने ग्रंथों की छंदोबद्ध रचना करने से उनका आशय यह है कि उनके कंठस्थ करने में सुविधा हो और किसी विशेष स्थिति को छोड़कर जबकि ऐसा करना आवश्यक हो जाए लोगों को शास्त्र-संबंधी समस्याओं के लिए लिखित पाठ को देखने से रोका जाए। इसका कारण उनका यह विचार है कि मनुष्य के मन को हर वह चीज भाती है जिसमें कोई संतुलन

और क्रम हो, और उसे हर उस चीज़ से अरुचि होती है जिसमें कोई क्रमबद्धता न हो। इसीलिए अधिकांश हिन्दू अपने छंदों के दीवाने होते हैं और हमेशा उनको पढ़ने या सुनाने के लिए लालायित रहते हैं चाहे वे उन छंदों के शब्दों का अर्थ न समझते हों और श्रोता भी उन्हें सुनकर इतने प्रसन्न होते हैं कि तालियां बजाकर अपना हर्ष प्रकट करते हैं। गद्य रचनाओं को वे पसंद नहीं करते, हालांकि उन्हें समझना अपेक्षतः सरल होता है।

उनके अधिकांश ग्रंथों की रचना श्लोकों में हुई है जिनसे मैं आजकल जूझ रहा हूं क्योंकि इस समय मैं हिन्दुओं के लिए 'उक्लीदिस' और 'अलमजीस्ती' के अनुवाद में और वेधयंत्र (एस्ट्रोलैब) के निर्माण पर एक निबंध लिखवाने में व्यस्त हूं और इन कामों की प्रेरणा मुझे विद्या के प्रसार से मिली है। यदि हिन्दुओं की दृष्टि किसी ऐसी पुस्तक पर पड़ जाए जो उनके यहां अभी तक मौजूद नहीं है तो वे उसे तत्काल श्लोकों में परिणत करना शुरू कर देंगे हालांकि वे दुरूह होते हैं, क्योंकि छंदोबद्ध रचना के लिए एक प्रकार की कृत्रिम और बोझिल शैली आवश्यक होती है। यह बात आगे चलकर अधिक स्पष्ट हो जाएगी जब 'हम अंकन प्रणाली की चर्चा करेंगे। इसके बाद यदि पद्य पर्याप्त रूप से कृत्रिम न हों तो लोग उनके लेखकों को कुपित दृष्टि से देखते हैं मानों उन्होंने निरा गद्य ही लिख दिया हो और यह देखकर वे बहुत दुःखी होते हैं।

छंदशास्त्र पर ग्रंथ

पहले व्यक्ति जिन्होंने इस कला का अन्वेषण किया, पिंगल और चलित थे। इस विषय पर अनेक ग्रंथ हैं जिनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध ग्रंथ 'गैसित' है जिसका नाम उसके लेखक पर ही पड़ गया जो इतना प्रख्यात था कि समस्त छंदशास्त्र ही उसके नाम से जाना जाता है। अन्य ग्रंथ 'मृगलांछन', 'पिंगल' और 'औलियान्द' के हैं। लेकिन मैंने इनमें से कोई ग्रंथ भी नहीं देखा है, न ही मुझे 'ब्रह्म सिद्धांत' के उस अध्याय की अधिक जानकारी है जिसमें छंदशास्त्र संबंधी गणना का विवेचन है। इसलिए मेरा यह दावा नहीं है कि मुझे उनके छंदशास्त्र का सम्यक् ज्ञान है। फिर भी मैं यह उचित नहीं समझता कि एक ऐसे विषय को छोड़कर आगे बढ़ जाऊं जिसकी मुझे सतही जानकारी है और इसलिए मैं उसकी चर्चा तब तक के लिए स्थगित करना भी नहीं चाहता जब तक कि मैं उसमें निष्णात न हो जाऊं।

लघु और गुरु नामक शब्दों का अर्थ

वर्णों (गण छंद) की गणना करते समय वे वैसे ही अंकों का प्रयोग करते हैं जिनका प्रयोग अलखलील इब्न अहमद और हमारे दूसरे छंदशास्त्रियों ने स्वरविहीन व्यंजन और स्वरयुक्त व्यंजनों के निर्देश के लिए किया है, यथा ये दो

चिह्न | और > जिनमें से पहला लघु (हलका) और दूसरा गुरु (भारी) कहलाता है। गणना (मात्रा छंद) करते समय गुरु लघु का दुगुना माना जाता है और उसके लिए दो लघु का प्रयोग किया जाता है।

इसके अतिरिक्त उनका एक वर्ण ऐसा है जिसे वे दीर्घ कहते हैं जिसका नाप या छंद-गणना एक गुरु के बराबर होती है। मेरे विचार में यह ऐसा वर्ण है जिसमें दीर्घ स्वर (जैसे, का की कू) जुड़ा हुआ है। लेकिन यहां मैं यह भी स्वीकार कर लूं कि इस समय तक मैं लघु और गुरु—इन दोनों के स्वरूप के बारे में स्पष्टत: समझ नहीं पाया हूं कि अरबी में उसके समान तत्वों का निर्देश करके उन्हें स्पष्ट कर सकूं, लेकिन इसके बावजूद मैं यह समझता हूं कि लघु का अर्थ स्वरविहीन व्यंजन नहीं है और न ही गुरु का अर्थ स्वरयुक्त व्यंजन है, बल्कि इसके विपरीत मेरे विचार में लघु का अर्थ है ह्रस्व स्वरयुक्त व्यंजन (जैसे—क, कि, कु) और गुरु का अर्थ है ऐसा व्यंजन जो स्वरविहीन व्यंजन से युक्त है (जैसे—कत्, कित्, कुत्) जैसा कि अरबी छंदशास्त्र में भी एक तत्व है जो सहब कहलाता है (अर्थात्—या 'व' एक दीर्घ वर्ण जिसका स्थान दो ह्रस्व वर्ण ले सकते हैं)। मुझे लघु की पूर्वोल्लिखित परिभाषा के संबंध में जो संदेह हुआ था उसका यही कारण था क्योंकि हिन्दू एक के बाद दूसरे अनेक लघुओं का निर्बाध रूप से प्रयोग करते हैं। अरब दो स्वरहीन व्यंजनों का एक के बाद दूसरे के क्रम में उच्चारण करने में असमर्थ हैं लेकिन दूसरी भाषाओं में यह संभव है।

···इसके अलावा यद्यपि शब्द में प्रारंभ में किसी स्वरविहीन व्यंजन का उच्चारण करना कठिन होता है लेकिन हिन्दुओं की अधिकांश संज्ञाएं यदि स्वर-विहीन व्यंजनों के साथ न भी लें तो भी ऐसे व्यंजनों से शुरू होती हैं जिनके बाद केवल 'स्क्व' जैसी स्वर-ध्वनि होती है। यदि इस प्रकार का व्यंजन किसी पद्य के आरंभ में आए तो वे उसकी गणना नहीं करते क्योंकि गुरु के नियम के अनुसार उसमें स्वरविहीन व्यंजन स्वर के पहले नहीं बल्कि उसके बाद आना चाहिए (काट, कीट, कूट)।

मात्रा की परिभाषा

इससे भी आगे चलें तो जैसा कि हमारे यहां के लोगों ने चरणों ही से कुछ विशेष वर्ण-योजन या प्रतीक बना लिये हैं जिनके अनुसार पद्य-रचना की जाती है और एक चरण के घटकों का निर्देश करने के लिए कुछ संकेत निश्चित कर लिये हैं जैसे स्वर के बिना या उससे युक्त व्यंजन, उसी प्रकार हिन्दू भी उन चरणों का उन चरणों का निर्देश करने के लिए जो लघु और गुरु से मिलकर बनते हैं चाहे लघु पहले और गुरु बाद में हो या इसके विपरीत, कुछ नामों का प्रयोग इस तरह करते हैं कि उनकी मात्राएं हमेशा समान हों चाहे वर्णों

की संख्या भिन्न हो जाए। इन नामों के द्वारा वे एक विशेष परंपरागत छंद-शास्त्रीय अन्विति (अर्थात् एक विशिष्ट चरण) का निर्देश करते हैं। माप से मेरा अभिप्राय यह है कि लघु की एक मात्रा और गुरु की दो मात्राएं मानी जाती हैं। यदि लिखने में उनका आशय चरण से हो तो उनसे एक वर्ण का माप भर मालूम होता है, उनकी संख्या नहीं जैसे (अरबी में) द्विव्यंजन (क्क) को स्वरविहीन व्यंजन +स्वरयुक्त व्यंजन गिना जाता है और तनवीन (कुन) के आगे आने वाला व्यंजन स्वरयुक्त व्यंजन+स्वरविहीन व्यंजन गिना जाता है, जबकि लिखने में दोनों को एक ही तरह से दर्शाया जाता है (अर्थात् संबद्ध व्यंजन के चिह्न के द्वारा)।

गुरु और लघु के नाम

यदि केवल लघु और गुरु को ही लें तो उनके विभिन्न नाम हैं—पहला : ल, कलि, रूप, चमर और ग्रह; बाद का, ग, निवृ और आधा अ म स क। बाद का नाम यह दर्शाता है कि एक पूर्ण अ म स क दो गुरु या उनके समकक्ष के बराबर है। उन्होंने इन नामों को सिर्फ इसलिए गढ़ लिया है कि उनकी छंदशास्त्र की पुस्तकों को पद्यबद्ध करने में सुविधा हो। इसी प्रयोजन के लिए उन्होंने इसके अधिक नाम गढ़ लिये हैं कि कोई-न-कोई तो उनके छंद में ठीक बैठेगा ही।

[अल-बिरूनी ने एक अकेले चरण को परिभाषित किया है और चरणों के विन्यास के संबंध में हरिभट्ट के एक कोश का उद्धरण पृ० 140-42 पर दिया है।]

पाद

जिस तरह अरबी का छंद दो अर्द्धालियों में बंटा हुआ होता है, एक अरुज़ अर्थात् पहली अर्द्धाली का अंतिम चरण और दूसरा दर्ब अर्थात् दूसरी अर्द्धाली का अंतिम चरण, उसी प्रकार हिन्दुओं के पद्य भी दो अर्द्धालियों में विभक्त है जिनमें से प्रत्येक को पाद कहा जाता है...।

आर्य छंद

छंद तीन या अधिकतः चार पादों में विभक्त किया जाता है। कभी-कभी वे पद्य के मध्य में एक पांचवां पाद भी जोड़ देते हैं। पादों में कोई तुक तो नहीं होती, अलबत्ता एक प्रकार का छंद जरूर होता है जिसमें 1 और 2 पाद एक ही व्यंजन या वर्ण पर समाप्त होते हैं मानों तुकांत हों और पाद 3 और 4 का अंत भी एक ही व्यंजन या वर्ण पर होता है। छंद का यह प्रकार 'आर्य' कहलाता है। पाद के अंत में लघु गुरु बन जाता है, हालांकि सामान्य रूप से यह छंद लघु पर ही समाप्त होता है।

हिन्दुओं के विभिन्न काव्य-ग्रंथों में अनेक छंदों का प्रयोग हुआ है। पंच-पदीय छंद में पांचवां पद तीसरे और चौथे पाद के बीच में रखा जाता है। छंदों के नाम वर्णों की संख्या के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं, लेकिन साथ ही वे बाद में आने वाले छंदों पर भी निर्भर रहते हैं। इसका कारण यह है कि वे नहीं चाहते कि एक लंबे काव्य के सभी पद एक ही छंद में हों। इसीलिए वे एक ही कविता में अनेक छंदों का प्रयोग करते हैं ताकि वह ऐसा लगे जैसे रेशम के टुकड़े में बेल-बूटे बनाए गये हैं।

[हिन्दुओं और अरबों की पाद-अंकन की पद्धतियों मे अंतर का उल्लेख पृ० 144 पर किया गया है।]

मैं एक बार पहले भी अपनी सफाई में यह कह चुका हूं और उसी को फिर दोहराता हूं कि इस शास्त्र में मैं अपनी अल्पज्ञता के कारण पाठक को विषय की भरपूर जानकारी देने में असमर्थ हूं। फिर भी मैंने इस पर काफी परिश्रम किया है, हालांकि मैं भली प्रकार जानता हूं कि मैं इस संबंध में बहुत थोड़ी जानकारी ही दे सकता हूं।

वृत्त छंद

वृत्त प्रत्येक चतुष्पदी छंद पर लागू होता है जिसमें छंदशास्त्र के संकेत और वर्णों की संख्या एक-दूसरे के समान होती है। इसका आधार पादों में ही एक प्रकार की अनुरूपता होती है ताकि यदि आप एक पाद जान लें तो आपको दूसरों का भी पता चल जाता है क्योंकि वे ऐसे ही होते हैं। इसके अलावा यह भी नियम है कि एक पाद में चार वर्णों से कम नहीं हो सकते क्योंकि वेद में ऐसा कोई पाद नहीं है जिसमें इससे कम वर्ण हों। यही कारण है कि एक पाद के लिए वर्णों की न्यूनतम संख्या चार और अधिकतम छब्बीस है। परिणामस्वरूप वृत्त छंद के तेईस प्रकार हैं।

[वृत्त छंद के आनुषंगिक तेईस प्रकार पृ० 145-46 पर गिनाए गये हैं।]

···हमने जो यहां भारतीय छंदशास्त्र की व्याख्या पर इतना परिश्रम किया है उसका उद्देश्य श्लोकों के संबंध में नियम स्थिर करना है क्योंकि उनके अधिकांश ग्रंथों की रचना श्लोकों में ही हुई है।

श्लोक का सिद्धांत

श्लोक का संबंध चतुष्पाद छंद से है। प्रत्येक पाद में आठ वर्ण होते हैं जो हर पाद में भिन्न होते हैं। चार पादों में प्रत्येक पाद का अंतिम वर्ण एक ही होना चाहिए जैसे गुरु। इसके अतिरिक्त प्रत्येक पाद का पांचवां वर्ण हमेशा लघु होना चाहिए और छठा गुरु होना चाहिए। सातवां वर्ण दूसरे और चौथे पादों में लघु

और पहले तथा तीसरे पादों में गुरु होगा। अन्य वर्णों का होना मात्र संयोग या लेखक की अपनी तरंग पर निर्भर होता है।

[हिन्दू अंकगणित में छंदोविधान का जिस प्रकार प्रयोग करते हैं उसे दर्शाते हुए ब्रह्मगुप्त का एक उद्धरण दिया गया है। उद्धरण के अंत में अल-विरूनी ने इस बात पर खेद व्यक्त किया है कि वह उपर्युक्त ग्रंथ के "केवल दो पन्ने" देख पाया है और उसने यह आशा व्यक्त की है कि इस विषय पर और अधिक जानकारी आगे चलकर प्राप्त करेगा। उसने यह भी उल्लेख किया है कि "जहां तक मेरा अनुमान है" यूनानी भी अपनी कविता में वैसे ही पादों का प्रयोग करते थे जैसे हिन्दू करते हैं। पृ० 147-51]

चौदहवां अध्याय

गणित-ज्योतिष, फलित-ज्योतिष आदि अन्य शास्त्रों पर हिन्दुओं का साहित्य

शास्त्रों की प्रगति के लिए समय प्रतिकूल था

शास्त्रों की संख्या बहुत बड़ी है और यदि साधारण जनता का ध्यान उनकी ओर ऐसे युग में आकृष्ट किया जाए जबकि उनका प्रभुत्व स्थापित हो चुका है और सभी का उनके प्रति अनुकूल दृष्टिकोण है—जब लोग शास्त्रों का ही नहीं बल्कि शास्त्रियों का भी समुचित आदर करते हैं—तो उनकी संख्या और भी बढ़ जाती है। सबसे पहले तो यह उन लोगों का कर्त्तव्य है जो उन पर शासन करते हैं अर्थात् राजा और राजकुमार। क्योंकि केवल वे ही विद्वानों का ध्यान जीवन की आवश्यकताओं के लिए दैनंदिन चिंताओं से मुक्त कर सकते हैं और उन्हें इसके लिए प्रेरित कर सकते हैं कि वे अपनी शक्ति को अधिक ख्याति और लोकप्रियता प्राप्त करने की ओर लगाएं क्योंकि यश की इच्छा ही मानव-स्वभाव का मूल तत्व है।

लेकिन आज के युग में ऐसा नहीं होता। यह युग पहले के बिलकुल प्रतिकूल है और इसीलिए इस युग में किसी नये शास्त्र या नये प्रकार के अनुसंधान का उभरना असंभव है। आज शास्त्र के नाम पर जो कुछ है भी वह बीते हुए अच्छे युग के अल्प अवशेष मात्र हैं।

यदि कोई शास्त्र या विचार कभी समस्त धरती को वश में कर लेता था तो हर जाति उससे लाभान्वित होती थी। और यही हिन्दू भी करते हैं। काल-चक्र के बारे में उनकी जो धारणा है उसमें कोई विशेष बात नहीं है बल्कि वह तो शास्त्रीय प्रेक्षण के परिणामों के अनुसार होता है।

सिद्धांत

खगोलशास्त्र उनमें बहुत अधिक लोकप्रिय है क्योंकि उनके धार्मिक कार्य उसके साथ विभिन्न प्रकार से जुड़े हुए हैं। यदि कोई व्यक्ति खगोलशास्त्री बनना चाहता

है तो उसके लिए न केवल वैज्ञानिक अथवा गणित-ज्योतिष बल्कि फलित-ज्योतिष जानना भी जरूरी है। इस विषय पर मुसलमानों में जो पुस्तक 'सिदहिंद'[23] के नाम से प्रसिद्ध है उसी को वे सिद्धांत अर्थात् सीधा—न टेढ़ा और न परिवर्तनशील —कहते हैं। वे गणित-ज्योतिष के हरेक मानक ग्रंथ को यही नाम देते हैं, यहां तक कि उन ग्रंथों को भी जो हमारे मतानुसार हमारे तथाकथित 'ज़िज' अर्थात् गणित-ज्योतिष की पुस्तिकाओं के स्तर की भी नहीं हैं। उनके यहां पांच सिद्धांत हैं :

1. 'सूर्य-सिद्धांत'—अर्थात् सूर्य के सिद्धांत, जिसकी रचनाकार लता है।

2. 'वशिष्ठ-सिद्धांत'—यह नाम सप्तर्षि के एक ग्रह पर पड़ा और इसकी रचना विष्णुचंद्र ने की है।

3. 'पुलिश-सिद्धांत'—इसका यह नाम साइंत्रा नगर के यूनानी पौलिश[24] पर पड़ा है; यह नगर मेरे विचार में सिकंदरिया ही है, रचनाकार है पुलिश।

4. 'रोमक-सिद्धांत'—यह नाम रूम यानी रोमन साम्राज्य की प्रजा पर रखा गया है जिसकी रचना श्री श्रीषेण ने की है।

5. 'ब्रह्म-सिद्धांत—इसका नाम ब्रह्मा पर पड़ा है और इसकी रचना ब्रह्मगुप्त[25] ने की है जो विष्णु का पुत्र था और मुल्तान तथा अनहिलवाड़ा के बीच और अनहिलवाड़ा से 16 योजन की दूरी पर स्थित भिल्लमाल नामक नगर का निवासी था।

इन पुस्तकों के लेखकों ने एक ही स्रोत अर्थात् 'पितामह' को अपनाया है जिसका यह नाम आदि पुरुष यानी ब्रह्मा के नाम पर पड़ा है।

वराहमिहिर ने खगोलविज्ञान पर एक छोटी-सी पुस्तिका 'पंच सिद्धांतिका' की रचना की है जिसके नाम ही से यह द्योतित होता है कि इस पुस्तिका में पूर्ववर्ती पांच सिद्धांतों का सार आ गया होगा। लेकिन ऐसा है नहीं और न ही यह उनसे इतनी बेहतर है कि इसे उन पांचों की तुलना में सबसे सही कहा जा सके। इसलिए इसके नाम से सिवाय इसके कुछ और पता नहीं चलता कि सिद्धांतों की संख्या पांच है।

···अभी तक मैं पुलिश और ब्रह्मगुप्त की पुस्तकों के अलावा इनमें से कोई भी पुस्तक प्राप्त नहीं कर सका हूं। मैंने उनका अनुवाद शुरू तो कर दिया है लेकिन अभी तक मेरा काम पूरा नहीं हो पाया है। तब तक मैं यहां 'ब्रह्म-सिद्धांत' की विषय-सूची दे देता हूं जो निश्चय ही उपयोगी और शिक्षाप्रद रहेगी।

ब्रह्म-सिद्धांत के विषय

'ब्रह्म-सिद्धांत' के चौबीस अध्यायों की विषय-सूची :

1. भू-मंडल की प्रकृति और आकाश तथा पृथ्वी का आकार।

2. ग्रहों की परिक्रमा; काल-गणना अर्थात् विभिन्न अक्षांश और देशांतरों के लिए समय का किस प्रकार पता लगाया जाए; ग्रहों के माध्यमों का किस प्रकार पता लगाया जाए और किसी वृत्तांश का ज्या कैसे जाना जाए।

3. ग्रहों के स्थानों का शोधन।

4. तीन निर्मेय : छाया कैसे मालूम की जाए, दिन के बीते हुए भाग और आरोहण का कैसे पता चलाया जाए और एक के द्वारा दूसरे को कैसे जाना जाए।

5. ग्रहों का उस समय दृष्टिगोचर होना जब वे सूर्य की किरणों से बाहर आते हैं और उनका सूर्य की किरणों में प्रवेश के बाद अदृश्य हो जाना।

6. चंद्रमा का पहले-पहल दिखाई देना और उसके उभयाग्र।

7. चंद्र ग्रहण।

8. सूर्य ग्रहण।

9. चंद्रमा का प्रतिबिंब।

10. ग्रहों का संयम और युति।

11. ग्रहों के अक्षांश।

12. खगोलशास्त्र की पुस्तकों और पुस्तिकाओं के पाठों में शुद्ध और विकृत अंशों में भेद करने के लिए आलोचनात्मक अन्वेषण।

13. गणित; समतल नाप और सजातीय विषय।

14. ग्रहों के माध्यों की वैज्ञानिक गणना।

15. ग्रहों के सही स्थानों की वैज्ञानिक गणना।

16. तीन निर्मेयों का (देखिए : चौथा अध्याय) वैज्ञानिक परिकलन।

17. (सूर्य-चंद्र) ग्रहणों का विचलन।

18. बालचंद्र के उदय का वैज्ञानिक परिकलन और उसके उभयाग्र।

19. कुट्टक अर्थात् किसी चीज़ को पीसना-कूटना। ऐसे पदार्थों को कूटने की जिनसे तेल निकलता है यहां अत्यधिक सूक्ष्म और विस्तृत अनुसंधान के साथ तुलना की गयी है। इस अध्याय में बीजगणित और उससे संबद्ध विषयों का विवेचन किया गया है; इसके अलावा इसमें ऐसी बहुमूल्य टिप्पणियां भी दी गयी हैं जो कमोबेश गणित से संबंध रखती हैं।

20. छाया या प्रतिबिंब।

21. कविता के मापों का परिकलन और छंदशास्त्र।

22. काल-चक्र और उसके प्रेक्षण के यंत्र।

23. समय और समय के चार मान—सौर्य, नागर, चांद्र और नाक्षत्र।

24. इस प्रकार के छंदशास्त्रीय ग्रंथों में संख्यात्मक अंकन।

ये चौबीस अध्याय हैं जैसा कि लेखक ने स्वयं कहा है, लेकिन एक

पच्चीसवां भी है जिसका शीर्षक है 'ध्यान-ग्रह-अध्याय' जिसमें उसने अनुमान से निर्मेयों का समाधान करने का प्रयत्न किया है, गणितीय परिकलन से नहीं। मैंने इस अध्याय को इस सूची में इसलिए नहीं गिनवाया है कि उसने जो दावे किए हैं उनका गणितज्ञों ने खंडन किया है। मेरा विचार है कि उसने ये स्थापनाएं इसलिए की हैं कि उनसे सभी खगोलशास्त्रीय पद्धतियों का तात्विक अनुपात निकल आए वरना इस विज्ञान के किसी भी निर्मेय का भला गणित से इतर किसी अन्य विपय के द्वारा कैसे समाधान किया जा सकता है ?

तंत्र और करण साहित्य

वे पुस्तकें जो सिद्धांत के स्तर की नहीं होतीं तंत्र या करण कहलाती हैं। पहले शब्द का अर्थ है किसी शासक के अधीन राज्य करना और दूसरे का अर्थ है सिद्धांत का अनुसरण करना। शासक से उनका तात्पर्य होता है आचार्य अर्थात् ऋपि, संन्यासी, ब्रह्मा के अनुयायी।

'भानुयशस्' के 'रसायन-तंत्र' के अतिरिक्त दो 'तंत्र' और प्रसिद्ध हैं—एक आर्य-भट्ट-रचित और दूसरा वलभद्र-लिखित। रसायन के अर्थ के बारे में हम एक अलग अध्याय में (सत्तरहवां अध्याय) चर्चा करेंगे।

'करणों' के संबंध में एक [शब्द नहीं उभरा] है जो उसी के नाम से रचा गया ग्रंथ है और एक दूसरा ब्रह्मगुप्त-रचित 'करण-खांड-खाद्यक' है। अंतिम शब्द 'खांड' का अर्थ है एक प्रकार की मिठाई। उसकी पुस्तक को यह नाम किस कारण से दिया गया इसके बारे में मुझे जो बताया गया वह इस प्रकार है :

सुग्रीव नामक एक बौद्ध ने खगोलशास्त्र पर एक पुस्तिका लिखी जिसका नाम उसने 'दधि सागर' रखा; और उसके एक शिष्य ने भी उसी प्रकार की एक पुस्तक लिखी जिसका नाम था 'कुरबावय' अर्थात् धान्य-पर्वत। बाद में उसने एक और पुस्तक लिखी जिसका नाम रखा 'लवण-मुष्टि' अर्थात् मुट्ठी भर नमक। इसीलिए ब्रह्मगुप्त ने अपनी पुस्तक का नाम रखा 'खाद्यक' जिसका उद्देश्य यह बताना था कि इस विज्ञान पर जो भी ग्रंथ लिखा जाए उसके नाम में सभी प्रकार की खाद्य सामग्री (जैसे दही, चावल, नमक आदि) का उल्लेख किया जाए।

'करण-खांड-खाद्यक' नामक पुस्तक में आर्य-भट्ट के सिद्धांत का प्रतिपादन मिलता है। इसीलिए ब्रह्मगुप्त ने बाद में एक और पुस्तक लिखी जिसे उसने 'उत्तर-खांड-खाद्यक' यानी 'खांड-खाद्यक' की व्याख्या नाम दिया। इस पुस्तक के बाद एक और पुस्तक लिखी गयी जिसका नाम था 'खांड-खाद्यक टिप्प' जिसके बारे में मुझे यह जानकारी नहीं है कि उसका रचयिता ब्रह्मगुप्त है या कोई और। उसमें 'खांड-खाद्यक' में प्रयुक्त परिकलनों के स्वरूप के कारण स्पप्ट किए गये हैं। मेरा खयाल है कि यह वलभद्र की रचना है।

इसके बाद खगोलविज्ञान पर विजयनंदिन-रचित एक पुस्तिका है 'करण-तिलक।' इसका लेखक बनारस शहर का एक भाष्यकार था। दूसरी है 'करण-सार' जिसका रचयिता नगरपुरा के भदत्त (मिहृदत्त) का पुत्र वित्तेश्वर है। एक अन्य पुस्तिका भानुयशस (?) द्वारा रचित है जिसका नाम है 'करण-पर-तिलक' जिसमें, जैसा कि मुझे बताया गया है, यह व्याख्या की गयी है कि तारों के शुद्ध किए हुए स्थान एक-दूसरे से किस तरह जाने-जाते हैं।

एक पुस्तक कश्मीर के उत्पल की है जिसका नाम है 'राहुनरा-करण' (?) अर्थात् करणों का भंग; एक और है 'करण-पात', अर्थात् करणों की हत्या। इसके अतिरिक्त एक पुस्तक 'करण-चूड़ामणि' भी है जिसके लेखक के बारे में मुझे कोई जानकारी नहीं है।

इसी प्रकार की और भी पुस्तकें हैं जिनके मिलते-जुलते नाम हैं जैसे, मनु-रचित 'मानस' और उत्पल द्वारा उसकी टीका; लघु 'मानस' जो पहले 'मानस' का पांचाल (दक्षिण भारतीय) द्वारा लिखा सार है; 'दशगीतिका' जिसका रचयिता आर्यभट्ट है, उसी लेखक की पुस्तक 'आर्यष्टसत; 'लोकानंद, जिसका नाम लेखक के नाम पर पड़ा है; भट्टिला (?) यह भी इसी नाम के लेखक ब्राह्मण भट्टिला की है। इस प्रकार की पुस्तकें अनेक हैं।

फलित-ज्योतिष साहित्य, तथाकथित 'संहिताएं'

जहां तक फलित-ज्योतिष-विषयक साहित्य का संबंध है, निम्नलिखित लेखकों में प्रत्येक ने एक तथाकथित संहिता की रचना की है, यथा :

मांडव्य	बलभद्र
पराशर	दिव्यतत्त्व
गर्ग	वराहमिहिर
ब्रह्मा	

'संहिता' का अर्थ है संगृहीत। ये ऐसे ग्रंथ होते हैं जिनमें हरेक विषय की कोई बात होती है, उदाहरण के लिए किसी यात्रा के संबंध में मौसम-विज्ञान-संबंधी घटनाओं के आधार पर दी गयी पूर्व-सूचनाएं; राजवंशों के भाग्य के संबंध में भविष्यवाणियां; शुभ और अशुभ वस्तुओं का ज्ञान; हस्तरेखाएं देखकर भविष्य बताना; स्वप्नों की व्याख्या और पक्षियों के उड़ने या उनकी आवाजों से शकुन-विचार करना। ऐसा इसलिए होता है कि हिन्दू लेखक ऐसी बातों में विश्वास रखते हैं। उनके यहां के खगोलशास्त्रियों में यह प्रथा है कि वे अपनी संहिताओं में संपूर्ण मौसम-विज्ञान और ब्रह्मांड-विज्ञान का निरूपण करते हैं।

'जातक' अर्थात् जन्मपत्री संबंधी पुस्तकें

निम्नलिखित लेखकों में से प्रत्येक ने एक-एक पुस्तक 'जातक' यानी जन्म-पत्री-सम्बन्धी पुस्तक की रचना की है :

पराशर	जीवशर्मन
सत्य	माऊ, यूनानी
मणित्थ	

वराहमिहिर ने दो 'जातकों' की रचना की है—एक संक्षिप्त और दूसरा बृहत्। इनमें से 'बृहत् जातक' की व्याख्या बलभद्र ने की है और संक्षिप्त का मैंने अरबी में अनुवाद किया है।...वराहमिहिर की कई छोटी-छोटी पुस्तकें हैं यथा, 'शत पंचशिका', छप्पन अध्याय फलित-ज्योतिष पर; 'होरा पंच-होत्रीय' (?) भी उसी विषय पर है...।

यात्रा का विवेचन 'योगयात्रा' नामक पुस्तक में और 'तिकनी (?)-यात्रा में किया गया है, विवाह और विवाह-संस्कार 'विवाह-पटल' और वास्तुशिल्प का उल्लेख [शब्द नहीं उभरा] पुस्तक में किया गया है।

पक्षियों की उड़ान या आवाज़ों से शुभाशुभ बताने की कला और किसी पुस्तक में सूई बेंधकर भविष्यवाणी करने की कला का निरूपण 'श्रुधव' (श्रोतव्य) नामक पुस्तक में उपलब्ध है जिसकी तीन भिन्न प्रतियां मौजूद हैं।

आयुर्विज्ञान संबंधी साहित्य

आयुर्विज्ञान विज्ञान की उसी शाखा के अंतर्गत आता है जिसमें फलित-ज्योतिष आता है लेकिन उनमें एक अंतर यह है कि फलित-ज्योतिष का हिन्दुओं के धर्म से निकट संबंध है। उनका एक ग्रंथ है जिसका नाम उसके रचयिता 'चरक'[27] पर ही रखा गया है और इसे वे आयुर्विज्ञान-संबंधी समस्त साहित्य में उत्कृष्ट मानते हैं। उनके विश्वास के अनुसार चरक अंतिम द्वापर युग में एक ऋषि हुआ है जिसका उस युग में अग्निवेश नाम था लेकिन बाद में जब आयुर्विज्ञान के प्राथमिक तत्व कुछ ऋषियों द्वारा जो सूत्र की संतान थे निर्धारित किए गये तो उसका नाम चरक पड़ गया जिसका शाब्दिक अर्थ है बुद्धिमान। इन ऋषियों को यह ज्ञान इंद्र से मिला, इंद्र को अश्विनी से जो देवों के दो वैद्यों में से एक था और अश्विनी ने उसे प्रजापति अर्थात् ब्रह्मा (आदिपुरुष) से प्राप्त किया था। इस ग्रंथ का अरबी अनुवाद बारमिसिडीज़[28] वंश के राजाओं ने कराया था।

'पंचतंत्र'

हिन्दू विज्ञान और साहित्य की अन्य अनेक शाखाओं को भी सीखते हैं और उनके साहित्य की कोई सीमा नहीं है। लेकिन मैं अपने ज्ञान-बल पर उसे समझ

नहीं सका। काश ! मैं 'पंचतंत्र' नामक पुस्तक का अनुवाद कर सकता जिसे हमारे यहां 'कलील और दिम्ना'[29] की किताब कहा जाता है। इसके अनुवाद विभिन्न भाषाओं—फ़ारसी, हिन्दी और अरबी—में उपलब्ध हैं लेकिन जिन लोगों ने इसके अनुवाद किए हैं उन पर सहज ही यह संदेह होता है कि उन्होंने मूल पाठ को बदल दिया होगा। उदाहरण के लिए, अब्दुल्ला अल मुकफ़्फ़ा[30] ने अपने अरबी अनुवाद में एक अध्याय बरज़वीया के बारे में जोड़ दिया है जिसका उद्देश्य उन लोगों के मन में संदेह उत्पन्न करना, जिनका धार्मिक विश्वास दुर्बल है और उन्हें अपनी ओर करके मानिकीवादियों के धर्म-सिद्धांतों का अनुकरण करने के लिए तैयार करना रहा होगा। और यदि उस पर संदेह किया जा सकता है—क्योंकि उसने मूल पाठ में जिसका उसे केवल अनुवाद करना था—कि उसने कुछ जोड़ दिया है तो अनुवादक की हैसियत से वह संदेह से परे नहीं है।

पंद्रहवां अध्याय

हिन्दू माप-विद्या का विवरण जिसका उद्देश्य उन सभी प्रकार के मापों को समझने में सुविधा प्रदान करना है जो इस पुस्तक में उल्लिखित हैं

हिन्दुओं की भार-पद्धति

गणना मनुष्य का सहजात गुण है। किसी भी वस्तु का नाप उसकी सजातीय वस्तु से तुलना करने पर ज्ञात होता है और उसे सभी लोग एक इकाई मान लेते हैं। इसके द्वारा उस वस्तु और इस मानक के बीच का अंतर मालूम हो जाता है।

वज़न करके लोग भारी पिंडों का भार जान लेते हैं और ऐसा तब होता है जब वे देखते हैं कि तराज़ू के दोनों पलड़े एक ही सतह पर आ जाते हैं। हिन्दुओं को तुला या तराज़ू की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि उनके दिरमों का निर्धारण संख्या से होता है, वज़न से नहीं और उनके भिन्नों की गणना भी इतने-इतने 'फ़लस्' मानकर कर ली जाती है। दिरम और फ़लस् दोनों के सिक्के भी नगरों और मंडलों के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं। वे सोने को भी—जब वह अपनी प्रकृत अवस्था में होता है या गढ़ा हुआ होता है जैसे आभूषणादि बनाने के लिए —तुला पर तोलते हैं किन्तु यदि उसके सिक्के बनाए गये हों तो ऐसा नहीं करते। वे सुवर्ण (स्वर्ण-भार) का प्रयोग करते हैं जो 1-1/3 तोला होता है। उनके यहां प्राय: तोले का ही इस्तेमाल होता है जैसे हमारे यहां 'मिस्काल' का होता है। जहां तक मैं उन्हीं से जान पाया हूं, वह हमारे तीन दिरमों के बराबर होता है यानी दस तोले सात मिस्काल के बराबर होते हैं।

इस प्रकार 1 तोला=2-1/10 मिस्काल

तोले का सबसे बड़ा भिन्न 1/12 होता है, जिसे माशा कहते हैं।

अत: 16 माशे=1 सुवर्ण।

इसके अलावा,

1 माशा = 4 अंडी (अरंड) अर्थात् गौड़ नामक वृक्ष का बीज।
1 अंडी = 4 यव (जौ)।
1 यव = 6 कल।
1 कल = 4 पाद।
1 पाद = 4 मुद्रि (?)।

···चूंकि माप का मात्रक कोई प्राकृत मात्रक नहीं होता बल्कि सामान्य सहमति से माना गया एक रूढ़िगत मात्रक होता है इसलिए इसका व्यावहारिक तथा काल्पनिक दोनों प्रकार से विभाजन किया जा सकता है। इसके उप-विभाजन और भिन्न एक ही काल में विभिन्न स्थानों पर और एक ही देश में भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न होते हैं। उनके नाम भी स्थान और काल के अनुसार अलग-अलग होते हैं और ये परिवर्तन या तो भाषाओं के सुव्यवस्थित विकास के कारण या संयोगवश हो जाते हैं।

एक व्यक्ति ने जो सोमनाथ के आसपास रहता था मुझे बताया कि उनका 'मिस्क़ाल' हमारे समान ही होता है:

1 मिस्क़ाल = 8 रुवु; 1 रुवु = 2 पली; 1 पली = 16 यव और तदनुसार 1 मिस्क़ाल = 8 रुवु = 16 पली = 256 यव।

[वराहमिहिर और चरक के उद्धरण दिए गये हैं। वराहमिहिर द्वारा मूर्तियों के निर्माण के लिए विहित मापों के आधार पर निश्चित मानक भी पृ० 162-64 पर दिए गये हैं।]

हिन्दुओं की तुला

हिन्दू जिन तुलाओं में वस्तुओं को तोलते हैं वे···हैं और इसकी तुला किसी चिह्न या रेखा पर नीचे-ऊपर होती है किंतु बाट अपने स्थान पर स्थिर रहते हैं। इसीलिए उसे तुला कहते हैं। पहली रेखा का अर्थ होता है 1 से 5 तक का और इसी प्रकार दस तक का भार; नीचे की रेखाएं दस-दस का भार बताती हैं अर्थात् 10, 20, 30 आदि···।

हिन्दुओं का बाट 'भार' कहलाता है जिसका उल्लेख सिंध की विजय से संबंधित ग्रंथों में मिलता है। वह भार 2000 पल के बराबर होता है क्योंकि वे इसे 100 × 20 पल बताते हैं और जो लगभग एक बैल के वज़न के बराबर होता है।

जहां तक हिन्दुओं के भारों का संबंध है, मैं इतना ही जान पाया हूं।

शुष्क मापों से माप करते हुए लोग किसी वस्तु का पिंड या परिणाम निर्धारित करते हैं यदि वह किसी ऐसे आकार में समाहित हो सके जिसके बारे में यह अनुमान लगाया जा चुका है कि उसमें इस परिमाण में कोई वस्तु आ सकती है।

इससे यह समझा जाता है कि जिस प्रकार वस्तुओं को उस माप में रखा या भरा गया है, जिस प्रकार से उनकी सतह का निर्धारण किया गया है और जिस प्रकार से कुल मिलाकर उन्हें मापा-तोला जाता है वे हर प्रकार से मिलते-जुलते हैं। यदि दो वस्तुएं जो एक ही प्रकार की हैं तोली जाएं तो वे न केवल परिमाण में बल्कि भार में भी समान निकलती हैं; लेकिन यदि वे एक ही प्रकार की न हों तो उनका आकार एक हो सकता है लेकिन वज़न या भार नहीं।

उनके यहां एक माप होता है, जिसे बीसी (? सीबी) कहते हैं जिसका कन्नौज और सोमनाथ के हर व्यक्ति ने ज़िक्र किया।

कन्नौजवासियों के मतानुसार : 4 बीसी = 1 प्रस्थ,
1/4 बीसी = 1 कुदाव।

सोमनाथवासियों के मतानुसार : 16 बीसी = 1 पांति,
12 पांति = 1 मोरु···।

विस्तार-कलन

···विस्तार-कलन रेखाओं द्वारा अंतर का और समतल द्वारा सतह का निर्धारण मापा जाता है। समतल स्थान का नाप उसी के एक भाग से किया जाना चाहिए लेकिन विस्तार-कलन यदि रेखाओं के द्वारा किया जाए तो वह भी वही प्रयोजन सिद्ध करेगा जिस प्रकार रेखाएं समतल स्थान की सीमाओं का निर्धारण करती हैं।

[विस्तार नापने के मात्रकों के संबंध में वराहमिहिर का उद्धरण दिया गया है। ये निम्नलिखित हैं :]

जौ के 8 दाने इकट्ठे रखे जाएं तो = 1 अंगुल
4 अंगुल = 1 रम
24 अंगुल = 1 हत्था या दस्ता
4 गज = 1 धनु = 6 फुट
40 धनु = 1 नलवा
25 नलवा = 1 क्रोश।

इससे यह ज्ञात हुआ कि 1 क्रोह = 4000 गज और चूंकि हमारा मील भी इतने ही गज़ का होता है इसलिए 1 मील = 1 क्रोह। यूनानी लेखक पुलिश ने भी अपने सिद्धांत में यही बताया है कि 1 क्रोह 4000 गज़ के बराबर होता है।

गज़ 2 मिक़्यास या 24 अंगुल के बराबर होता है क्योंकि हिन्दू शंकु (मिक़्यास) का निर्धारण मूर्ति-अंगुल से करते हैं। सामान्यतः वे मिक़्यास के बारहवें भाग को अंगुल नहीं मानते जैसा कि हम करते हैं बल्कि उनका मिक़्यास हमेशा एक बित्ता होता है। बित्ता वह दूरी है जो हाथ को फैलाने पर अंगूठे से

लेकर कनिष्ठिका के सिरे तक की मानी जाती है और जिसे 'वितस्ति' और 'किष्कु' भी कहते हैं।

चौथी या अनामिका और अंगूठे के सिरे के बीच की दूरी जो दोनों को फैलाने से होती है 'गोकर्ण' कहलाती है।

तर्जनी और अंगुष्ठ के सिरों के बीच की दूरी 'करभ' कहलाती है और उसे वितस्ति के दो-तिहाई भाग के बराबर माना जाता है।

मध्यमा और अंगुष्ठ के सिरों का अंतर 'ताल' कहलाता है। हिन्दुओं का मत है कि मनुष्य का क़द—चाहे वह लंबा हो या ठिगना—उसके ताल से आठ गुना होता है; यही बात लोग पैर के बारे में भी कहते हैं कि उसकी लंबाई मनुष्य के क़द का सातवां भाग होती है।

योजन, मील और फ़रसख़ का परस्पर संबंध

क्रोश का नाम निश्चित करने और यह जान लेने के बाद कि वह हमारे मील के बराबर होता है, पाठक को यह भी मालूम होना चाहिए कि दूरी नापने का भी माप है जिसे वे 'योजन' कहते हैं जो 8 मील या 32,000 गज़ के बराबर होता है। शायद कोई समझे कि 1 क्रोह=1/4 फ़रसख होता है और यह कह दे कि हिन्दुओं का फ़रसख 16,000 गज़ लंबा होता है। लेकिन ऐसा नहीं है। इसके विपरीत 1 क्रोह 1/2 योजन के बराबर होता है। इसी नाप के अनुसार अलफ़ज़ारी ने अपने खगोलविज्ञान के ग्रंथ में पृथ्वी की परिधि ज्ञात की है। उसने इसे 'जुनू' कहा है जिसका बहुवचन है 'अजवान'।

वृत्त की परिधि के संबंध में हिन्दुओं की परिकलन संबंधी मूलभूत स्थापनाएं इस अनुमान पर आधारित हैं कि वह व्यास से तिगुनी होती है। इसी आधार पर 'मत्स्य-पुराण' में सूर्य और चंद्रमा के व्यास का परिकलन योजनों में करने के बाद कहा गया है: "परिधि नाप में व्यास से तिगुनी होती है।"

['मत्स्य-पुराण', 'आदित्य-पुराण' और 'वायु-पुराण' से उद्धरण पृ० 168-69 पर दिए गये हैं।]

सोलहवां अध्याय

हिन्दुओं की लेखन-विधाओं, उनके गणित तथा संबद्ध विषयों तथा उनके कुछ विचित्र रीति-रिवाजों का विवरण

विभिन्न प्रकार की लेखन-सामग्री

जिह्वा वह माध्यम है जिससे वक्ता अपनी बात श्रोता तक पहुंचाता है। इसलिए उसकी क्रिया क्षणिक होती है और इसी लिए अतीत की घटनाओं का विवरण मौखिक परंपरा द्वारा बाद की पीढ़ियों तक और विशेष रूप से ऐसी स्थिति में जबकि उनके बीच लंबे समय का अंतराल हो पहुंचाना असंभव हो जाता। यह मानव-मस्तिष्क द्वारा की गयी एक नयी खोज के ही माध्यम से संभव हो पाया है क्योंकि उसने लिखने की एक ऐसी कला ईजाद कर ली है जिसके द्वारा समाचार दूर-दूर तक इस तरह पहुंच जाते हैं जिस तरह हवाएं पहुंचती हैं और युग-युगांतर तक इस तरह पहुंच जाते हैं जिस तरह मृतकों की आत्माएं फैल जाती हैं। इसलिए अलहम्दोलिल्लाह* जिसने इस सृष्टि की रचना की और प्रत्येक वस्तु सभी के भलाई के लिए बनाई।

हिन्दू खाल पर लिखने के अभ्यस्त नहीं हैं जैसे कि प्राचीन काल में यूनानी भी नहीं थे। एक बार किसी ने सुकरात से प्रश्न किया कि वह ग्रंथ-रचना क्यों नहीं करता तो उसने उत्तर दिया, "मैं ज्ञान को मनुष्य के जीवित मन से निकाल कर भेड़ों की मृत खालों में नहीं पहुंचाता।" मुसलमान भी इस्लाम के प्रारंभिक काल में खालों पर लिखा करते थे, उदाहरण के लिए पैगंबर साहब और खैबर के यहूदियों में हुई संधि और किस्रा को लिखा गया उनका पत्र खाल पर ही लिखा गया था। कुरान की प्रतियां हिरनों की खाल पर लिखी गयी थीं जिस तरह 'तौरैत' की नक़लें आज भी खाल पर लिखी जाती हैं। क़ुरान (सूरा: 191) में यह आयत आती है: "वे इसे करातिस बनाते हैं।" क़िरतास (या Charta) मिस्र में पपीरस नामक वृक्ष के डंठल को काटकर बनाया जाता है। इसी सामग्री पर

*ईश्वर स्तुति के योग्य है।

लिखे हुए खलीफ़ाओं के आदेश हमारे युग से कुछ पहले तक संसार-भर में भेजे जाते थे। पपीरस चर्मपत्र की अपेक्षा इसलिए बेहतर है कि आप न उस पर लिखे को घिसकर मिटा सकते हैं और न ही लिखे हुए में कोई तबदीली कर सकते हैं क्योंकि ऐसा करने से वह फट जाता है। कागज़ का निर्माण सबसे पहले चीन में हुआ। चीनी बंदी कागज़ को समरक़ंद ले गये और उसके बाद तो वह विभिन्न स्थानों पर वहां की आवश्यकता के अनुसार बनने लगा।

हिन्दुओं के यहां उनके दक्षिण प्रदेश में एक पतला-सा पेड़ खजूर और नारियल जैसा होता है जिसमें फल लगता है जो खाया जाता है और उसके पत्ते एक गज़ लंबे और तीन अंगुल चौड़े होते हैं। वे इन्हें ताड़ (ताल) कहते हैं और उन पर लिखते हैं। वे इन पत्तों को एकत्र करके इनको बांध कर पुस्तक बना लेते हैं और बीच में सूराख करके उसे डोरी से सीं देते हैं।

उत्तरी और मध्य भारत में लोग 'तज़' वृक्ष की छाल का प्रयोग करते हैं जिसकी एक प्रकार की छाल धनुष के आवरण के लिए भी इस्तेमाल की जाती है। उसे 'भूर्ज' कहते हैं। वे उसका एक गज़ लंबा और एक बालिश्त या उससे कम चौड़ा टुकड़ा लेते हैं और उसे अनेक प्रकार से बनाते हैं। फिर वे उस पर तेल लगाकर उसे रगड़ते हैं ताकि वह सख्त और चिकना हो जाए और उसके बाद वे उस पर लिखते हैं। एक-एक पन्ने पर क्रम-संख्या डालते हैं। पूरी पुस्तक कपड़े के एक टुकड़े में लपेटी जाती है और एक ही आकार की दो पट्टियों के बीच में रखकर बांध दी जाती है। इस प्रकार की पुस्तक को 'पोथी' कहते है (तुलनीय, पुस्त, पुस्तक)। पत्र और अन्य जो कुछ भी उन्हें लिखना होता है वे उसे 'तज़' वृक्ष की छाल पर लिखते हैं।

हिन्दुओं की वर्णमाला

हिन्दुओं की वर्णमाला या लिपि के बारे में हम पहले ही बता चुके हैं कि किसी समय वह नष्ट हो गयी थी और भुला दी जा चुकी थी। चूंकि किसी ने उस ओर ध्यान भी नहीं दिया इसलिए लोग अनपढ़ हो गये, कहना चाहिए अज्ञान के अंधकार में डूब गये और विज्ञान से तो बिलकुल ही कट गये। कालांतर में पराशर के पुत्र व्यास ने ईश्वर की प्रेरणा से पचास वर्णों की लिपि को खोज निकाला। वर्ण को अक्षर कहा जाता है।

कुछ लोगों का कहना है कि मूलत: उनके अक्षरों की संख्या कम थी और उसमें धीरे-धीरे वृद्धि होती गयी। यह संभव है और मैं तो कहूंगा कि ज़रूरी भी था···।

हिन्दुओं की वर्णमाला के अनेक अक्षरों की व्याख्या की गयी है। पहले तो यह बताया गया है कि उनके यहां प्रत्येक अक्षर के लिए यदि उसके बाद स्वर या

ह्रिस्वर या हमज़ा (विसर्ग), या स्वर को जरा भी अधिक खेंचा जाए—अलग-अलग संकेत हैं; और दूसरे यह वताया गया है कि उनके यहां ऐसे व्यंजन हैं जो किसी भी दूसरी भाषा में एक साथ नहीं मिलते, यह दूसरी वात है कि वे दूसरी भाषाओं में विखरे हुए मिल जाएं—अर्थात् ऐसी ध्वनियां जिन्हें हमारी जिह्वाएं जो उनसे परिचित नहीं हैं, उन्हें उच्चरित ही नहीं कर सकतीं और साथ ही हमारे कान उनके अनेक सजातीय युग्मों में प्राय: भेद करने में समर्थ नहीं हैं।

हिन्दू भी यूनानियों की तरह वाईं से दाहिनी ओर लिखते हैं। वे रेखा खींचकर नहीं लिखते जिसके ऊपर अक्षरों के शीर्ष हों और उनके निचले सिरे नीचे की ओर रहते हैं जैसा कि अरवी लिपि में होता है। इसके विपरीत उनकी अधोरेखा ऊपर होती है—हरेक अक्षर के ऊपर एक सीधी रेखा—और इस रेखा में लटका कर अक्षर उसके नीचे लिखा जाता है। रेखा के ऊपर जो भी चिह्न लगाया जाता है वह केवल व्याकरणिक संकेत होता है जो उस अक्षर का उच्चारण दर्शाता है जिसके ऊपर वह लगा हुआ है।

हिन्दुओं की स्थानीय वर्णमाला

सर्वाधिक प्रसिद्ध वर्णमाला 'सिद्ध-मात्रिक' कहलाती है जिसके उद्‌गम के संवंध में कुछ का विचार है कि वह कश्मीर से निकली है क्योंकि कश्मीर के लोग उसका प्रयोग करते हैं। लेकिन उसी का प्रयोग वाराणसी में भी होता है। वाराणसी और कश्मीर हिन्दू शास्त्रों के केन्द्र हैं। वही लिपि मध्यदेश में भी प्रयुक्त होती है जो देश का वह मध्य भाग है जो कन्नौज के आसपास है और जिसे 'आर्यावर्त' भी कहा जाता है।

मालवा की वर्णमाला 'नागर' कहलाती है जो पहली लिपि से केवल अक्षरों की वनावट में भिन्न है।

इसके वाद जो लिपि आती है वह 'अर्ध नागरी' कहलाती है। इसका यह नाम इसलिए पड़ा कि यह पूर्ववर्ती दो लिपियों का मिश्रण है। इसका प्रयोग भाटिया और सिंध के कुछ अन्य क्षेत्रों में होता है।

अन्य लिपियां हैं : 'मालवारी' जिसका प्रयोग दक्षिणी सिंध के तटवर्ती क्षेत्र में स्थित मालवाशाउ में होता है; 'सैंधव' जो वहमनवा या अलमंसूरा में प्रयुक्त होती है; 'कर्नाटा' जो कर्नाट देश में प्रयुक्त होती है जहां की वे सेनाएं हैं जो कन्नड़ कहलाती हैं; 'आंध्री' जिसे आंध्र देश में इस्तेमाल करते हैं : दिरवाड़ी (द्रविड़ी) जिसका प्रयोग दिरवाड़ी देश (द्रविड़ देश) में होता है; 'लाड़ी' जो लाड़देश (लाट देश) में प्रयुक्त होती है; 'गौरी' (गौड़ी) जो पूर्वदेश में अर्थात् देश के पूर्वी भाग में प्रयुक्त की जाती है; 'भैक्षुकी' जो पूर्वदेश के उदुनपुर[30A] में इस्तेमाल की जाती है। यह अंतिम लिपि वह है जिसका वुद्ध ने प्रयोग

किया था।

'ओम्' शब्द

हिन्दू अपने ग्रंथों का प्रारंभ उसी प्रकार 'ओऽम्'—पुनीत शब्द—से करते हैं जिस प्रकार हम 'बिस्मिल्लाह' से। 'ओऽम्' शब्द की आकृति ॐ होती है। इस आकृति में कोई अक्षर नहीं होता; यह तो मात्र एक बिंब है जो इस शब्द को व्यक्त करने के लिए गढ़ लिया गया है और जिसका लोग इस विश्वास के साथ प्रयोग करते हैं कि उससे उन्हें वरदान प्राप्त होगा और इससे उनका अभिप्राय यह होता है। कि वे ईश्वर के एक होने को स्वीकार करते हैं···।

उनके संख्यासूचक चिह्न

हिन्दू अपने अक्षरों का प्रयोग संख्यांकन के लिए नहीं करते जैसा कि हम इब्रानी अक्षरों के क्रम में अरबी अक्षरों का प्रयोग करते हैं। चूंकि भारत के विभिन्न भागों में अक्षरों के आकार भिन्न हैं उसी प्रकार संख्या के द्योतक भी जिन्हें अंक कहते हैं अलग-अलग हैं। जिन अंकों का हम प्रयोग करते हैं वे हिन्दुओं के श्रेष्ठतम चिह्नों से ही लिये गये हैं। चिह्नों और अंकों का तब तक कोई लाभ नहीं जब तक कि लोगों को उनका मतलब न आता हो, लेकिन कश्मीर के लोग अपनी पुस्तकों के पन्नों पर वे अंक डालते हैं जो आरेखन या चीनी लिपि के अक्षर मालूम होते हैं जिनका अर्थ समझने के लिए लंबे समय तक अभ्यास करना ज़रूरी है। लेकिन वे उनका प्रयोग रेत में गिनती करते समय नहीं करते।

अंकगणित में सभी देश इस बात पर सहमत हैं कि अंकों के सभी घातों (जैसे इकाई, दहाई, सैकड़ा, हज़ार) का दस (दहाई) से एक विशेष संबंध है; और प्रत्येक घात आगामी घात का 1/10वां भाग और गत भाग का दस गुना होता है। मैंने सभी प्रकार के लोगों के साथ जिनके संपर्क में मैं रहा हूं विभिन्न भाषाओं के अंकों के घातों के नाम जानने की कोशिश की है और मैंने देखा है कि किसी भी देश की संख्या हज़ार से आगे नहीं जाती। अरब भी हज़ार पर जाकर रुक जाते हैं जो निश्चय ही बहुत सही और बहुत स्वाभाविक बात है। मैंने इस विषय पर अलग से एक निबंध लिखा है।

जिनके यहां हज़ार से अधिक की गिनती है वे हिन्दू हैं, कम-से-कम अंकगणित की शब्दावली में तो ऐसा ही है। उनके यहां हज़ार से आगे की जो अंक-पद्धति है उसका या तो उन्होंने स्वतंत्र रूप से अन्वेषण किया है या उनका आधार कुछ विशेष प्रकार की व्युत्पत्तियां रही होंगी; दूसरी ओर अन्य शब्दों में संभव है, दोनों ही पद्धतियां अपनाई गयी हों। वे अपने अंकों के घातों के नाम 18वें घात तक ले जाते हैं जिसके धार्मिक कारण हैं। जहां तक व्युत्पत्ति का प्रश्न है गणितज्ञों की सहायता वैयाकरणों ने की है।

अठारहवां घात 'परार्ध' कहलाता है जिसका अर्थ है स्वर्ग का अर्धांश या अधिक सही होगा, ऊपर जो कुछ है उसका अर्धांश···।

अंकों के अठारह घात

अंकों के अठारह घातों के नाम ये हैं :

1. एकम, 2. दशम, 3. शतम, 4. सहस्रम, 5. अयुत, 6. लक्ष, 7. प्रयुत, 8. कोटि, 9. न्यर्वुद, 10. पद्म, 11. खर्व, 12. निखर्व, 13. महापद्म, 14. शंकु, 15. समुद्र, 16. मध्य, 17. अन्त्य, 18. परार्व।

अब मैं इस व्यवस्था के संबंध में उनके मतभेदों की चर्चा करूंगा।

अठारह घातों में आने वाली भिन्नता

कुछ हिन्दुओं का विचार है कि परार्ध के वाद भी एक उन्नीसवां घात होता है जिसे 'भूरि' कहते हैं और यही गणना की सीमा है। लेकिन वास्तव में गणना असीम होती है; अगर उसकी कोई सीमा होती भी है तो वह केवल शास्त्रीय होती है जिसे अंकों के अंत के रूप में परंपरानुसार स्वीकार कर लिया गया है। कदाचित 'गणना' शब्द का प्रयोग ऊपर के वाक्य में नाम-पद्धति के लिए किया गया है मानो वे यह कहना चाहते हों कि भाषा में 19वें घात के आगे किसी भी गणना के लिए कोई शब्द है ही नहीं। यह सभी जानते हैं कि इस घात की इकाई अर्थात् एक 'भूरि' 'महा दिवस' के पांचवें भाग के बरावर होती है लेकिन इस विषय पर उनकी कोई परिपाटी नहीं है। उनकी परिपाटी में 'महा दिवस' के संचय के केवल संकेत मिल जाते हैं जिनकी व्याख्या हम आगे करेंगे। इससे सिद्ध होता है कि यह 19वां घात जो जोड़ा है इसका स्वरूप न केवल कृत्रिम बल्कि आत्यंतिक शुद्ध है।

अन्य लोगों का मत है कि गणना की सीमा 'कोटि' है; और कोटि से शुरू करके अंकों के घात का क्रम होगा—कोटि, हज़ार, सैकड़ा, दहाई; क्योंकि देवताओं की संख्या कोटि में ही वताई गयी है। उनके विश्वास के अनुसार तेंतीस करोड़ देवता हैं जिनमें से ग्यारह-ग्यारह ब्रह्मा, नारायण और महादेव—तीनों के हैं।

अठारहवें घात के वाद के घातों के नाम वैयाकरणों ने जोड़े हैं जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं [पृ० 183]।

इसके अलावा हमने देखा है कि पांचवें घात का प्रचलित नाम है 'दशसहस्र', सातवें का 'दशलक्ष', लेकिन ये दो नाम ('अयुत', 'प्रयुत') जो हमने ऊपर सूची में दिए हैं बहुत कम प्रयुक्त होते हैं।

कुसुमपुरावासी आर्यभट्ट की पुस्तक में दस से दश-कोटि तक के घातों के निम्नलिखित नाम दिए गये हैं :

अयुतम्	कोटि पद्म
नियुतम्	पर पद्म
प्रयुतम्	

इसके अतिरिक्त यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि कुछ लोग विभिन्न नामों के बीच एक प्रकार का व्युत्पत्तिमूलक संबंध स्थापित करते हैं; इसलिए वे घात को 'नियुत' कहते हैं जो पांचवें के सादृश्य पर रखा गया है क्योंकि पांचवां 'अयुत' कहलाता है। आठवें घात को वे नवें के सादृश्य पर 'अर्बुद' कहते है क्योंकि नवां 'न्यर्बुद' कहलाता है।

इसी प्रकार का संबंध 'निखर्व' और 'खर्व' में है जोकि बारहवें और ग्यारहवें घात के नाम हैं और 'शंकु' और 'महाशंकु' के बीच में आते हैं जो तेरहवें और चौदहवें घात के नाम हैं। इस सादृश्य के अनुसार महापद्म पद्म के फ़ौरन बाद आना चाहिए लेकिन पद्म तो 10वें घात का नाम है जबकि महापद्म 13वें घात का।

इनमें यही अंतर हैं जिनके कारण खोजे जा सकते हैं; लेकिन साथ ही बहुत-से ऐसे अंतर भी हैं जिनका कोई कारण ही नही है और वे ऐसे लोगों ने पैदा कर दिए हैं जो इन नामों को बिना किसी क्रम को माने लिखवा देते हैं या इसका यह भी कारण हो सकता है कि वे अपने अज्ञान को इस स्पष्टवादिता के साथ स्वीकार नहीं करना चाहते कि—'जी हां, मैं नहीं जानता' और यह एक ऐसी उक्ति है जिसका प्रयोग वे किसी भी प्रसंग में नहीं कर सकते…।

संख्या-अंकन

हिन्दू अंकगणित में अंकों का प्रयोग उसी प्रकार करते हैं जैसे हम। मैंने एक पुस्तिका लिखी है जिसमें यह बताया है कि इस विषय में हिन्दू हमसे संभवत: कितने आगे हैं। हमने पहले ही यह स्पष्ट कर दिया है कि हिन्दू अपनी पुस्तकों की रचना श्लोकों में करते हैं। अब यदि वे चाहें तो अपनी खगोलशास्त्र-संबंधी पुस्तिकाओं में विभिन्न घातों के कुछ अंकों का निर्देश करने हेतु उनके लिए उन शब्दों का प्रयोग करेंगे जिनका प्रयोग कुछ अंकों का या तो केवल एक घात में या एक साथ दो घातों के निर्देश के लिए किया जाता है (उदाहरण के लिए, ऐसा शब्द जिसका अर्थ है या तो 20, या 20 और 200 दोनों)। प्रत्येक अंक के लिए उन्होंने अनेक शब्दों का प्रयोग किया है। यही कारण है कि अगर एक शब्द छंद के लिए उपयुक्त नहीं है तो आप उसे किसी ऐसे पर्याय से बदल सकते हैं जो उपयुक्त हो। ब्रह्मगुप्त का कहना है, "यदि आप 'एक' लिखना चाहते हैं तो उसे किसी ऐसे शब्द से व्यक्त कीजिए जो अनन्य हो जैसे पृथ्वी, चंद्रमा; यदि दो को प्रकट करना चाहते हैं तो उसके लिए ऐसी चीज चुनिए जो दोहरी हो

जैसे श्याम और श्वेत; तीन के लिए ऐसी चीज़ का चुनाव करें जो तिहरी हो; शून्य को व्यक्त करना चाहें तो आकाश से और 12 को सूर्य के नामों से।"

नीचे की सारणी में अंकों के लिए वे सभी अभिव्यक्ति-रूप इकट्ठे कर दिए गये हैं जो मैं उनसे सुना करता था क्योंकि इन चीज़ों की जानकारी उनकी खगोल-शास्त्रीय पुस्तिकाओं को समझने के लिए अत्यंत आवश्यक है। जब भी इन शब्दों के सभी अर्थ जान लूंगा मैं इंशाअल्लाह उन्हें शामिल करता जाऊंगा। [0 से लेकर 25 तक विभिन्न अंकों के लिए प्रयुक्त विभिन्न शब्द-समूह पृ० 178-79 पर दिए गये हैं।]

हिन्दुओं के विचित्र रीति-रिवाज

अब हम हिन्दुओं के कुछ विभिन्न रीति-रिवाजों की चर्चा करेंगे। किसी भी चीज़ की विभिन्नता स्पष्टतः इस तथ्य पर आधारित होती है कि वह यदा-कदा ही सामने आती हो और हमें उसे देखने का कभी-कभार ही अवसर मिलता हो। यदि वह विचित्रता बहुत प्रबल हो जाए तो वह चीज़ हरेक की उत्सुकता का कारण बन जाती है बल्कि कभी तो वह चमत्कार का रूप ग्रहण कर लेती है जो प्रकृति के सामान्य नियमों के अनुरूप नहीं होता और उसे जब तक देख न लिया जाए वह केवल कल्पना का विषय बना रहता है। हिन्दुओं के अनेक रिवाज़ हमारे देश और काल के रिवाजों से इतने भिन्न हैं कि हमें तो वे बड़े ही विकट लगते हैं। बल्कि कोई यह भी सोच सकता है कि उन्होंने जानबूझकर उन्हें हमारे विपरीत बना लिया है क्योंकि हमारे रिवाज उनसे बिलकुल मेल ही नहीं खाते बल्कि उनके सर्वथा विपरीत हैं; और यदि कभी उनका कोई रिवाज हमारे रिवाज से मिलता-जुलता लगता भी है तो भी उसका अर्थ बिलकुल उलटा होता है।

वे शरीर के किसी भी स्थान के बाल नहीं मूंड़ते। मूल रूप से तो गरमी की वजह से वे नंगे ही फिरते थे और सिर के बाल न कटाने का कारण यह था कि वे लू से बचना चाहते थे।

वे मूंछों पर इकहरा बल इसलिए देते हैं ताकि वह वैसी ही बनी रहें। जहां तक उनके गुप्तांगों के बाल न मूंड़ने का संबंध है वे लोगों को इस धोखे में रखना चाहते हैं कि उनके मूंड़ने से कामुकता उत्तेजित होती है और विषय-वासना बढ़ती है। इसलिए ऐसे लोग जिनको सहवास की प्रबल इच्छा होती है गुप्तांगों के बाल कभी नहीं मूंड़ते।

वे नाखून बढ़ाते हैं और अपने आलस्य का गुणगान करते हैं क्योंकि वे नाखूनों का प्रयोग किसी काम में नहीं करते और सुखद आलस्य का जीवन बिताते हुए वे उनसे अपने सिर खुजाते हैं और बालों में जूं की तलाश करते हैं।

हिन्दू अलग-अलग बैठकर खाते हैं और उनके खाने का स्थान गोबर से लिपा

चौका होता है। वे उच्छिष्ट का उपयोग नहीं करते और जिन वर्तनों में वे खाते हैं यदि मिट्टी के होते हैं तो उन्हें खाकर फेंक देते हैं।

चूंकि वे पान में चूना और सुपारी खाते हैं इसलिए उनके दांत लाल रहते हैं।

वे खाली पेट मदिरा-पान करते हैं और उसके वाद भोजन करते हैं। वे गायों का दूध तो खूव पीते हैं लेकिन उनका मांस नहीं खाते।

वे झांझ को डंडे से वजाते हैं।

वे पाजामे के लिए धोती का इस्तेमाल करते हैं। जो कम कपड़े पहनना चाहते हैं वे दो उंगल चौड़ा लत्ता डोरी से अपनी कमर में बांध लेते हैं; लेकिन जो उससे अधिक वस्त्र पसंद करते हैं वे धोती पहनते हैं जिनमें इतना अधिक कपड़ा लगता है जिससे कई चादरें और कंवल वन जाएं। यह धोती कहीं से खुली हुई नहीं होती और वह इतनी लंवी होती है कि उनके पैर तक ढंक जाते हैं। जिस नाड़े से वह वांधी जाती है वह पीछे की ओर होता है।

उनका 'सिदर' जिससे वे अपना सिर, वक्ष का ऊपरी भाग और गर्दन ढकते हैं, पाजामे जैसा होता है जिसमें पीछे की ओर वटन लगते हैं।

उनकी कुर्तका (जो स्त्रियों का एक पहनावा है जो कंधे से शरीर के मध्य भाग तक आस्तीनों वाली होती है) के पल्ले में दाहिनी और वाईं दोनों ओर चीर होते हैं।

वे अपने जूते जव तक उन्हें पहनना शुरू नहीं करते सख्त रखते हैं। वे वछड़े के चमड़े के वनते हैं। (?)

हाथ-मुंह धोते समय वे पहले पैर धोते हैं और फिर मुंह। वे अपनी पत्नियों के साथ संभोग करने के पहले स्नान करते हैं···।

त्योहार के दिन वे शरीर पर सुगंधादि मलने के वजाय गोवर मलते हैं।

पुरुष स्त्रियों के पहनने की वस्तुएं पहनते हैं; वे अंगराग का प्रयोग करते हैं, कानों में छल्ले, वांहों में कड़े, अनामिका और पैरों के अंगूठों में स्वर्ण मुद्रिकाएं पहनते हैं···।

वे विना जीन के घुड़सवारी करते हैं, लेकिन अगर वे जीन लगाते भी हैं तो वे घोड़े पर दाहिनी ओर से सवार होते हैं। जव वे कहीं यात्रा पर जाते हैं तो घोड़े पर किसी को पीछे विठाकर ले जाते हैं।

वे अपनी कमर की दाहिनी ओर कुठार वांधते हैं।

वे एक मेखला पहनते हैं जिसे वे यज्ञोपवीत कहते हैं जो वाएं कंधे से कमर की दाहिनी ओर तक जाती है।

सभी प्रकार के कार्य-कलाप और आपात्काल में वे स्त्रियों से सलाह लेते हैं।

जव वच्चा पैदा होता है तो वे स्त्री के वजाय पुरुष पर ज्यादा ध्यान

रखते हैं।

यदि दो बच्चे हों तो उनका छोटे के प्रति अधिक लगाव होता है, विशेषकर देश के पूर्वी भाग में वे यही करते हैं, क्योंकि उनका विचार है कि पहलौठे के जन्म का कारण प्रमुख रूप से कामुकता होती है. जबकि दूसरी संतान प्रौढ़ चिंतन और शांत प्रगमन का परिणाम होती है।

हाथ मिलाते समय वे दूसरे का हाथ उसके पहुंचे की ओर से पकड़ते हैं।

किसी के घर में प्रवेश करने से पहले वे उसकी अनुमति नहीं लेते लेकिन जाते समय उसकी अनुमति मांगते हैं।

बैठते समय वे आलथी-पालथी मारकर बैठते हैं।

थूकते और नाक छिनकते समय वे बैठे हुए लोगों का कोई लिहाज़ नहीं करते और उनके सामने ही जुएं मारने में भी संकोच नहीं करते। वे अधोवायु निकालने को शुभ और छींकने को अशुभ शकुन मानते हैं।

वे जुलाहे को गंदा लेकिन नाई और चमार को स्वच्छ मानते हैं जो मरणासन्न पशुओं को पानी में डुबोकर या जलाकर मारते हैं और उसके पैसे लेते हैं।

वे स्कूलों में बच्चों के लिए काली तख्तियों (स्लेटों) का प्रयोग करते हैं और उनकी चौड़ाई में नहीं बल्कि लंबाई पर सफेद खरिया से बाईं से दाहिनी ओर लिखते हैं। नीचे की पंक्तियों को पढ़कर कोई यह सोच सकता है कि कवि का आशय हिन्दुओं से ही रहा होगा :

> "कितने ही लेखक कोयले-सा काला कागज इस्तेमाल करते हैं जबकि उसकी लेखनी उस पर सफेद रंग से लिखती है मानों उन्होंने अंधेरी रात को दिन में बदल दिया है; लगता है, वे बुनाई तो बुनकर जैसी कर रहे हैं लेकिन एक बाना नहीं बढ़ता।"

वे पुस्तक का शीर्षक उसके आरंभ में नहीं बल्कि अंत में देते हैं।

वे अपनी भाषा की संज्ञाओं को स्त्रीलिंग देकर उसी प्रकार बड़ा बनाते हैं जिस प्रकार अरब उन्हें अल्पार्थी बनाकर करते हैं।

यदि उनमें से एक व्यक्ति दूसरे को कोई चीज़ देता है तो वह यह आशा करता है कि वह उसकी ओर ऐसे ही फेंकी जाए जैसे हम कोई चीज़ कुत्तों के आगे फेंकते हैं।

यदि दो व्यक्ति 'नर्द' खेलते हैं तो तीसरा उन दोनों के बीच पांसा फेंकता है।

वे उस राल को पसंद करते हैं जो मस्त हाथी के गालों पर बहती है जिसमें सच पूछिए तो बड़ी भयंकर दुर्गंध होती है।

भारतीय शतरंज

शतरंज खेलते समय वे हाथी को सीधे चलाते हैं दाएं-बाएं नहीं और वह भी एक बार में एक घर जैसा कि प्यादा चलता है और चारों कोनों पर भी वह एक घर ही चलता है जैसे कि वज़ीर (फ़िरज़ोन)। उनका कहना है कि वे पांच घर (यानी एक सीधे और चार कोनों के) वे स्थान हैं जिनमें एक में हाथी की सूंड़ और चार में उसके पैर होते हैं।

वे शतरंज एक जोड़ी पांसे से चार मिलकर खेलते हैं। बिसात पर उनके मोहरों का जो विन्यास होता है वह नीचे दिया जा रहा है :

रुख	घोड़ा	हाथी	शाह			प्यादा	रुख
प्यादा	प्यादा	प्यादा	प्यादा	प्यादा			घोड़ा
						प्यादा	हाथी
						प्यादा	शाह
शाह	प्यादा						
हाथी	प्यादा						
घोड़ा	प्यादा			प्यादा	प्यादा	प्यादा	प्यादा
रुख	प्यादा			शाह	हाथी	घोड़ा	रुख

चूंकि इस तरह की शतरंज हमारे यहां प्रचलित नहीं है इसलिए मैं यहां इसके बारे में जो कुछ जानता हूं बताता हूं।

चार व्यक्ति जो एक साथ खेलते हैं वे बिसात के इर्द-गिर्द वर्गाकार बैठते हैं और बारी-बारी से हर व्यक्ति दो पांसे फेंकता है। पांसे का पांचवां और छठा खाली है (क्योंकि उसे गिना ही नहीं जाता)। ऐसी स्थिति में पांसे में पांच या छह पड़े तो खिलाड़ी पांच की बजाय उसे एक मानता है और छह के बजाय चार मानता है क्योंकि इन दो अंकों के मोहरे निम्नलिखित प्रकार से गिने जाते हैं :

6			5
4	3	2	1

ताकि 4 और 1 में एक प्रकार की समानता भारतीय संकेतों में प्रदर्शित की जा सके।

यहां 'शाह' फ़र्जी या वज़ीर को कहा जाता है।

पांसा जितनी बार फेंका जाएगा कोई-न-कोई मोहरा चलेगा।

1 पड़ने पर पैदल या शाह चलेगा। उनकी चालें वैसी ही होती हैं जैसी सामान्य शतरंज में। शाह को जब मात होती है तो उसे अपने स्थान से हटाया नहीं जाता।

2 पड़ने पर रुख चलता है। वह तिरछा चलकर तीसरे घर में जाता है जैसा कि हमारे यहां शतरंज में हाथी चलता है।

3 आने पर घोड़ा चलता है। इसकी चाल जैसा कि आमतौर पर होता है ढाई घर की होती है।

4 आने पर हाथी की चाल होती है। वह सीधे चलता है जैसा कि यहां शतरंज में रुख चलता है, अगर उसे चाल से रोक न दिया जाए या उसे चलने के उपयुक्त घर न हो। यदि ऐसी स्थिति आ जाए जो कभी-कभी आ जाती है तो एक ही पांसे में उसकी बाधा दूर हो जाती है और उसकी चाल का घर खुल जाता है। उसकी सबसे छोटी चाल एक घर होती है और सबसे बड़ी 15 घर क्योंकि कभी-कभी पांसे से दो 4 या दो 6 या एक 6 पड़ जाता है। इन संख्याओं के पड़ जाने पर हाथी पूरी बिसात पर दाईं या बाईं ओर चलता है और यदि संख्या कुछ और हो तो वह बिसात की दूसरी ओर चलता है बशर्ते कि उसके मार्ग में कोई बाधा न आए। इन दो संख्याओं के फलस्वरूप हाथी अपनी चालों के दौरान तिर्यक के दोनों सिरों पर बैठ जाता है।

मोहरों का कुछ विशेष मूल्य होता है और उसी के अनुसार खिलाड़ी को हार या जीत के नंबर मिलते हैं क्योंकि मोहरे उठा लिये जाते हैं और खिलाड़ी के हाथ में आ जाते हैं। शाह का मूल्य 5, हाथी का 4, घोड़े का 3, रुख का 2 और प्यादे 1 का होता है। जो शाह ले ले उसे 5 मिलते हैं। अगर वह दो शाह ले ले तो 10, तीन ले ले तो 15, बशर्ते कि विजेता के पास अपना शाह न हो। लेकिन यदि उसका अपना शाह ज़िन्दा हो और वह सभी तीन शाह ले ले तो उसे 54 अंक मिल जाएंगे। यह एक ऐसा अंक है जिस पर सभी की सहमति है; इसे बीजगणित के नियम के अनुसार स्थिर नहीं किया गया है।

[अल-बिरूनी ने हिन्दुओं के रीति-रिवाजों के संबंध में अपने विवरण को समाप्त करते हुए यह भी विचार व्यक्त किया है कि हिन्दू अपने को मुसलमानों से भिन्न होने और उनसे 'श्रेष्ठतर' होने का दावा करते हैं लेकिन साथ ही यह भी कह दिया कि आत्मश्लाघा का यही दृष्टिकोण मुसलमानों ने भी अपनाया था। हिन्दुओं के अनोखे रीति-रिवाजों के संदर्भ में उसने कुछ ऐसी अनैतिक प्रथाओं का भी स्मरण कराया है जो इस्लाम के प्रादुर्भाव के पहले अरबों में प्रचलित थीं। उसने इस तथ्य के प्रति अपना संतोष भी व्यक्त किया है कि इस्लाम के उदय के बाद ये कुरीतियां अरब से तथा "भारत के उन प्रदेशों से समाप्त हो गयी थीं जहां के लोगों ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था।" पृ० 185-86]

सत्तरहवां अध्याय

हिन्दू शास्त्र जिन्हें जनसामान्य के अज्ञान से प्रश्रय मिलता है

सम्मान्य हिन्दुओं में कीमिया-संबंधी धारणा

अभिचार या जादू-टोने से हम यही समझते हैं कि किसी चीज को किसी प्रकार की भ्रमासक्ति के द्वारा इंद्रियों के लिए ऐसा बना कर दिखाना कि वह कहीं भिन्न हो जो वास्तव में होती है। इसी अर्थ में इसका लोगों में व्यापक प्रचार है। और यदि इसे वैसा ही समझा जाए जैसा इसे आम लोग समझते हैं कि किसी असंभव बात को संभव करके दिखा दिया जाए तो वह चीज़ ऐसी होगी जिसका वास्तविकता से कोई संबंध नहीं होगा। क्योंकि तथ्य तो यही है कि जो कुछ असंभव है वह करके दिखाई ही नहीं जा सकती, कहना न होगा कि यह सब मात्र धोखा है। इसीलिए जादू-टोना भी एक ऐसी ही चीज़ है जिसका विज्ञान से दूर का भी संबंध नहीं।

जादू-टोने का ही एक प्रकार है कीमिया, हालांकि यह इस नाम से नहीं जाना जाता। लेकिन अगर कोई व्यक्ति रुई का एक गाला ले और उसे सोने का टुकड़ा बता कर दिखाए तो इसे भला आप जादू-टोना नहीं तो और क्या कहेंगे ? यह ठीक ऐसा ही है कि कोई चांदी का टुकड़ा हाथ में ले और उसे इस तरह दिखाए कि वह सोना लगे, जिसमें सिर्फ इतना ही अंतर पड़ेगा कि बादवाली चीज़ तो एक जानी-मानी प्रक्रिया है अर्थात् चांदी पर सोने का मुलम्मा चढ़ाना, जबकि पहली चीज़ ऐसी नहीं होती।

हिन्दू कीमिया में विशेष रुचि नहीं रखते, लेकिन यह भी सच है कि कोई देश इससे पूर्णतः मुक्त भी नहीं है। बल्कि स्थिति यह है कि एक देश इसके प्रति दूसरे की तुलना में अधिक प्रवृत्ति रखता है जिसे हम एक की बुद्धिमत्ता और दूसरे का अज्ञान भी नहीं कह सकते, क्योंकि हम देखते हैं कि अनेक बुद्धिमान लोग कीमिया के पीछे दीवाने होते हैं जबकि अज्ञानी लोग इसका और इसके विशेषज्ञों का उपहास करते हैं। लेकिन उन बुद्धिमान लोगों का इसमें कोई दोष नहीं है कि वे अपने

इस झूठे विज्ञान में क्यों इतना रस लेते हैं क्योंकि उनका ध्येय तो केवल इतना है कि वे धन-संपत्ति अर्जित करें और बुरे दिनों को न आने दें और इसी कारण वे अपनी अत्यधिक जिज्ञासा प्रकट करते हैं। एक बार किसी सयाने से किसी ने पूछा कि विद्वान हमेशा धनवानों के द्वार पर क्यों भीड़ लगाए रहते हैं जबकि धनी लोग तो विद्वानों के द्वार पर कभी फटकते नहीं ? उसने जवाब दिया, "विद्वान धन का प्रयोग करना जानते हैं लेकिन धनवान विज्ञान की श्रेष्ठता से सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं।" लेकिन दूसरी ओर, अज्ञानी लोगों की प्रशंसा भी केवल इस कारण से नहीं की जानी चाहिए—हालांकि वे बहुत शांतिपूर्ण व्यवहार करते हैं—कि वे कीमिया से दूर रहते हैं क्योंकि उनके उद्देश्य आपत्तिजनक हैं, वे किसी और चीज़ के नहीं बल्कि उनके सहज अज्ञान और मूर्खता के ही व्यावहारिक परिणाम हैं।

इस कला के विशेषज्ञ यह तथ्य छिपा रखते हैं और उन लोगों से संपर्क करने से कतराते हैं जो उनके पक्ष के नहीं हैं। यही कारण है कि मैं हिन्दुओं से यह नहीं जान सका कि वे इस विज्ञान में कौन-सी पद्धतियां अपनाते हैं और मुख्यत: किस तत्व का प्रयोग करते हैं—खनिज, पशु या वनस्पति ? मैंने उनको केवल ऊर्ध्व-पातन, भस्मीकरण और विश्लेपण और अभ्रक पर मोम लगाने की प्रक्रिया का जिक्र करते सुना है जिसे वे अपनी भाषा में 'तालक' कहते हैं और इसी से मेरा अनुमान है कि वे कीमिया में खनिजवैज्ञानिक पद्धति को अपनाते हैं।

रसायनशास्त्र

उनका कीमिया से मिलता-जुलता एक और विज्ञान है जो उनमें बहुत प्रचलित है। वे इसे 'रसायन' कहते हैं जिसकी व्युत्पत्ति 'रस' अर्थात् सोने से हुई है। यह एक ऐसी कला है जो कतिपय क्रियाओं, औषधियों और यौगिक औषधों तक सीमित है जिनमें से अधिकांश वनस्पति से ली जाती हैं। इसके सिद्धांतों का अनुसरण करने से वे लोग भी स्वस्थ हो जाते हैं जो किसी असाध्य रोग से पीड़ित थे, इससे वृद्धावस्था की दुर्बलता दूर हो जाती है और फिर से यौवन की ताज़गी आ जाती है और लोग उतने ही स्वस्थ और बलवान हो जाते हैं जैसे कि तरुणावस्था में थे। सफेद बाल फिर से काले हो जाते हैं, इंद्रियों की प्रखरता और किशोरावस्था की चुस्ती लौट आती है यहां तक कि संभोग की सामर्थ्य बढ़ जाती है और लोगों की आयु बढ़ जाती है।

['रसायन शास्त्र' के कुछ विशेषज्ञों के संबंध में कुछ अविश्वसनीय कथाएं भी दी गयी हैं जिनके नाम हैं : 'सोमनाथ के निकट दुर्ग डिहक' का नागार्जुन; व्यादि जो विक्रमादित्य के राज्य में उज्जैन में रहता था; एक अनाम व्यक्ति जो मालवा की राजधानी धार का निवासी था और एक निर्धन फल बेचने वाला जिसका नाम रांका था और वल्लभी नामक नगर का राजा वल्लभ। उनमें से

कुछ ने संयोग से एक गुप्त सूत्र का अन्वेषण किया था और उसके फलस्वरूप अतिप्राकृतिक शक्तियां अर्जित कर ली थीं। अन्य लोग ऐसे भी थे जिनका दुःखद अंत हुआ। [पृ० 189-93]

अज्ञानी हिन्दू राजाओं को सोना बनाने का जो लालच था उसकी कोई सीमा नहीं थी। यदि उनमें से कोई कीमिया बनाने की योजना कार्यान्वित करना चाहता था और लोग उसे यह सलाह देते कि इतने बालकों का वध करो तो वह राक्षस इस प्रकार का जघन्य अपराध करने में भी संकोच नहीं करता था—वह उन्हें आग में झोंक देता था। यदि इस बहुमूल्य रसायनशास्त्र को संसार की ऐसी दूरस्थ सीमा पर जाकर फेंक दिया जाए जहां तक कोई पहुंच ही न सके तो यह बड़ा भारी पुण्य होगा···।

गरुड़ पक्षी

जहां तक सम्मोहन और मंत्रादि का संबंध है हिन्दुओं का उनमें दृढ़ विश्वास है और वे सामान्यतः उसमें रुचि लेते हैं। जिस पुस्तक में इनका विवेचन किया गया उसका रचयिता गरुड़ माना जाता है जो एक पक्षी है और जो नारायण का वाहन है···।

सांप के काटने पर मंत्र का प्रभाव

उनके अधिकांश मंत्र उन लोगों के लिए होते हैं जिन्हें सांप ने काट लिया हो। [मंत्रों की प्रभावशीलता के संबंध में पृ० 194 पर कुछ कथाओं का वर्णन किया गया है।]

आखेट

मैंने अपनी आंखों से देखा है कि हिरन का शिकार करते समय उन्होंने उसे हाथ से पकड़ लिया है। एक हिन्दू ने तो मुझे यहां तक बताया कि वह हिरन को बिना पकड़े उसका पीछा करते हुए अपनी रसोई में ले जाता था। लेकिन इसका आधार जैसा कि मैंने मालूम किया है और मैं समझता हूं केवल यह हो सकता है कि वे किसी राग-विशेष के द्वारा जिसे सुनकर पशु मोहित हो जाते हैं उन्हें अपने वश में कर लेते होंगे।

कता-पक्षी के शिकारियों में यह प्रथा है कि वे रात के समय तांबे के बर्तन एक ही ताल में बजाते हैं और उन्हें हाथ से पकड़ लेते हैं। लेकिन अगर ताल बदल जाए तो वे चारों ओर उड़ जाते हैं।

ये सब विचित्र रिवाज हैं जिनका सम्मोहन से कोई संबंध नहीं है। कभी-कभी हिन्दुओं को जादूगर भी माना जाता है क्योंकि वे ऊंची-ऊंची बल्लियों पर या तने हुए रस्से पर गेंदें उछालते और झेलते हैं, लेकिन ये ऐसे करतब हैं जो सभी जातियों में आम हैं।

अठारहवां अध्याय

उनके देश, उनकी नदियों और उनके महासागर पर विभिन्न टिप्पणियां, विभिन्न राज्यों और देश की सीमाओं के बीच दूरियों का विवरण

रहने लायक़ भूखंड और समुद्र

पाठक को उस रहने लायक भूखंड की कल्पना करनी है जो पृथ्वी के उत्तरी गोलार्ध में बल्कि उस गोलार्ध के अर्ध भाग में अर्थात् पृथ्वी के चतुर्थांश में से एक में स्थित है। यह भाग समुद्र से घिरा हुआ है जिसे पूर्व और पश्चिम दोनों में शामिल कहा जाता है। यूनानी इसका पश्चिमी भाग अपने देश ऊकियानूस के समीप मानते हैं। यह समुद्र रहने लायक भूखंड को उन सब महाद्वीपों या रहने लायक द्वीपों से अलग करता है जो उसके पार पश्चिम और पूर्व दोनों में स्थित हैं, क्योंकि यह अंधकारमय वातावरण और पानी के गाढ़े होने के कारण जहाज़रानी के योग्य नहीं है, न ही वहां कोई सड़क बाक़ी रह गयी है। इसके अलावा इसमें प्रवेश करने में जोखिम बहुत भारी है जबकि लाभ कुछ नहीं। यही कारण है कि प्राचीनकाल में लोगों ने समुद्र और उसके तटों पर ऐसे संकेत लगा दिए थे जिनका उद्देश्य लोगों को उसमें प्रवेश से रोकना था।

रहने लायक भूखंड ठंड के कारण उत्तर तक नहीं पहुंच पाता सिवाय कुछ स्थानों के जहां वह अंतरीप और खाड़ी के रूप में घुस पाया है। दक्षिण में वह महासागर के तट तक फैल गया है और जो पश्चिम और पूर्व में मिले-जुले सागर द्वारा जुड़ा हुआ है। दक्षिणी महासागर नौ-संचालन के योग्य है। लेकिन यह रहने लायक भूखंड की धुर दक्षिणी सीमा नहीं है। बल्कि इसके विपरीत रहने लायक भूखंड दक्षिण दिशा में दूर तक छोटे-बड़े द्वीपों के रूप में फैलता चला गया है जिससे महासागर भरा हुआ है। इस दक्षिणी प्रदेश में जल और थल के बीच अपनी-अपनी स्थिति को लेकर काफी विवाद है जिसका यह परिणाम है कि एक जगह तो महाद्वीप ने समुद्र में अतिक्रमण कर लिया है जबकि दूसरे स्थान पर समुद्र महाद्वीप में गहरा घुसता चला गया है।

महाद्वीप पृथ्वी के पश्चिमी गोलार्ध में दूर तक समुद्र में बढ़ता गया है और उसके तट दक्षिण में भी दूर-दूर तक फैले हुए हैं। इस महाद्वीप के मैदानों में पश्चिमी हब्शी बसते हैं जहां से दास लाए जाते हैं और उसी महाद्वीप में कोहे-माह हैं और उन्हीं पर नील नदी का उद्गम है। इसके तट पर और तट के पहले इसके द्वीपों में जंज के विभिन्न कबीले रहते हैं। कई खाड़ियां तो पृथ्वी के इस पश्चिमी गोलार्ध के महाद्वीप में प्रवेश कर गयी हैं—बेरबेरा की खाड़ी, बिलस्मा (लाल सागर) और फ़ारस की खाड़ी—और इन खाड़ियों के बीच पश्चिमी महाद्वीप कमोवेश समुद्र के अंदर बढ़ता चला गया है।

पृथ्वी के पूर्वी गोलार्ध में समुद्र उत्तरी महाद्वीप में उतना ही गहरा प्रवेश कर गया है जितना कि महाद्वीप पश्चिमी गोलार्ध में दक्षिणी समुद्र में चला गया है और कई स्थानों पर इसने खाड़ियां और मुहाने बना लिये हैं जो महाद्वीप में दूर-दूर तक चले गये हैं—जिनमें खाड़ियां तो समुद्र का भाग हैं और मुहाने नदियों के समुद्र में गिरने के स्थान। इस समुद्र का नाम अधिकतः उस द्वीप पर पड़ा है जो उसमें है या उस तट पर रखा गया है जो उसकी सीमा पर है। लेकिन यहां हमारा संबंध समुद्र के उस भाग से है जो भारतीय महाद्वीप की सीमा पर है और इसीलिए 'हिन्द महासागर' कहलाता है।

एशिया और यूरोप की पर्वत-वैज्ञानिक पद्धति

जहां तक रहने लायक भूखंड की पर्वत-वैज्ञानिक आकृति या रूप का संबंध है ऐसी उत्ताल पर्वतश्रेणियों की कल्पना कीजिए जो देवदार के कशेरुक की भांति पृथ्वी के मध्यवर्ती अक्षांश से और देशांतर की दृष्टि से पूर्व से पश्चिम तक फैली हुई हैं और चीन, तिब्बत, तुर्किस्तान, काबुल, बदख्शां, ताखरिस्तान, बामियान, अलगोर, खुरासान, मीदिया, अज़रबाइजान, आरमीनिया, रोमन साम्राज्य, फ्रांस और जलालिक से गुज़रती हुई चली गयी है। यह पर्वतमाला लंबी तो है ही, इसकी चौड़ाई भी बहुत अधिक है और इसके अलावा इसमें कई घुमाव भी हैं जो उन आबाद मैदानों को घेरते हैं जिन्हें उत्तर और दक्षिण दोनों ओर के पर्वतों से नदियां पानी देती हैं। इन मैदानी क्षेत्रों में एक भारत भी है जिसकी दक्षिणी सीमा उपर्युक्त हिन्द महासागर है और जो शेष तीन दिशाओं में उन ऊंचे-ऊंचे पर्वतों से घिरा हुआ है जिनकी नदियां बहकर इसके अंदर आती हैं।

भारत, एक नवनिर्मित कछारी भूमि

लेकिन अगर आपने भारत भूमि को अपनी आंखों से देखा हो और इसकी प्रकृति पर चिंतन किया हो—यदि आप इस पर गौर करें कि यहां के गोल-मटोल पत्थर जो ज़मीन को कितना भी गहरा खोदें मिलते हैं, पत्थर जो पहाड़ों

के आसपास और उन स्थानों पर मिलते हैं जहां नदी की प्रचंड धारा वहती है, पत्थर जो पहाड़ों से दूर जाने पर और जहां नदियां मंथर गति से वहती हों छोटे आकार के होते हैं, पत्थर जो उन स्थानों पर मिलते हैं जहां जाकर नदियां अपने मुहानों पर रुक जाती हैं और समुद्र के निकट कैसे पिसे-पिसाए और रेत जैसे हो जाते हैं—यदि इन सब पर विचार करें तो आप यह कल्पना भी नहीं कर सकते कि भारत किसी समय समुद्र रहा होगा जो धीरे-धीरे नदियों के कछार से भरता गया है।

मध्यदेश, कन्नौज, मथुरा और थानेश्वर की अवस्थिति के संबंध में पहला दिशा-निर्देश

भारत के मध्य में कन्नौज के आसपास का प्रदेश मध्यदेश कहलाता है। क्योंकि यह समुद्र और पर्वतों के बीच में स्थित है और इसके ऊपर और नीचे गर्म और ठंडे प्रांत हैं और यह भारत की पूर्वी और पश्चिमी सीमाओं के बीच में हैं, इसलिए भौगोलिक दृष्टि से यह भारत का मध्य या केंद्र है। लेकिन यह राजनीतिक दृष्टि से भी एक केंद्र रहा है, क्योंकि भूतकाल में यह हिन्दुओं के सर्वाधिक प्रसिद्ध नायकों और राजाओं का निवास-स्थान रहा है।

सिंध देश कन्नौज के पश्चिम में स्थित है। यदि हम अपने देश से सिंध की ओर यात्रा करें तो हम नीमरोज़ देश से प्रस्थान करते हैं जो सिजिस्तान देश कहलाता है और हिन्द या भारत की ओर जाना चाहें तो हम काबुल की ओर से चलेंगे। लेकिन केवल यही एक मार्ग नहीं है जिससे भारत में प्रवेश संभव हो। आप किसी भी दिशा से भारत की ओर प्रस्थान कर सकते हैं बशर्ते कि आप मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर कर सकें। भारत की पश्चिमी सीमा पर जो पर्वत हैं उन पर हिन्दुओं की कुछ जनजातियां या कुछ उनसे मिलती-जुलती जातियां बसती हैं—विद्रोही वन्य जातियां—जो हिन्दू जाति की दूरतम सीमाओं तक फैली हुई हैं।

कन्नौज गंगा नदी के पश्चिम में स्थित है। यह एक बड़ा नगर है लेकिन अब यह नष्ट-भ्रष्ट और उजाड़ हो चुका है, चूंकि इसकी राजधानी वहां से वाड़ी[31] स्थानांतरित हो गयी है जो गंगा के पूर्वी तट पर स्थित है। इन दोनों नगरों की दूरी तीन-चार दिन में तय होती है।

जिस प्रकार कन्नौज की ख्याति पांडवों के कारण हुई थी उसी प्रकार महुरा (मथुरा) को ख्याति प्रदान करने का श्रेय वासुदेव को है। यह जौन (यमुना) नदी के पूर्व में स्थित है। महुरा और कन्नौज की दूरी 28 फरसख[32] की है।

थानेश्वर (स्थानेश्वर) दो नदियों के बीच कन्नौज और महुरा दोनों के उत्तर में स्थित है जो कन्नौज से लगभग 80 फरसख और महुरा से लगभग 50

फरसख की दूरी पर है।

गंगा नदी पहाड़ों से निकलती है, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है। इसका उद्गम गंगाद्वार कहलाता है। देश की अधिकांश अन्य नदियां भी उन्हीं पहाड़ों से निकलती हैं, यह भी हम उपयुक्त स्थल पर बता चुके हैं।

दूरी का निर्धारण करने की हिन्दुओं की पद्धति

जहां तक भारत के विभिन्न भागों की दूरी का संबंध है जिन्होंने उन्हें खुद वास्तव में नहीं देखा है उन्हें जनश्रुति पर ही निर्भर रहना होगा; लेकिन दुर्भाग्य की बात यह है कि जनश्रुति इस प्रकार की है कि टॉल्मी ने उसके पहले ही वाहकों और उनकी कहानी गढ़ने की रुचि की निरंतर शिकायत की है। सौभाग्य से मैंने एक ऐसा तरीक़ा निकाल लिया है जिससे उनके झूठ पर नियंत्रण किया जा सके। हिन्दू प्राय: भार का अनुमान ऐसे बैल से लगाते हैं जो 2000 और 3000 मन भार-उठा सके (जाहिर है कि यह इतना अधिक है कि एक बैल एक ही बार में इसे नहीं उठा सकता)। इसी के परिणामस्वरूप उन्हें अपनी गाड़ी को कई दिन तक यहां से वहां जाने और वापस आने देने पर मजबूर होना पड़ता है। असलियत तो यह है कि जब बैल उस पर लादा गया भार मार्ग के एक स्थान से दूसरे स्थान तक ढो लेता है तब जाकर वे उन दो स्थानों के बीच की दूरी निश्चित करते हैं; दूसरे शब्दों में, गाड़ी द्वारा 'इधर से उधर आने-जाने में लगे दिनों की संख्या से' दूरी की गणना की जाती है। हिन्दुओं के कथन को कुछ हद तक सुधारने के लिए हमें बड़े परिश्रम और सावधानी से काम लेना पड़ता है। लेकिन इसके बावजूद हम उसे जो जानते हैं इसलिए छिपाने के लिए अपने को तैयार नहीं कर सके कि अभी बहुत कुछ ऐसा भी है जिसकी हमें जानकारी प्राप्त नहीं हो पाई है। यदि हमसे कहीं कोई त्रुटि हो गयी हो तो हम अपने पाठकों से क्षमा चाहते हैं और अब आगे चलते हैं।

कन्नौज से प्रयाग (इलाहाबाद) और आगे पूर्वी समुद्र तट की ओर

जो व्यक्ति कन्नौज के दक्षिण की ओर जमुना और गंगा दोनों नदियों के बीच से होकर गुजरे तो उसके रास्ते में निम्नलिखित प्रसिद्ध स्थान पड़ेंगे—जज्जामाऊ जो कन्नौज से 12 फरसख दूर है—प्रत्येक फरसख चार मील या एक कुरोह के बराबर है; आभापुरी 8 फरसख; कुराहा, 8 फरसख; बरहमशील 8 फरसख; प्रयाग वृक्ष 12 फरसख; यह वह स्थान है जहां जमुना नदी का जल गंगा में जाकर मिलता है, जहां हिन्दू स्वयं को विभिन्न प्रकार की यातना देते हैं जिनका धार्मिक संप्रदायों की पुस्तकों में उल्लेख मिलता है। प्रयाग वृक्ष से वह स्थान जहां गंगा समुद्र में जाकर मिल जाती है 12 फरसख (एवमेव) दूर है।

देश के अन्य प्रदेश प्रयाग वृक्ष से दक्षिण की ओर समुद्र तट तक फैले हुए हैं। 'अरकु तीर्थ' प्रयाग से 12 फरसख है; उवर्यहार राज्य 40 फरसख; उरदाविशौ जो तट पर स्थित है 50 फरसख दूर है।

वहां से समुद्र तट के साथ-साथ पूर्व में चलें तो वे देश हैं जो अव जौर के राज्य में हैं; पहला दरौर जो उरदाविशौ से 40 फरसख है; कांजी 30 फरसख; मलय 40 फरसख; कुर्क 30 फरसख है जो उस दिशा में अंतिम प्रदेश है जिस पर जौर का आधिपत्य है।

वाड़ी से गंगा के मुहाने तक

गंगा के किनारे-किनारे यदि आप वाड़ी से पूर्वी दिशा में जाएं तो आप इन स्थानों से गुज़रेंगे—अजोधा (अयोध्या) वाड़ी से 25 फरसख; प्रसिद्ध वाणारसी 20 फरसख।

वहां से यदि दिशा-परिवर्तन करें और दक्षिण की वजाए पूर्व की ओर वढ़ें तो आप शरवार पहुंचेंगे जो वाणारसी से 35 फरसख; पाटलिपुत्र 20 फरसख; मुंगेर 15 फरसख; जनप 30 फरसख; दुगुमपुर 50 फरसख; गंगा सयर 30 फरसख दूर है और यहीं गंगा समुद्र में जा मिलती है।

कन्नौज से नेपाल होते हुए भोटेश्वर

कन्नौज से पूर्व की ओर जाते हुए आप वाड़ी आएंगे जो 10 फरसख है; दुमुम 45 फरसख; गिलाहाल साम्राज्य 10 फरसख; वीहट नगर 10 फरसख है। इससे आगे दाहिनी ओर तिलवट देश है जहां के निवासी तारु लोग हैं जो काले रंग के और तुर्कों की तरह चपटी नाक के होते हैं। वहां से आप कामरू पर्वत-माला की ओर वढ़ेंगे जो समुद्र तक फैलती चली गयी है।

तिलवट के वाईं ओर जो प्रदेश है वह नेपाल राज्य है। एक व्यक्ति ने जिसने उन देशों का भ्रमण किया था मुझे यह सूचना दी है: "जव वह तिलवट में था तो वह पूर्वी दिशा छोड़कर वायीं ओर मुड़ गया। नेपाल की ओर वढ़ा जो वहां से 20 फरसख की दूरी पर था—वह सारा क्षेत्र चढ़ाई पर है। नेपाल से वह भोटे-श्वर 30 दिन में पहुंचा जो लगभग 80 फरसख की दूरी पर है जिसमें चढ़ाई अधिक है, उतार वहुत कम। वहां एक नदी भी है जिस पर कई जगह तख्तों के पुल मिलते हैं जो दो ओर वांस गाड़कर रस्से से वांध दिए गये हैं जो एक चट्टान से दूसरी चट्टान तक फैले हुए हैं और उन्हें उन मील-पत्थरों से वांध दिया गया है जो सड़क की दोनों ओर वनाए गये हैं। लोग अपने कंधों पर वज़न लिये इन पुलों पर से गुज़रते हैं जवकि उन्हीं के नीचे 100 गज़ की गहराई में नदी वहती है जिसका पानी झागदार और वर्फ जैसा सफेद है और उसके प्रवाह को देखकर

लगता है जैसे चट्टानों को तोड़ देगा। पुलों की दूसरी ओर पहुंचकर वही वज़न वकरियों पर लाद दिया जाता है···।"

"भोटेश्वर से तिव्वत की पहली सीमा शुरू होती है। वहां जाकर आप देखेंगे कि न केवल लोगों की भाषा, उनकी वेशभूषा ही वदल गयी है वल्कि उनका स्वरूप भी। वहां से सर्वोच्च शिखर की दूरी 20 फरसख है। इस पर्वत के सर्वोच्च शिखर से भारत कोहरे से ढका एक काला आकाश दिखाई देता है और इस शिखर के नीचे के पहाड़ छोटी-छोटी पहाड़ियां और तिव्वत और चीन लाल दिखाई देते हैं। यहां से तिव्वत और चीन की उतराई एक फरसख से भी कम है।"

कन्नौज से वनवास तक

कन्नौज से दक्षिण-पूर्व की ओर गंगा के पश्चिमी किनारे के साथ चलें तो आप जुभांति प्रदेश में आ जाएंगे जो कन्नौज से 30 फरसख दूर है। इस प्रदेश की राजधानी खजुराहो है। इस नगर और कन्नौज के वीच भारत के दो अत्यंत प्रसिद्ध दुर्ग ग्वालियर और कालिंजर पड़ते हैं। दहाल [···फरसख] ऐसा प्रदेश है जिसकी राजधानी तियौरी है और जिस पर अव गांगेय का राज्य है।

कन्नकरा प्रदेश 20 फरसख है, फिर अपसुर, वनवास आते हैं जो समुद्र तट पर स्थित हैं।

कन्नौज से वज़ाना तक

कन्नौज से दक्षिण-पश्चिम की ओर वढ़ें तो आप असी पहुंचेंगे जो कन्नौज से 80 फरसख है; सहन्य 17 फरसख; जन्द्रा 18 फरसख; राजौरी 15 फरसख; वज़ाना, जो गुजरात की राजधानी है, 20 फरसख है। इस नगर को हमारे लोग नारायण कहते हैं। जव इसका पतन हो चुका था तो यहां के निवासी एक दूसरे स्थान को जिसका नाम जादुरा था चले गये थे।

महुरा से धार तक

कन्नौज और महुरा की दूरी उतनी ही है जितनी कन्नौज और वज़ाना की यानी 28 फरसख। यदि कोई व्यक्ति महुरा से उज्जैन जाए तो वीच में जो गांव पड़ेंगे वे एक-दूसरे से केवल 5 फरसख दूर हैं। 35 फरसख की यात्रा के वाद वह एक वड़े गांव में पहुंचेगा जिसका नाम दुदही है; वहां से वमहूर जो दुदही से 17 फरसख है; भेलसां 5 फरसख, जो हिन्दुओं में वहुत प्रसिद्ध है। नगर का नाम उस मूर्ति पर पड़ा है जिसकी वहां पूजा होती है। वहां से अरदिन 9 फरसख है। वहां जिस मूर्ति की उपासना की जाती है वह महाकाल कहलाती है। वहां से धार 7 फरसख है।

वज़ाना से मंदागिर तक

वज़ाना से दक्षिण की ओर बढ़ते हुए आप मेवाड़ पहुंचेंगे जो वज़ाना से 25 फरसख है। यह एक राज्य है जिसकी राजधानी जहरूर है। यहां से मालवा और उसकी राजधानी धार की दूरी 20 फरसख है। उज्जैन धार के पूर्व में 7 फरसख की दूरी पर है।

उज्जैन से भेलसां का, जो मालवा में ही है फ़ासला 19 फरसख है।

धार से दक्षिण की ओर चलते हुए आप भूमिहार पहुंचेंगे जो धार से 20 फरसख है; कांड 20 फरसख; नामवर जो नर्मदा के तट पर स्थित है 10 फरसख; अलिसपुर 20 फरसख; गोदावरी नदी के तट पर स्थित मंदागिर 60 फरसख है।

धार से थाना तक

धार ही से दक्षिण दिशा में जाते हुए नमिय्या घाटी पहुंचते हैं जो धार से 7 फरसख है; मरहट्टा देश 18 फरसख और कोंकण प्रदेश और समुद्र तट पर स्थित उसकी राजधानी थाना 25 फरसख है'''।

भारत के विभिन्न पशुओं के संबंध में टिप्पणियां

गैंडा भारत में बहुतायत से मिलता है, विशेषकर गंगा के आसपास। उसका भैंसे जैसा शरीर, काली पपड़ीदार चमड़ी और उसकी ठोड़ी के नीचे गल-कंबल होते हैं। उसके तीन पीले-पीले खुर हर पैर में होते हैं जिनमें सबसे बड़ा आगे की ओर निकला होता है और शेष दोनों दाईं-बाईं ओर। उसकी दुम लंबी नहीं होती; उसकी आंखें गाल के बहुत नीचे होती हैं जबकि और किसी पशु की आंखें ऐसी नहीं होतीं। उसकी नाक के ऊपरी भाग में एक सींग होता है जो ऊपर की ओर मुड़ा होता है। ब्राह्मणों को गैंडे का मांस खाने का विशेष अधिकार है। मैंने अपनी आंखों से देखा है कि एक हाथी 'किसी जवान गैंडे के सामने आ गया और गैंडे ने उस पर हमला कर दिया। गैंडे ने हाथी का आगे का एक पैर अपने सींग से जख्मी कर दिया और उसे मुंह के बल दे मारा।

मेरा खयाल था कि गैंडा राइनासरस (या कर्कादान) ही होता होगा, लेकिन एक व्यक्ति ने जो हब्शियों के देश सफाला गया था, मुझे बताया कि कर्क जिसे हब्शी इंपिला कहते हैं और जिसके सींग से हमारे चाकुओं के दस्ते बनाए जाते हैं राइनासरस के बजाय गैंडे से ज्यादा मिलता-जुलता है।

भारत की नदियों में नील नदी की तरह मगर बहुत होते हैं। इसी साम्य से धोखा खाकर अलजहीज़, चूंकि नदियों के रुखों और उनके समुद्र में मिलने के स्थानों के बारे में कुछ नहीं जानता था, यह समझ बैठा था कि मुहरन (सिंधु)

नदी नील नदी की ही एक शाखा है। इसके अलावा भारत की नदियों में और बहुत-से अद्भुत पशु जो मगर की जाति के हैं, मिलते हैं जैसे मकर, अजीब तरह की मछलियां; एक पशु ऐसा है जो चमड़े के थैले जैसा होता है जो जहाज़ों के सामने आ जाता है और तैरते हुए भी खेलता है। उसे बुरलु (सूंस) कहते हैं। मैं समझता हूं, यह सूंस या उसी प्रकार का पशु है। लोगों का कहना है कि उसके सिर में एक छेद होता है जिससे वह सूंस की ही तरह सांस लेता है।

इस विपयांतर के बाद अब अपने विपय पर लौटते हैं।

बज़ाना से सोमनाथ तक

यदि आप बज़ाना से दक्षिण-पश्चिम की ओर चलें तो आप अनहिलवाड़ा पहुंचेंगे जो बज़ाना से 60 फरसख है; और सोमनाथ जो समुद्र तट पर है वहां से 50 फरसख है।

अनहिलवाड़ा से दक्षिण की ओर जाएं तो आप लाड़देश जहां से प्रदेश की दो राजधानियां भिरोज़ और रिहनजुड़ पहुंच जाएंगे जो अनहिलवाड़ा से 42 फरसख है। ये दोनों समुद्र तट पर थाना के पूर्व में स्थित हैं।

अनहिलवाड़ा से लोहारानी तक

बज़ाना से पश्चिम की ओर जाते हुए आप मुल्तान पहुंचेंगे जो बज़ाना से 50 फरसख और भाटी वहां से 15 फरसख दूर है।

भाटी से दक्षिण-पश्चिम की ओर चलेंगे तो आप अरोड़ पहुंचेंगे जो भाटी से 15 फरसख दूर है, यह सिंधु नदी के दो किनारे के बीच में स्थित एक आबादी है; बहमनवा अलमंसूरा 20 फरसख; लोहारानी जो सिंधु के मुहाने पर स्थित है 30 फरसख दूर है।

कन्नौज से कश्मीर तक

कन्नौज से उत्तर-पश्चिम की ओर जाएं तो आप शीर्परह पहुंचेंगे जो कन्नौज से 50 फरसख दूर है; पिंजोर 18 फरसख है जो पहाड़ों पर बसा हुआ है और उसी के सामने मैदानी इलाके में थानेश्वर नगर है, दहमाला है जो जालंधर की राजधानी है और तलहटी में आबाद है और वहां से 18 फरसख की दूरी पर हैं; बल्लवार 10 फरसख है; वहां से पश्चिम की ओर बढ़ें तो आप लद्दा आएंगे जो 13 फरसख है; फिर राजगिरि का किला आएगा जो 8 फरसख है और वहां से उत्तर की ओर चलते जाएं तो आप कश्मीर पहुंच जाएंगे जो 25 फरसख दूर है।

कन्नौज से ग़ज़ना तक

कन्नौज से पश्चिम की ओर जाते हुए आप दियामऊ आएंगे जो कन्नौज से 10 फरसख दूर है; वहां से कुटी 10 फरसख; अनार 10 फरसख; मीरात 10 फरसख; और पानीपत 10 फरसख दूर हैं। अंतिम दो नगरों के बीच से जौन (जमुना) नदी वहती है; दविताल, 10 फरसख; सुन्नाम 10 फरसख दूर है।

वहां से उत्तर-पश्चिम की ओर हुए आप अदित्तहौर आएंगे जो 9 फरसख है; झज्जर 6 फरसख; मंदाहुकुर जो लौहाउर की राजधानी है इरवा नदी के पूर्व में स्थित है 8 फरसख; चंद्रहा नदी 12 फरसख; झेलम नदी जो वियत्ता के पश्चिम में है 8 फरसख; वलहिंद जो कंधार की राजधानी है और सिंधु नदी के पश्चिम में स्थित है 20 फरसख; पुरुपावर 14 फरसख; दुनपुर 15 फरसख; कावुल 12 फरसख, और गज़ना 17 फरसख दूर है।

कश्मीर के संबंध में टिप्पणियां

कश्मीर एक ऐसे पठार में स्थित है जो ऊंचे-ऊंचे और दुर्गम पहाड़ों से घिरा हुआ है। दक्षिणी और पूर्वी भाग पर हिन्दुओं का राज्य है, पश्चिम और बोलरशाह तथा शुगननशाह और कुछ अन्य दूरस्थ भाग वदख्शा की सीमाओं तक और वाखानशाह तक विभिन्न राजाओं के अधीन हैं। इस प्रदेश का उत्तरी और पूर्वी प्रदेश का कुछ भाग खुतन के तुर्कों और तिव्वत के अधीन है। भोटेश्वर के शिखर से तिव्वत होते हुए कश्मीर तक का फासला लगभग 300 फरसख का है।

कश्मीर के निवासी पैदल यात्रा करते हैं क्योंकि उनके पास न सवारी के लिए जानवर हैं न हाथी; उनमें जो सामंत हैं वे पालकियों में चलते है जिन्हें वे कट्ट कहते हैं। उन्हें कहार कंधे पर रखकर ले जाते हैं। वे अपने प्रदेश की प्राकृतिक शक्ति के प्रति विशेष रूप से चिंतित रहते हैं और यही कारण है कि वे अपने प्रदेश के प्रवेश-द्वारों और वहां तक जाने वाली सड़कों पर मजवूत नियंत्रण रखने में वड़ी सावधानी वरतते हैं। इस कारण से उनके साथ किसी प्रकार का व्यापार करना वहुत कठिन है। प्राचीन काल में वे एक-दो विदेशियों—विशेषकर यहूदियों—को अपने प्रदेश में प्रवेश की अनुमति दे दिया करते थे, लेकिन आजकल स्थिति यह है कि वे किसी भी हिन्दू को जिसे वे व्यक्तिगत रूप से नहीं जानते अपने प्रदेश में घुसने नहीं देते, दूसरों का तो सवाल ही नहीं पैदा होता।

…कश्मीर का नगर चार फरसख के क्षेत्र में वसा हुआ है। यह झेलम नदी के दोनों किनारों पर स्थित है जो पुलों और नावों से जुड़े हुए हैं। झेलम हरमकोट पर्वत से निकलती है जहां से गंगा भी निकलती है। यह ऐसा ठंडा और अगम्य प्रदेश है जहां कभी वर्फ़ पिघलती ही नहीं, न ही वहां से हटती है। उन्हीं के पीछे महा चीन है…।

यह उत्तर दिशा में भारत की सीमा है।

भारत के पश्चिमी सीमावर्ती पहाड़ों में अफ़गानों के विभिन्न कवीले आवाद हैं और उनकी वस्ती सिंधु घाटी के निकट तक फैली हुई है।

भारत की पश्चिमी और दक्षिणी सीमाएं

भारत की दक्षिणी सीमा समुद्र से घिरी हुई है। भारत का समुद्र तट तिज़ से जो मकरान की राजधानी है शुरू होता है और वहां से उत्तर-पूर्वी दिशा में होता हुआ अल-दाइवल क्षेत्र में 40 फरसख की दूरी तक फैला हुआ है और इन दोनों स्थानों के बीच तूरान की खाड़ी है।

उपर्युक्त खाड़ी के वाद छोटा मुनही और वड़ा मुनहा आते हैं, फिर आता है ववरीज जो कच्छ और सोमनाथ के जलदस्यु हैं। उनका यह नाम इसलिए पड़ा है कि वे वेड़ों में जाकर समुद्र में डाका डालते हैं। समुद्र तट पर ये स्थान हैं— तवाल्लेशर दाइवल से 50 फरसख है; लोहारानी 12 फरसख; वागा 12 फ़रसख; कच्छ जहां मुकल के पेड़ होते हैं और वरोई 6 फरसख; सोमनाथ 14 फरसख; कंवायत 30 फरसख; असाविल 2 दिन; भिरोच 30 फरसख (?); सनदन 50 फरसख; सुवारा 6 फरसख; थाना 5 फरसख।

उसके आगे समुद्र तट लाड़न देश तक आता है जिसमें जिमूर नामक नगर है; वहां से वल्लभ, कांजी, धारवाड़ आते हैं। इससे आगे खाड़ी पड़ती है जिसमें सिंहद्वीप पड़ता है अर्थात् सरनदीव (लंका) द्वीप। खाड़ी के आसपास पंजायावर (एवमेव) नगर है। जब वह नगर नष्ट हो गया था तो जौर नामक राजा ने उसको दुवारा वनवाने के वजाय पश्चिमी तट की ओर एक नया शहर वसाया जिसे उसने पादनार नाम दिया।

समुद्र तट पर अगला स्थान उम्मलनाड़ है, फिर रामशेर (रामेश्वर ?) है जो सरनदीव के सामने हैं; इन दोनों के वीच समुद्र की दूरी 12 फरसख है। पंजायावर से रामशेर की दूरी 40 फरसख है और रामशेर और सेतुवंध के वीच 2 फरसख की दूरी है। सेतुवंध का अर्थ है समुद्र पर वना पुल। यह दशरथ-पुत्र राम की नहर है जिसे उसने महाद्वीप से लेकर लंका के दुर्ग तक वनवाया था। इस समय इसमें छितरे हुए पर्वत हैं जिनके वीच से समुद्र वहता है। सेतुवंध से पूर्व की ओर सोलह फरसख की दूरी पर किहकिंद (किष्किंध)—वानरों का पर्वत—स्थित है। हर रोज़ वानरों का राजा भाड़ी से निकल कर अपने वानर समूह के साथ आता है और वे सव अपने-अपने आसनों पर जो उनके लिए विशेप रूप से वनाए गये हैं, वैठ जाते हैं। उस क्षेत्र के निवासी उनके लिए चावल वनाते हैं, और फिर उन्हें पत्तलों पर रखकर परोसते हैं। खाने के वाद वे भाड़ियों में लौट जाते हैं, लेकिन यदि उनकी उपेक्षा की जाए तो समभिए कि उस राज्य का नाश हो गया क्योंकि

वे न केवल असंख्य हैं बल्कि जंगली और लड़ाकू भी हैं। ऐसा लोक-विश्वास है कि वे मानवजाति के ही थे लेकिन चूंकि उन्होंने उस समय राम की सहायता की थी जब वे राक्षसों से युद्ध कर रहे थे तो उन्हें वानर जाति में बदल दिया गया था; यह भी मान्यता है कि राम ने ही उन्हें ये गांव जागीर में दिए थे। यदि कोई मनुष्य उनमें जा मिलता और वह उन्हें रामायण सुनाता है और राम के मंत्रादि का उच्चार करता है तो वे शांतिपूर्वक उसे सुनते हैं और यदि उनमें से कोई रास्ता भटक गया है तो उसे सही रास्ता दिखाते हैं और उसका मांस और मदिरा से आतिथ्य करते हैं। कुछ भी हो, लोक-विश्वास के अनुसार तो स्थिति यही है।

भारतीय और चीनी समुद्रों में द्वीप

महासागर में पूर्व स्थित द्वीप-समूह जो भारत की अपेक्षा चीन के अधिक निकट हैं ज़बज द्वीप-समूह हैं जिन्हें हिन्दू सुवर्ण द्वीप कहते हैं। इस महासागर के पश्चिमी द्वीप-समूह ज़ंज (हबशी) के हैं और जो उसके मध्य में हैं राम और दीव द्वीप-समूह (मालदीव, लक्ष्यदीप) हैं जिनमें कुमारी द्वीप-समूह भी शामिल हैं। दीव द्वीपों की यह विशेषता है कि वे धीरे-धीरे उभरते हैं; पहले तो सागर की सतह पर एक रेतीला भूखंड उभरता है; फिर वह बढ़ता जाता है और सभी दिशाओं में फैल जाता है और अंत में वहां की धरती दृढ़ हो जाती है जबकि उसी समय में दूसरा द्वीप कमज़ोर पड़ता जाता है और बह जाता है और अंततः सागर में विलीन हो जाता है। ज्यों ही वहां के निवासियों को इस खतरे का आभास होता है वे नये द्वीप की तलाश करते हैं जहां की भूमि अधिक उपजाऊ हो। वे अपने नारियल, खजूर, धान्य और घरेलू सामान वहां पहुंचाकर खुद भी वहीं चले जाते हैं। ये द्वीप उनके उत्पादों के अनुरूप दो वर्गों में विभक्त हैं—दीव कुध अर्थात् सीपियों का द्वीप। क्योंकि वहां वे सीपियां नारियल के वृक्षों की शाखाओं से एकत्र करते हैं जो वे समुद्र में बो देते हैं; और दीवकंबर अर्थात् रस्सी का दीव जो नारियल के रेशे से बट कर बनाई जाती है और जहाज़ के तख्ते बांधने में इस्तेमाल होती है।

...प्राचीन काल में सरनदीव (श्रीलंका) की खाड़ी में मुक्ता-भंडार थे लेकिन अब उनका परित्याग कर दिया गया है। चूंकि सरनदीव-मुक्ता नहीं रहे इसलिए ज़ंज देश में सुफाला नामक स्थान पर दूसरे मोतियों की खोज कर ली गयी है और इसलिए लोग कहते हैं कि सरनदीव के मोती सुफाला चले गये हैं।

भारत में वृष्टि

भारत में गर्मी के मौसम में उष्णकटिबंधीय वर्षा होती है और यह मौसम

वर्षाकाल कहलाता है और यह वर्षा भारत के उत्तर में जितना ऊपर जाते जाएंगे अधिक भारी और देर तक होती है और पर्वतीय क्षेत्रों में अपेक्षतः उतनी ही कम। मुल्तान के लोग मुझसे कहा करते थे कि हमारे यहां तो वर्षाकाल होता ही नहीं, अलबत्ता पर्वतमाला के निकट जो भी प्रांत उत्तर दिशा में हैं वहां ज़रूर बारिश होती है। भटल और इंद्रवेदी में यह आषाढ़ मास से शुरू होती है और लगातार चार मास तक ऐसी होती रहती है जैसे बाल्टियां भर-भरके पानी गिराया जा रहा हो। उत्तर दिशा में और भी आगे कश्मीर की पहाड़ियों से जुदेरी की चोटी तक दुनपुर और बरशावर के बीच श्रावन के बाद दो मास तक मूसलाधार बारिश होती है। लेकिन इस चोटी की दूसरी ओर बारिश का नाम तक नहीं, क्योंकि उत्तर में बादल अधिक भारी होने के कारण सतह से ज्यादा ऊपर नहीं उठ पाते। पर जब वे पहाड़ों के निकट पहुंचते हैं और पहाड़ों से टकराते हैं और बादलों को इस तरह दबा दिया जाता है जैसे ज़ैतून या अंगूर को तो उसके कारण वे बरस पड़ते हैं और बादलों को पहाड़ों से पार जाने का अवसर कभी मिल ही नहीं पाता। इसलिए कश्मीर में वर्षाकाल होता ही नहीं, और माघ के लगते ही ढाई महीने तक लगातार बर्फ गिरती है और चैत्र के आधे बीत जाने के कुछ ही समय बाद कुछ दिनों तक वर्षा होती है जिससे बर्फ भी पिघल जाती है और धरती भी धुल जाती है। यह ऐसा नियम है जिसका शायद ही कोई अपवाद हो, अलबत्ता असाधारण मौसमी घटनाओं का कुछ-न-कुछ सीमा तक हो जाना भारत के प्रत्येक प्रांत की विशेषता है।

उन्नीसवां अध्याय

ग्रहों के नाम, राशियां, चंद्रमा के नक्षत्र और संबंधित विषय

हमने इस पुस्तक के आरंभ में ही यह बता दिया है कि हिन्दुओं की संज्ञाओं की दृष्टि से बहुत समृद्ध भाषा है चाहे संज्ञाएं मूल हों अथवा व्युत्पन्न। यही कारण है कि कुछ प्रसंगों में वे एक ही चीज को अनेक नामों से पुकारते हैं। इसी संदर्भ में मैंने उन्हें कहते सुना है कि उनके यहां सूर्य के हजार नाम हैं और इसमें भी कोई संदेह नहीं कि हरेक ग्रह के भी हजार नहीं तो लगभग उतने ही नाम हैं क्योंकि (पद्यात्मक रचना के लिए) उनसे कम में काम नहीं चलता।

सप्ताह के दिनों के नाम

उनके यहां सप्ताह के दिनों के नाम भी ग्रहों के सर्वविख्यात नामों पर ही रखे गये हैं जिन्हें शब्द 'वार' से जोड़ दिया गया है, जो ग्रह के नाम के बाद रखा जाता है, ठीक उसी तरह जैसे फ़ारसी में शब्द 'शंबा' सप्ताह के दिन की संख्या के बाद (दुशंबा, सेशंबा आदि) जोड़ दिया जाता है। यथा :

आदित्यवार	बृहस्पतिवार
सोमवार	शुक्रवार
मंगलवार	शनिश्चरवार
बुधवार	

और वे फिर इसी तरह आदित्यवार से शुरू करके सोमवार आदि गिनते हैं।

हिन्दुओं में यह रिवाज है कि वे ग्रहों की गणना सप्ताह के दिनों के क्रम से करते हैं। और वे अपनी खगोलशास्त्र-संबंधी पुस्तिकाओं तथा अन्य पुस्तकों में भी इसी क्रम के प्रयोग पर बल देते हैं, और चाहे दूसरा कोई क्रम कितना ही सही हो उन्हें स्वीकार्य नहीं होता।

ग्रहों का क्रम और उनकी अंकन-पद्धति

यूनानी ग्रहों का निश्चय अंकों से करते हैं ताकि ऐसा करके वेधयंत्र पर उनकी

सीमा इस प्रकार निर्धारित की जा सके कि सभी उसे सरलता से समझ सकें। वे ऐसे प्रतीकों का प्रयोग करते हैं जो वर्णमाला के अक्षर नहीं होते। हिन्दू भी इसी प्रकार की संक्षेपण पद्धति अपनाते हैं; अंतर यह है कि उनके अंक इसी प्रयोजन के लिए गढ़े गये प्रतीक नहीं होते वल्कि वे ग्रहों के नामों के प्रारंभिक अक्षर होते हैं जैसे अ=आदित्य; च=चंद्र; व=वुध।

नीचे दी गयी सारणी में सातों ग्रहों के सर्वाधिक जाने-माने नाम दिए गये हैं:

ग्रह	भारतीय भाषा में उनके नाम
सूर्य	आदित्य, सूर्य, भानु, अर्क, दिवाकर, रवि, विवत (?), हेलि।
चंद्रमा	सोम, चंद्र, इंदु, हिमगु, शीतरश्मि, हिमरश्मि, शीतांशु, शीतदीधिति, हिममयूख।
मंगल	मंगल, भौम्य, कुज, आर, वक्र, अवनेय, माहेय, क्रूराक्षि (?), रक्त।
वुध	वुध, सौम्य, चंद्र, ज्ञ, वोधन, वित्त (?), हेम्न।
वृहस्पति	वृहस्पति, गुरु, जीव, देवेज्य, देवपुरोहित, देवमंत्रिन, आंगिरस, देवपिता।
शुक्र	शुक्र, भृगु, सीत, भार्गव, अस्वाति (?), दानवगुरु, भृगुपुत्र, अस्फुजित (?)
शनि	शनिश्चर, मंद, असित, कोण, आदित्यपुत्र, सौर, आर्कि, सूर्यपुत्र।

सूर्य के नामों की अनेकता ही, जैसा कि ऊपर की सारणी से प्रकट होता है, वह कारण था जिसने धर्मविज्ञानियों को यह अनुमान करने की प्रेरणा दी कि सूर्यों की संख्या एक से अधिक है। इसीलिए उनका मत है कि सूर्य वारह हैं और उनमें से प्रत्येक एक मास-विशेष में उदित होता है।

चंद्रमा के भी, जो सूर्य का ही साथी है, कई नाम हैं—जैसे सोम, क्योंकि वह शुभ है और हर चीज जो मंगलकारी है सोमग्रह कहलाती है; जवकि जो कुछ अशुभ या अमंगलकारी है पापग्रह कहलाता है। इसके अलावा निःशेप अर्थात् रात्रि का अधिपति, नक्षत्रनाथ अर्थात् नक्षत्रों का स्वामी, द्विजेश्वर अर्थात् ब्राह्मणों का स्वामी, शीतांशु अर्थात् शीत किरणवाला क्योंकि चंद्रमा का मंडल जलीय है जो पृथ्वी के लिए वरदान है। जव सूर्य की किरण चंद्रमा से मिलती है तो वह किरण चंद्रमा जैसी शीत वन जाती है और फिर जव वह परावर्तित होती है तो वह अंधकार का हरण करके प्रकाश फैलाती है, रात्रि को शीतल वनाती है और

सूर्य द्वारा उत्पन्न किसी भी प्रकार के हानिकर दहन को बुझा देती है। इसी प्रकार उसे चंद्र भी कहते हैं जिसका अर्थ है नारायण की बाईं आंख, क्योंकि सूर्य उसकी दाहिनी आंख है।

यदि निम्न सारणी में दिए गये नाम पहले उल्लिखित नामों से किसी दृष्टि से भिन्न प्रतीत हों तो पाठक को यह जान लेना चाहिए कि अब तक जो नाम हमने गिनवाए है वे देशी या अपभाषा के हैं और जो नीचे की सारणी में दिए गये हैं शास्त्रीय हैं :

मास	नक्षत्र	मास	नक्षत्र
कार्तिक	3. कृत्तिकाx	वैसाख	16. विशाखा
	4. रोहिणी		17. अनुराधा
मार्गशीर्ष	5. मृगशीर्षx	ज्येष्ठ	18. ज्येष्ठx
	6. आर्द्र		19. मूल
पौष	7. पुनर्वसु	आषाढ़	20. पूर्व आषाढ़x
	8. पुष्यx		21. उत्तर आषाढ़
माघ	9. अश्लेष	श्रावण	22. श्रावणx
	10. माघ		23. धनिष्ठा
फाल्गुन	11. पूर्व-फाल्गुनीx	भाद्रपद	24. शतभिषज
	12. उत्तर-फाल्गुनी		25. पूर्व-भाद्रपदx
	13. हस्त		26. उत्तर-भाद्रपद
चैत्र	14. चित्र		
	15. स्वाति	अश्वयुज	27. रेवती
			1. अश्विनी
			2. भरणी

राशियों के नाम

राशियों के नाम उन प्रतीकों के अनुरूप हैं जिनका वे बोध कराती हैं और वे जैसे हिन्दुओं में हैं वैसे ही अन्य जातियों में भी। तीसरी राशि मिथुन कहलाती है जिसका अर्थ लड़के और लड़की का जोड़ा होता है; वस्तुतः यह युग्मज के ही समान है जो इस राशि का प्रसिद्ध नाम है।

[इन राशियों के संबंध में वराहमिहिर का उद्धरण दिया गया है। यह भी संकेत किया गया है कि सामान्य नामों के अलावा वराहमिहिर ने राशियों के "कुछ ऐसे भारतीय नामों का भी उल्लेख किया है जो सामान्यतः नहीं जाने जाते।" इन दोनों समूहों को दर्शानेवाली एक समेकित सारणी पृ० 219-20 पर दी गयी है।]

बीसवां अध्याय

ब्रह्मांड

ब्रह्मा का अंडा, इसका जल से उद्भव :

ब्रह्मांड का अर्थ है ब्रह्मा का अंडा और वास्तव में यह समस्त आकाश के लिए प्रयुक्त होता है, क्योंकि यह गोलाकार है और इसकी परिक्रमा एक विशिष्ट प्रकार की होती है। यह समस्त संसार पर भी लागू होता है क्योंकि यह उपरि और अधोभाग में विभक्त है। वे जब लोकों की गणना करते हैं तो उन सबके योग को ब्रह्मांड कहते हैं। लेकिन हिन्दुओं ने खगोलशास्त्र की दीक्षा नहीं ली है, न ही उनकी खगोलशास्त्रीय धारणाएं सही हैं। यही कारण है कि उनके विश्वास के अनुसार पृथ्वी अचल है और विशेष रूप से जब वे अलौकिक आनंद को सांसारिक सुख के रूप में वर्णित करते हैं तो इसी पृथ्वी को विभिन्न वर्गों के भगवानों और देवताओं आदि का निवास-स्थान बताते हैं, क्योंकि उनका यह भी विश्वास है कि ये भगवान, देवता आदि उपरि लोकों से निम्न लोकों की ओर गमन करते हैं।

उन्होंने अपनी परंपरा को जिस रहस्यमय ढंग से प्रस्तुत किया है उसके अनुसार जब कुछ नहीं था तब पानी था और वह समस्त संसार की सतह पर फैला हुआ था। जैसा कि मैंने उनको समझने की कोशिश की है कि उनका यह विचार उस समय के लिए होगा जो आत्मा-दिवस (पुरुषहोरात्र, पृ० 153) के आरंभ में था और जब रचना और संगठन शुरू हुआ था। इसके अलावा उनका यह भी कहना है कि जल प्रवाहित था और झाग उगलता था। उसके बाद जल से कोई चीज़ निकली जिससे स्रष्टा ने ब्रह्मा का अंडा बनाया। कुछ का तो कहना है कि अंडा टूट गया; उसमें से ब्रह्मा प्रकट हुए, आधा भाग आकाश बन गया और दूसरा आधा धरती और इन दोनों आधे भागों के जो टूटे हुए अंश थे वे वर्षा बन गये। यदि उन्होंने वर्षा के बजाय पर्वत कहा होता तो अधिक विश्वसनीय होता। कुछ दूसरों का विचार है कि भगवान ने ब्रह्मा से कहा : "मैं एक अंडाणु की सृष्टि करता हूं ताकि वह तुम्हारा निवास-स्थल बन जाए।" उसने इसकी उपर्युक्त फेन

और जल से सृष्टि की लेकिन जब पानी नीचे धंस गया और सूख गया तो अंडे के दो भाग हो गये'''।

जल. सृष्टि का आदि तत्व; ब्रह्मा के अंडाणु का दो भागों में विभाजन

हिन्दुओं के इस सिद्धांत का कि समस्त सृष्टि के पहले केवल जल था यही आधार है कि जल ही प्रत्येक पदार्थ के परमाणुओं के संयोग, हर वस्तु के विकास और प्रत्येक जीवधारी के जीवन-काल का कारण है। इस प्रकार जब सृष्टिकर्ता पदार्थ से कोई सृष्टि करना चाहता है तो जल ही उसके हाथ में एक उपकरण का काम करता है।

अंडाणु के दो भागों में विभाजन का सिद्धांत यह सिद्ध करता है कि उसका जन्मदाता, वैज्ञानिक का बिल्कुल विलोम था जो यह जानता ही न था कि आकाश ने पृथ्वी को इसी प्रकार अपने अंदर समाविष्ट किया था जैसे ब्रह्मा का अंडाणु उसके पीतक को अपने अंदर समोए रखता है। उसने तो केवल यह कल्पना की कि पृथ्वी नीचे है और आकाश धरती की छह दिशाओं में से केवल एक है अर्थात् उसके ऊपर है। यदि वह सत्य को जानता होता तो उसे अंडाणु के तोड़ने के सिद्धांत की क़भी आवश्यकता ही न पड़ती। बहरहाल वह अपने इस सिद्धांत के द्वारा यह सिद्ध करना चाहता था कि अंडाणु का आधा भाग पृथ्वी के रूप में फैल गया और दूसरा आधा गुंबज की भांति उसके ऊपर स्थापित हो गया और इसमें भू-मंडल के तल-प्रक्षिप्त गोल के विवेचन में वह टॉलमे का स्पर्धी बनना चाहता था, किंतु विफल रहा।

[विभिन्न भारतीय लेखकों—ब्रह्मगुप्त, पुलिश, बलभद्र और आर्यभट्ट के उद्धरण दिए गये हैं और उनकी आलोचना की गयी है। पृ० 223-27]

इक्कीसवां अध्याय

हिन्दुओं के धर्म-सिद्धांतों के अनुसार पृथ्वी और आकाश का वर्णन जो उनके परंपरागत साहित्य पर आधारित है

सात लोक

जिन लोगों की हम पिछले अध्याय में चर्चा कर चुके हैं उनका विचार है कि लोकों की संख्या सात है और वे ऐसे ही हैं जैसे सात आवरण एक-दूसरे के ऊपर रख दिए जाएं। फिर उपरि लोक को उन्होंने सात भागों में विभक्त किया है जो हमारे खगोलशास्त्रियों के जिन्होंने पृथ्वी को 'इक़लीमों' में और ईरानियों के विभाजन से भिन्न है जिन्होंने उसे 'किश्वर' में विभक्त किया है। आगे चलकर हम उनके सिद्धांतों की स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत करेंगे जो उन्होंने अपने धर्म-सिद्धांतों के प्रथम आधिकारिक विद्वानों से ग्रहण किए हैं, ताकि इस विषय की सम्यक् समीक्षा की जा सके। यदि हमें इसमें कोई बात विचित्र लगेगी जो व्याख्या-सापेक्ष हो या हमें कोई ऐसी बात नजर आए जो दूसरों की धारणा से मेल खाती हो—चाहे दोनों की ही बात ठीक न हो—तो उसे हम पाठक के समक्ष पेश कर देंगे। इस उद्देश्य से नहीं कि ऐसा करके हम हिन्दुओं पर आश्रय करना या उनकी निंदा करना चाहते हैं बल्कि हमारा अभीष्ट उन लोगों को उद्‌बुद्ध करना है जो इन सिद्धांतों का अध्ययन करते हैं।

लोकों के अनुक्रम में मतभेद जिसे भाषा के शब्दांबर के परिणाम के रूप में स्पष्ट किया गया है

उपरि लोकों की संख्या को लेकर उनमें परस्पर कोई मतभेद नहीं है, न ही उपरिलोक के भागों की संख्या पर कोई विवाद है बल्कि उनका मतभेद उन लोकों के नामों और उन नामों के अनुक्रम से संबंधित है। मुझे यह अंतर उनकी भाषा के शब्द-बाहुल्य का ही परिणाम लगता है, क्योंकि उनके यहां एक ही वस्तु के अनेक नाम हैं। उदाहरण के लिए, वे सूर्य का वर्णन करते हुए उसे हजारों भिन्न नामों से

याद करते हैं, ठीक उसी तरह जैसे अरबों के यहां 'सिंह' के सहस्र नाम मिल जाते हैं। इनमें से कुछ नाम तो मौलिक हैं और अन्य सिंह के जीवन की परिवर्तनशील परिस्थितियों या उसके व्यवहार और क्षमताओं से ग्रहण किए गये हैं। हिन्दू और उनके पक्षधर इस शब्दांबर की बहुत डींगे मारते हैं जबकि वास्तव में यह भाषा का सबसे बड़ा दोष है। इसका कारण यह है कि भाषा का काम सृष्टि की प्रत्येक वस्तु को और उसके प्रभाव को ऐसा नाम देना है जिसपर जन-सामान्य में मतैक्य हो ताकि हरेक व्यक्ति जब किसी अन्य व्यक्ति से उस शब्द का उच्चारण सुने तो उसकी समझ में उसका सही अर्थ आ जाए। इसलिए यदि किसी एक ही नाम या शब्द में अनेक अर्थ निकलें तो यह उस भाषा का दोष होता है और श्रोता वक्ता से उसका अर्थ पूछने के लिए विवश हो जाता है। इसलिए ऐसी स्थिति में होना यह चाहिए कि उस शब्द का त्याग किया जाए और उसके स्थान पर उसी जैसा कोई शब्द रखा जाए जिसका अर्थ स्पष्ट हो या उसकी जगह किसी ऐसे विशेषण का प्रयोग किया जाए जो अभीष्ट अर्थ का द्योतन कर सके। यदि एक ही वस्तु को कई नामों से जाना जाए और जाहिर है कि ऐसा इसलिए नहीं किया जाता कि भिन्न-भिन्न जाति अथवा वर्ग के लोग उसके लिए किसी भिन्न शब्द का प्रयोग करते हैं और यदि उस वस्तु के लिए एक शब्द का प्रयोग ही पर्याप्त हो तो उसके अलावा अन्य सभी नामों को मूर्खता की संज्ञा दी जा सकती है जिसका एकमात्र उद्देश्य जन-साधारण को अज्ञान में रखना और विषय को गूढ़ बना देना मात्र है। कुछ भी हो, इस प्रकार के शब्द-बाहुल्य से उन लोगों के लिए भारी कठिनाइयां पैदा हो जाती हैं जो उस भाषा को समग्र रूप मे सीखना चाहते हैं क्योंकि इस प्रकार की भाषा सर्वथा निरर्थक है और उसका सीखना समय नष्ट करना है।

मेरे दिमाग में अकसर यह बात आई है कि ग्रंथकारों और परंपराओं के संप्रेषकों ने लोकों को एक निश्चित क्रम में प्रस्तुत करने में अरुचि का प्रदर्शन किया है और उनके नाम भर गिनाने पर संतोष कर लिया है या पुस्तकों की प्रतिलिपिकों ने यादृच्छया पाठ मे परिवर्तन कर दिया है। यही कारण है कि जिन लोगों ने मुझे पाठ का अनुवाद या उसकी व्याख्या करके बताई है वे भाषा के अच्छे ज्ञाता थे और ऐसे व्यक्ति नहीं थे जो मेरे साथ किसी प्रकार का धोखा करते।

आदित्य-पुराण के अनुसार लोकों का स्वरूप

अगले पृष्ठ पर दी गयी सारणी में लोकों के नाम उसी रूप में दर्शाए गये हैं जिस रूप में मैं उन्हें जानता हूं। हमारा मूलाधार वही सूची है जो आदित्य-पुराण से ली गयी है क्योंकि उसमें एक निश्चित सिद्धांत का अनुसरण किया गया है जो प्रत्येक पृथक पृथ्वी और आकाश को सूर्य के अंगों में से प्रत्येक अंग से जोड़ता है।

लोकों की संख्या	आदित्य-पुराण		विष्णु-पुराण	वायु-पुराण		देशी नाम
	सूर्य के किन अंगों से संबंधित है	उनके नाम		उनके नाम	उनकी उपाधियां	
1.	नाभि	तल	अतल	आभास्तल	कृष्ण-भूमि, अंधकारमय पृथ्वी	अंशु (?)
2.	उरू	सुतल	वितल	इला (?)	शुक्ल-भूमि, उज्ज्वल पृथ्वी	अंबरतल
3.	जानु	पाताल	नितल	नितल	रक्त-भूमि, लाल पृथ्वी	शर्करा (?) (सक्कर)
4.	जानु से नीचे	आशाल (?)	गभस्तिमत	गभस्तल	पीत-भूमि, पीली पृथ्वी	गभस्तिमत
5.	पिंडिका	विशाल	महाख्य (?)	महातल	पाषाण-भूमि, पत्थर की पृथ्वी	महातल
6.	घुटिका	मृत्ताल	सुतल	सुतल	शिलातल, ईंट की पृथ्वी	सुतल
7.	पाद	रसातल	जागर (?)	पाताल	सुवर्ण-वर्ण, सोने के रंग की पृथ्वी	रसातल

आकाशों को सूर्य के कपाल से गर्भाशय तक के अवयवों से मिलाया गया है और पृथ्वियों को उसकी नाभि से पांव तक के अवयवों से मिलाया गया है। तुलना की इस पद्धति से उनका क्रम परिलक्षित होता है और उसमें भ्रम की कोई गुंजाइश नहीं रह पाती।

...पृथ्वियों के बाद आकाश आते हैं जिनके सात स्तर हैं जो एक-दूसरे के ऊपर स्थित हैं। ये 'लोक' कहलाते हैं जिसका अर्थ है "एकत्र होने का स्थान"। ...... पृथ्वियों के नामों की भांति लोकों के नामों में मतभेद नहीं हैं। केवल उनके क्रम के संबंध में थोड़ा मतभेद है। हमने लोकों के नाम एक तालिका में दर्शाए हैं जो पहले की तालिका से मिलती-जुलती है (पृ० 230)।

आकाशों की संख्या	आदित्य-पुराण के अनुसार सूर्य के अंग जिनसे वे संबंधित हैं	आदित्य, वायु और विष्णु-पुराण के अनुसार उनके नाम
1.	आमाशय	भूर्लोक
2.	वक्ष	भुवर्लोक
3.	मुख	स्वर्लोक
4.	भ्रू	महर्लोक
5.	भाल	जनलोक
6.	भाल से ऊपर	तपोलोक
7.	कपाल	सत्यलोक

...यह तो सात पृथ्वियों और सात आकाशों का वर्णन हुआ। अब हम सबसे ऊपर की पृथ्वी और तत्संबंधी विषयों की चर्चा करेंगे।

द्वीपों और समुद्रों की व्यवस्था

भारत में टापू के लिए दीप (द्वीप) का प्रयोग होता है। इस प्रकार के शब्द हैं 'सिंघलदीप' (सिंहल द्वीप) जिसे हम सरानदीप कहते हैं और 'दीवजात' (माल द्वीप, लक्ष्यद्वीप)। दीवजात अनेक द्वीपों का समूह है जो जर्जर होते-होते जल में विलीन हो जाते हैं और उनका तल सपाट हो जाता है और अंततः वे जल के नीचे लुप्त हो जाते हैं। साथ ही दूसरी ओर उसी प्रकार की संरचनाएं बालू की धारी की भांति जल के ऊपर उभरने लगती हैं और यही धारी लगातार बढ़ती, ऊपर को आती और फैलती जाती है। पूर्वोक्त द्वीपों के निवासी अपने घर-बार छोड़कर नये द्वीपों पर बस जाते हैं और वहां अपनी बस्ती बसा लेते हैं।

हिन्दुओं की धार्मिक परंपराओं के अनुसार जिस धरती पर हम रहते हैं वह

गोल है और एक समुद्र से घिरी हुई है। समुद्र पर छल्ले की आकृति की धरती होती है और इस धरती पर एक गोलाकार समुद्र छल्ले की भांति दिखाई देता है। इन शुष्क छल्लों की संख्या जिन्हें द्वीप कहते हैं सात है और इतने ही समुद्र भी हैं। द्वीप और समुद्र दोनों का आकार इस प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ता है कि प्रत्येक द्वीप पूर्ववर्ती द्वीप से दुगुना और प्रत्येक समुद्र पूर्ववर्ती समुद्र से दुगुना हो जाता है। यह इन दोनों की शक्ति की वृद्धि दर्शाता है। यदि मध्य की पृथ्वी को एक मान लिया जाए तो छल्लों के आकार से परिलक्षित सातों पृथ्वियों का परिमाण 127 होगा। यदि मध्य की पृथ्वी के इर्दगिर्द के समुद्र को एक मान लिया जाए तो छल्लों के आकार से परिलक्षित सातों समुद्रों का परिमाण 127 होगा। पृथ्वियों और समुद्रों का कुल परिमाण 254 होगा।

[द्वीपों और समुद्रों के परिमाण के संबंध में पतंजलि और वायु पुराण के टीकाकार के उद्धरण दिए गये हैं। साथ ही 'विश्व के आयाम' के निर्धारण के संबंध में पतंजलि का उद्धरण भी दिया गया है। पृ० 234-38]

बाईसवां अध्याय

ध्रुव संबंधी परंपराएं

दक्षिण ध्रुव का उद्गम और सोमदत्त की कथा

पृथ्वी के मेरु को हिन्दुओं की भाषा में ध्रुव और अक्ष या धुरी को शलाका कहा जाता है। हिन्दू, जिनमें खगोल-शास्त्री अपवाद हैं, हमेशा एक ही ध्रुव की बात करते हैं जिसका कारण यह है कि उनका विश्वास आकाश के गुंबद में है जैसा कि हम इससे पहले स्पष्ट कर चुके हैं। वायु-पुराण के अनुसार आकाश ध्रुव के इर्द-गिर्द उसी प्रकार घूमता है जैसे कुम्हार का चाक, और ध्रुव अपना स्थान बदले बिना ही अपनी परिक्रमा करता है। यह परिक्रमा 30 मुहुर्त अर्थात् एक नक्तंदिव में पूरी होती है।

[दक्षिणी ध्रुव के बारे में अल-बिरूनी ने राजा सोमदत्त से संबंधित एक कथा का उल्लेख किया है जिसने अपने महान कार्यों के द्वारा स्वर्ग प्राप्त कर लिया था, लेकिन वह सशरीर स्वर्ग में प्रवेश करना चाहता था। अपनी इस इच्छा की पूर्ति के लिए उसने ऋषि वशिष्ठ से प्रार्थना की किन्तु उन्होंने कहा, ऐसा असंभव है। यही नहीं, उसकी इस इच्छा का वशिष्ठ के पुत्रों ने उपहास भी किया। बाद में वह ऋषि विश्वामित्र के पास गया जो उससे बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने राजा के लिए एक 'नया स्वर्ग' बनाना शुरू किया। ऋषि ने 'ध्रुव और सप्तर्षि का दक्षिण में' निर्माण शुरू किया किन्तु इंद्र ने उनसे ऐसा न करने का आग्रह किया। विश्वामित्र इस शर्त पर ऐसा न करने के लिए सहमत हुए कि सोमदत्त को सशरीर स्वर्ग में जाने दिया जाए और ऐसा ही हुआ भी। परिणामतः ऋषि ने 'एक दूसरा लोक निर्माण करने का विचार त्याग दिया किन्तु उस क्षण विशेष तक जितना वह निर्मित कर चुके थे शेष रहा।' पृ० 239-40]

यह सर्वविदित है कि हमारे यहां उत्तरी ध्रुव को बनातुन्नाश (सप्तर्षि) कहते हैं और दक्षिणी ध्रुव को सुहैल (एक तारा)। लेकिन हमारे कुछ लोग (मुसलमान) जो अशिक्षित जन-समूह से ऊपर नहीं आते, यह कहते हैं कि आकाश के दक्षिण में

भी उसी आकार का सप्तर्षि होता है जसा उत्तर में और वह दक्षिणी ध्रुव की परिक्रमा करता है।

ऐसी बात यदि कोई विश्वसनीय व्यक्ति कहता जिसने दूर-दूर तक समुद्री यात्रा की होती तो यह न असंभव लगती और न ही विचित्र। यह निश्चित है कि दक्षिणी क्षेत्र में नक्षत्र दिखायी देते हैं जिन्हें हम अपने अक्षांशों में नहीं जानते।

जब ब्रह्मा मानव की सृष्टि करना चाहता था तो उसने अपने को दो भागों में बांट लिया जिसमें दाहिना भाग विराज और बायां मनु कहलाया। मनु वह प्राणी है जिस पर मन्वंतर नाम पड़ा है जो एक कालावधि है।

ध्रुव की कथा

मनु के दो पुत्र थे, प्रियव्रत और उत्तानपाद अर्थात् धन्वाकार टांगों वाला राजा। उसी का ध्रुव नामक एक पुत्र था, जिसका उसके पिता की एक पत्नी ने अपमान कर दिया था। उसी के फलस्वरूप उसे यह वरदान प्राप्त हुआ था कि वह सभी नक्षत्रों के इर्द-गिर्द इच्छानुसार घूम सकता है। वह स्वयंभू के मन्वंतर में हुआ था जो सबसे पहला मन्वंतर कहलाता है और अब वह हमेशा के लिए उसी स्थान में स्थिर हो गया है।

तेईसवां अध्याय

पुराण और अन्य ग्रंथों के रचनाकारों के विश्वास के अनुसार मेरू पर्वत का वर्णन

पृथ्वी और मेरू पर्वत के संबंध में ब्रह्मगुप्त के विचार

हम इसी पर्वत के वर्णन से इस अध्याय का प्रारंभ करते हैं क्योंकि यह द्वीपों और समुद्रों का केंद्र है और साथ ही जंबूद्वीप का भी केंद्र है। ब्रह्मगुप्त का कथन है कि "पृथ्वी तथा मेरू पर्वत के संबंध में लोगों में और विशेष रूप से उन लोगों में जो पुराणों और धर्मग्रंथों का अध्ययन करते हैं अनेक प्रकार के मत हैं। कुछ लोगों का कहना है कि यह पर्वत पृथ्वी के धरातल से उठकर बहुत ऊंचा चला गया है। यह ध्रुव के नीचे स्थित है और नक्षत्र इसके अधोभाग के आसपास घूमते हैं और इसी कारण से उदय और अस्त दोनों का दारोमदार मेरू पर ही है। इसका नाम मेरू इसी कारण से पड़ा है कि इसमें ऐसा करने की क्षमता है और चूंकि यह अपने सिर के प्रभाव पर ही आश्रित है इसीलिए सूर्य और चंद्रमा दिखायी देते हैं। मेरूवासी देवताओं का दिन छह मास तक रहता है और उनकी रात की अवधि भी छह मास की होती है।"

[इस विषय पर बलभद्र के मतों की आलोचना की गयी है। साथ ही बलभद्र ने आर्यभट्ट के मतों के जो उद्धरण दिए हैं उनकी भी आलोचना की गयी है। (पृ० 243-46) पश्चोक्त के संबंध में अल-बिरूनी ने बताया है कि आर्यभट्ट नाम के दो व्यक्ति थे : एक 'ज्येष्ठ आर्यभट्ट' और दूसरा 'कुसुमपुरा का आर्यभट्ट' कहलाता था। अल-बिरूनी ने लिखा है, "कुसुमपुरा के आर्यभट्ट की पुस्तक में हमने पढ़ा है कि मेरू पर्वत हिमवंत के शीत प्रदेश में स्थित है जिसकी ऊंचाई एक योजन से अधिक नहीं है। लेकिन अनुवाद में इसे जिस प्रकार बताया गया है उससे यह मालूम होता है कि वह हिमवंत से एक योजन से अधिक ऊंचा नहीं है।

[यह लेखक और ज्येष्ठ आर्यभट्ट एक ही नहीं है, लेकिन यह उसका एक अनुयायी अवश्य है क्योंकि इसने उसके उद्धरण दिये हैं और उसी का अनुसरण किया

है। मैं नहीं कह सकता कि इन दोनों नामों में किससे अभिप्रेत बलभद्र है। पृ० 172 भी देखें।]

सामान्य रूप से हम इस पर्वत की स्थिति के बारे में जो कुछ भी जानते हैं उसका आधार निगमन-तर्क ही है। इस पर्वत के संबंध में ही उनकी अनेक परंपराएं हैं। कुछ इसकी ऊंचाई एक योजन बताते हैं, और कुछ इससे अधिक; कुछ इसका आकार चतुर्भुजीय मानते हैं तो दूसरे अष्टभुजीय। अब हम अपने पाठकों को बताएंगे कि इस पर्वत के बारे में ऋषियों की क्या धारणा है···।

[कुछ पुराणों और पतंजलि के भाष्यकार के उद्धरण दिए गये हैं। पृ० 247-49]

बौद्धों के मत

मेरू के संबंध में हिन्दुओं की परंपरा के बारे में मैं इतना ही जान पाया हूं। और चूंकि मुझे न तो किसी बौद्ध की पुस्तक मिली है और न ही मैं किसी ऐसे बौद्ध को जानता था जिससे इस विषय में उनके सिद्धांतों का पता लग पाता, इसलिए मैं जो कुछ बता रहा हूं वह अलइरानशहरी को प्रमाण मानकर बता रहा हूं, हालांकि मेरे विचार में उसके विवरण में वैज्ञानिक परिशुद्धता का कोई दावा नहीं किया गया है, न ही वह किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा किया गया वर्णन है जिसे इस विषय का कोई शास्त्रीय ज्ञान हो। उसके कथनानुसार बौद्धों का यह मत है कि मेरू चारों मूल दिशाओं में चार लोकों के बीच स्थित है। उसका तल वर्गाकार तथा शिरोभाग गोलाकार है। उसकी लंबाई 80,000 योजन है जिसका अर्धांश आकाश की ओर उठा हुआ है और दूसरा अर्धांश नीचे पृथ्वी में चला गया है। इसका वह पक्ष जो हमारे लोक के बाद आता है नीलमणियों से युक्त है और यही कारण है कि हमें आकाश नीला दिखाई देता है; उसके दूसरी ओर माणिक्य तथा पीले और सफेद रत्न हैं। इस प्रकार मेरू पृथ्वी का केंद्र है।

चौबीसवां अध्याय

सात द्वीपों में से प्रत्येक के संबंध में पुराणों की परंपराएं

मत्स्य तथा विष्णु पुराणों के अनुसार द्वीपों का वर्णन

हम अपने पाठकों को बता दें कि यदि उन्हें इस अध्याय में प्रयुक्त सभी शब्द और अर्थ अरबी के तदनुरूपी शब्दों से सर्वथा भिन्न प्रतीत हों तो वे बुरा न मानें। जहां तक शब्दों के अंतर का प्रश्न है उसका कारण तो सामान्यतः भाषाओं का अंतर है; लेकिन जहां तक अर्थों की भिन्नता का संबंध है हमने उनका उल्लेख केवल इसलिए किया है कि उनके माध्यम से किसी ऐसे विचार की ओर ध्यान आकर्षित किया जा सके जो शायद किसी मुसलमान को भी स्वीकार्य हो, या उसका उद्देश्य यह रहा है कि किसी भी ऐसे तथ्य का अविवेकपूर्ण स्वरूप स्पष्ट हो सके जो अपने में सर्वथा निराधार है।

1. जंबू-द्वीप

हम केंद्र के द्वीप के बारे में पहले ही बता चुके हैं जब हमने उसके केंद्र के पर्वत के परिप्रदेश का वर्णन किया था। इसका नाम जंबू-द्वीप उस वृक्ष के नाम पर पड़ा है जो इसके अंदर उभरा था और जिसकी शाखाएं 100 योजन की दूरी तक फैली हुई थीं। आगे किसी अध्याय में हम जंबू-द्वीप का वर्णन करेंगे जहां हमने रहने लायक लोक और उसके भागों के बारे में चर्चा की है। उसके बाद हम उन द्वीपों का विवरण देंगे जो उसके आसपास स्थित हैं और उन सबके नामों के क्रम के संबंध में हमारे पास जो प्रमाण है वह मत्स्य पुराण है।

[इसके बाद उन छह द्वीपों का संक्षिप्त वर्णन दिया गया है जो मुख्यतः मत्स्य और विष्णु पुराणों पर आधारित है। उस वर्णन में कुछ पौराणिक कथाएं हैं और कुछ अविश्वसनीय ब्यौरे, जैसे यह कि इनमें से कुछ द्वीपों के निवासी 3000 या 11000 वर्षों तक जीवित रहे थे। नीचे जो उद्धरण दिए गये हैं उनमें से ऐसे अंश छोड़ दिए गये हैं। केवल भौगोलिक विवरण तथा विभिन्न द्वीपों के निवासियों के सामाजिक संगठन के संबंधित ब्यौरे ही शामिल किए गये हैं। पृ० 252-56]

2. शाक-द्वीप

...अब हम शाक-द्वीप का वर्णन करेंगे। इसमें सात बड़ी-बड़ी नदियां हैं जिनमें से एक पवित्रता में गंगा के समान है। (उसमें) सात पर्वत हैं जो रत्न-जड़ित हैं, इनमें से कुछ में देवता निवास करते हैं और अन्य में राक्षस। पर्वतों में से एक स्वर्णिम उत्तुंग पर्वत है जिस पर से बादल उठते हैं और वर्षा करते हैं। एक और पर्वत ऐसा है जिस पर सभी प्रकार की औषधियां मिलती हैं...।

शाक-द्वीप के निवासी बहुत धर्मपरायण और दीर्घायु प्राणी हैं। वे राजाओं के शासन की कोई परवाह नहीं करते, क्योंकि न उनमें ईर्ष्या है और न ही कोई स्पृहा। उनमें चारों वर्णों अर्थात् जातियों के लोग हैं जो न तो आपस में विवाह करते हैं और न ही एक-दूसरे से मेल-जोल रखते हैं...उनकी जातियों के नाम हैं आर्यक, कुरूर, विविंश (विवंश) और भाविन (?) और वे वासुदेव के आराधक हैं।

3. कुश-द्वीप

तीसरा द्वीप कुश-द्वीप है। (इसमें) सात पर्वत हैं जिनमें रत्न, फल, फूल, सुगंधित पौधे और अन्न हैं...। (इसमें) सात राज्य हैं और अनेक नदियां हैं जो बहती हुई समुद्र में जा गिरती हैं। और फिर उन्हें इन्द्र वर्षा में परिणत कर देता है। सबसे बड़ी नदियों में जौनु (यमुना) आती है जो सारे पापों को धो देती है... इसके निवासी धर्मपरायण और निष्पाप लोग हैं...। वे जनार्दन की पूजा करते हैं और उनकी जातियों के नाम हैं दामिन्, सुपमिन्, स्नेह और मनदेह।

4. क्रौंच-द्वीप

चौथे या क्रौंच-द्वीप में...पर्वत हैं जिनमें रत्न निकलते हैं, नदियां हैं जो गंगा की ही शाखाएं हैं-और ऐसे राज्य हैं जहां के लोगों का रंग गोरा है और वे धर्म-परायण और सात्विक हैं। विष्णु पुराण के अनुसार वहां के लोग एक ही जगह में रहते हैं और समुदाय के सदस्यों में कोई भेदभाव नहीं है। लेकिन आगे चलकर उसी में कहा गया है कि उनकी जातियों के नाम हैं पुष्कर, पुष्फल, धन्य और तिष्य (?)। वे जनार्दन की पूजा करते हैं।

5. शाल्मल-द्वीप

पांचवें या शाल्मल-द्वीप में पहाड़ और नदियां हैं। यहां के निवासी सात्विक वृत्ति के, दीर्घायु और सौम्य स्वभाव के हैं और कभी क्रोध नहीं करते। उनके यहां न कभी सूखा पड़ता है और न ही किसी चीज की कमी आती है क्योंकि उनको केवल इच्छा करने पर ही भोजन मिल जाता है, उन्हें बीज बोने या परिश्रम करने की

आवश्यकता नहीं पड़ती। उन्हें किसी राजा के शासन की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि उन्हें संपत्ति की कोई इच्छा ही नहीं होती। इस द्वीप की जलवायु सर्दी या गर्मी में कभी बदलती नहीं है, इसलिए उन्हें इन दोनों से बचाव की कोई आवश्यकता ही नहीं होती। उनके यहां वर्षा नहीं होती बल्कि उनके लिए जल पृथ्वी से उबलता है और पहाड़ों से नीचे गिरता है। यही स्थिति निम्नलिखित द्वीपों की भी है···।

उनकी मुखाकृतियां बड़ी सुन्दर होती हैं और वे भागवत की पूजा करते हैं। वे अग्नि में आहुति डालते हैं···। उनकी जातियों के नाम हैं कपिल, अरुण, पीत और कृष्ण।

6. गोमेद-द्वीप

छठे या गोमेद-द्वीप में दो बड़े-बड़े पर्वत हैं जिनमें एक गहरे रंग का सुमनस है जिससे द्वीप का सबसे अधिक भाग घिरा हुआ है और दूसरा कुमुद है जो सुनहरे रंग का और बहुत ऊंचा है; दूसरे पर सभी प्रकार की औषधियां मिलती हैं। इस द्वीप में दो राज्य हैं।

विष्णु पुराण के अनुसार यहां के निवासी धर्मपरायण और निष्पाप वृत्ति के हैं और विष्णु की पूजा करते हैं। उनकी जातियों के नाम हैं मृग, मगध, मानस और मानदग। इस द्वीप की जलवायु इतनी स्वास्थ्यप्रद और सुखद है कि वैकुंठ-वासी भी यदा-कदा इसके सौरभमय वातावरण से आकृष्ट होकर यहां आया करते हैं।

7. पुष्कर-द्वीप

मत्स्य-पुराण के अनुसार सातवें या पुष्कर-द्वीप के पूर्वी भाग में चित्रशाला नामक पर्वत है। इसके रंग-बिरंगे शिखर हैं जिन पर शृंग और रत्न दिखाई देते हैं। इसकी ऊंचाई 34000 योजन है और इसकी परिधि 25000 योजन है। इसके पश्चिम में मानस पर्वत है जो पूर्णिमा के चंद्रमा की भांति जगमगाता है। इसकी ऊंचाई 35000 योजन है। इस द्वीप के पूर्व में दो राज्य हैं···। पानी उनके लिए धरती से उबलता है और पहाड़ों पर से नीचे गिरता है। उनके यहां न वर्षा होती है, न ही कोई नदियां हैं; उन पर न सर्दी गुजरती है और न गर्मी। वे सब एक हैं और उनके यहां जाति-भेद नाम को नहीं। उनके यहां कभी किसी वस्तु की कमी नहीं आती और उन पर बुढ़ापा नहीं आता···। ऐसा लगता है जैसे वे स्वर्ग के ही किसी उपनगर में रहते हैं। यही कारण है कि न वहां कोई सेवक है न शासक, न पाप है न द्वेष, न किसी का विरोध है, न कोई वाद-विवाद, न कृषि का परिश्रम है, न ही व्यापार की मेहनत···।

विष्णु-पुराण के अनुसार यहां के निवासी आपस में समान हैं, उनमें कोई एक अपने को दूसरे से श्रेष्ठ नहीं समझता। इस द्वीप में केवल एक ही पर्वत है जो मानसोत्तम कहलाता है जो इस गोलाकार द्वीप के आसपास गोलाकार ही खड़ा है। इसकी चोटी पर से अन्य सभी द्वीप देखे जा सकते हैं, क्योंकि इसकी ऊंचाई 50,000 योजन है और लगभग इतनी ही चौड़ाई भी है।

पच्चीसवां अध्याय

भारत की नदियां, उनके उद्‌गम और मार्ग

यूरोप और एशिया की नदियां हिमालय और उसके पश्चिमी तथा पूर्वी विस्तार से निकलती हैं

मत्स्य-पुराण और वायु-पुराण में जंबू-द्वीप की नदियों का उल्लेख आता है और उनमें यह भी कहा गया है कि वे हिमवंत पर्वत से निकलती हैं। निम्नलिखित सारणी में हमने उनकी केवल सूची दी है जिसमें उनके क्रम के संबंध में किसी सिद्धांत का अनुसरण नहीं किया है। पाठकों को यह तो ज्ञात ही है कि भारत की सीमाओं पर पहाड़ ही पहाड़ हैं। उत्तरी पहाड़ बर्फीली हिमवंत की पर्वत-श्रेणियां हैं। इन्हीं के बीच में कश्मीर स्थित है और यह तुर्कों के देश से जुड़ी हुई है। यह पर्वतीय क्षेत्र रहने लायक जगत और मेरू पर्वत तक पहुंचते-पहुंचते बहुत ठंडा होता जाता है। चूंकि इस पर्वत का विस्तार प्रमुखत: लंबाई में हुआ है, इसके उत्तरी भाग से निकलने वाली नदियां तुर्कों, तिब्बतियों, खजरों और स्लावोनियनों के देशों से गुजरती हुई जरजान सागर (कैस्पियन सागर) में या ख्वारिज्म (अरल सागर), या पंतस सागर (कृष्ण सागर) या स्लावोनियनों के उत्तरी सागर (बाल्टिक) में गिरती हैं; जबकि दक्षिणी ढालों से निकलने वालीन दियां भारत के अंदर बहती हुई महासागर में जाकर गिरती हैं जिसमें से कुछ अकेली और कुछ मिलकर सागर में पहुंचती हैं।

भारत की नदियां

भारत की नदियां या तो उत्तर के शीत पर्वतों से निकलती हैं या फिर पूर्वी पर्वतों से आती हैं और वास्तव में इन दोनों की एक श्रृंखला बन जाती है जो पूर्व की ओर फैलती है और उसके बाद दक्षिण की ओर घूमकर महासागर तक फैलती चली जाती हैं जहां इनका कुछ भाग रामबांध नामक स्थान पर समुद्र में जा मिलता है। यह सच है कि सर्दी और गर्मी की दृष्टि से इन पर्वतों में बहुत अधिक अंतर है।

नीचे का सारणी में हम इन नदियों के नाम दे रहे हैं :

सिंध या वाईहंद नदी	वियत्ता या झेलम	चंद्रभगा या चंद्रहा	लाहौर के पश्चिम में वियाहा	लाहौर के पूर्व में इरावती	शतरुद्र या शतलदर
सरसत जोकि सरसत देश से होकर बहती है	जमना	गंगा	सरयू या सरवा	देविका	कुहु
गोमती	धुतपाप	विशाल	वहुदशा(!)	कौशिकी	निश्चरा
गंडकी	लोहिता	दृशद्वाति	ताम्र अरुण	परनशा	वेदस्मृति
विदासिनी	चंदना	कवन	पर	चर्मणवती	विदिपा
वेणुमती	क्षिप्रा पश्चिम से निकलती है और उज्जैन से गुजरती है	कारा‌टोया शमहोना			

पंजाब की नदियां

वियत्ता नदी जो अपने पश्चिमी तट पर स्थित नगर के इसी नाम से झेलम भी कहलाती है और चंद्रहा नदी जहरावर के लगभग पचास मील ऊपर एक-दूसरे से मिल जाती हैं और मुल्तान के पश्चिम से वहती हुई आगे बढ़ती हैं।

वियाहा नदी मुल्तान के पश्चिम में वहती है और आगे जाकर वियत्ता और चंद्रहा से जा मिलती है।

इरावा नदी में काल नदी आकर मिलती है जो भाटूल के पहाड़ों में नगरकोट से निकलती है। इनके वाद पांचवीं नदी आती है शतलदर (सतलुज)।

जब ये पांचों नदियां मुल्तान के नीचे पंचनद नामक स्थान पर—जिसका अर्थ है पांच नदियों का मिलनस्थल—मिल जाती हैं तो एक विशाल नदी बन जाती हैं। वाढ़ के समय कभी-कभी इसमें इतना पानी वढ़ जाता है कि दस फरसख स्थान घेर लेता है और मैदानों में तो पेड़ों से भी इतना ऊपर चला जाता है कि वाढ़ में वही हुई गंदगी उनकी ऊंची-ऊंची शाखाओं पर इस तरह

जमी दिखाई देती हैं मानो पक्षियों के घोंसले हों।

मुसलमानों ने इस नदी को जब यह सिंधी नगर अरोर से गुज़र जाती है तो 'मेंहरा की नदी' अर्थात् संयुक्त नदी का नाम दिया है। इस प्रकार यह सीधी बहती हुई दूर तक चली जाती है, चौड़ी होती जाती है और इसका जल अधिक निर्मल होता जाता है। यह बहते हुए मार्ग में आने वाले स्थानों जैसे द्वीपों को घेरती हुई चली जाती है और अलमंसूर तक पहुंच जाती है जो इसी की विभिन्न शाखाओं के बीच स्थित है और अंत में दो स्थानों पर लोहरानी नगर के समीप और पूर्व में कच्छ प्रांत में सिंधु सागर नामक स्थान पर समुद्र में जा गिरती है...।

सरसती नदी सोमनाथ के पूर्व में थोड़ी दूरी पर समुद्र में मिलती है।

भारत की विभिन्न नदियां

जौन नदी कन्नौज के नीचे गंगा से मिलती है जो उसके पश्चिमी तट पर स्थित है। संयुक्त नदी गंगा सागर के निकट महासागर में गिरती है। सरसती और गंगा के मुहानों के बीच नर्मदा का मुहाना है जो पूर्वी पर्वतों से उतरती है, दक्षिण-पूर्वी दिशा की ओर बहती है और बहरोज (भड़ोंच) नामक नगर के निकट जो सोमनाथ से लगभग साठ योजन पूर्व में है समुद्र में मिल जाती है।

गंगा के पीछे रहब और कविनी नदियां बहती हैं जो बारी नामक नगर के समीप सरवा नदी से मिल जाती हैं...।

गंगा नदी जो मध्यवर्ती और मुख्य नदी है गंधर्व संगीतकारों, किन्नरों, यक्षों, राक्षस, विद्याधर, उरंग अर्थात् वे जो अपने सीने के बल रेंगते हैं, सर्प, कल्पग्राम अर्थात् बहुत सदाचारी, किंपुरुष (खस्सी), पर्वतवासियों, किरात, पुलिंद, मैदानी शिकारियों, डाकुओं, कुरू, भरत, पंचाल, कौशक, मत्स्य, मगध, ब्रह्मोत्तर और तमलिप्त से होती हुई बहती है। ये ही वे अच्छे और बुरे प्राणी हैं जिनके प्रदेशों से होकर गंगा बहती है। आगे चलकर यह विंध्याचल पर्वत की शाखाओं में प्रवेश करती है जहां हाथियों का वास है और उसके बाद यह दक्षिणी सागर में जा मिलती है।

गंगा की पूर्वी भुजाओं में से ह्दनी निपभ, उपकण, धीव्र, निपक, नीलमुख, कीकर, उप्ट्रकर्ण अर्थात् वे लोग जिनके होंठ उनके कानों की ही भांति मुड़े हुए होते हैं, किरात, कालीदर, विवर्ण अर्थात् बेरंग लोग जिनका घोर काले रंग के कारण यह नाम पड़ा है, कुशिकण और स्वर्ग भूमि अर्थात् स्वर्ग जैसा देश आदि देशों से होकर बहती है और अंत में वह पूर्वी महासागर में जा गिरती है।

छब्बीसवां अध्याय

हिन्दू खगोलशास्त्रियों के मतानुसार आकाश और पृथ्वी का आकार

क़ुरान सभी प्रकार के शोध का स्पष्ट और सुनिश्चित आधार है

इस प्रश्न और इससे मिलते-जुलते प्रश्नों का जिस प्रकार हिन्दुओं ने विवेचन किया है और उन्होंने जो समाधान प्रस्तुत किए हैं वे उस विवेचन और समाधान से सर्वथा भिन्न हैं जो मुसलमानों के हाथों हुआ है। इनके संबंध में तथा अन्य विषयों पर जिनका ज्ञान मनुष्य के लिए आवश्यक है क़ुरान में जो आयतें आई हैं वे ऐसी नहीं है जिनको सुनने वालों के मन में सुनिश्चित धारणा के रूप में बैठाने के लिए खेंचतानकर व्याख्या की आवश्यकता पड़े। यही वात उन धर्मग्रंथों के संबंध में भी कही जा सकती है जो क़ुरान से पहले प्रकट हुए हैं। मानव मात्री के लिए ज्ञेय विषयों पर क़ुरान की जो आयतें है उनमें और अन्य धर्म-संहिताओं में पूर्ण सामंजस्य है और साथ ही वे सर्वथा स्पष्ट और असंदिग्ध हैं।

हिन्दुओं की अपने खगोलशास्त्रियों के प्रति श्रद्धा

हिन्दुओं के धर्मग्रंथों और उनके स्मृति ग्रंथों तथा पुराणों में संसार के आकार के बारे में ऐसे श्लोक उपलब्ध हैं जो उस वैज्ञानिक सत्य के सर्वथा प्रतिकूल हैं जिसका संधान उनके खगोलशास्त्रियों ने किया है। इन ग्रंथों के माध्यम से लोग अपने धार्मिक संस्कारों का पालन करने में मार्गदर्शन प्राप्त करते हैं और उन्हीं के माध्यम से राष्ट्र की अधिकांश जनता खगोल-वैज्ञानिक गणना तथा ज्योतिष-संबंधी भविष्यवाणियों और चेतावनियों में विश्वास करने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि वे अपने खगोलविज्ञानियों के प्रति बड़ा स्नेहभाव रखने लगे और यह कहने लगे कि वे बहुत अच्छे लोग हैं, उनसे मिलना शुभ होता है और साथ ही उनका यह भी पक्का विश्वास हो गया कि उन्हें देखकर सब-के-सब स्वर्ग जाएंगे, कोई भी नरक में नहीं जाएगा।

खगोलशास्त्री अपने सिद्धांतों में जनसाधारण की धारणाओं को स्वीकार करते हैं

जन-साधारण में ऐसा विश्वास जगाने के लिए खगोलशास्त्री उनको बदले में यह देते हैं कि वे उनके लोक-विश्वासों को सत्य के रूप में स्वीकार करके, उनकी धारणाओं के अनुकूल आचरण करके, चाहे उनमें से अधिकांश धारणाएं सत्य से कितनी ही दूर क्यों न हों, उन्हें ऐसी आध्यात्मिक सामग्री प्रदान करते हैं जिसकी उन्हें आवश्यकता है ताकि वे अपना स्वार्थ सिद्ध कर सकें। यही कारण है कि दो सिद्धांत—सामान्य तथा विज्ञान-सम्मत—समय के साथ-साथ परस्पर मिश्रित हो गये हैं। खगोलशास्त्रियों के सिद्धांत विशेष रूप से उन लेखकों के सिद्धांत जो अपने पूर्ववर्ती लेखकों की मात्र नकल करते हैं और जिनका बहुमत है—अव्यवस्थित और गड्डमड्ड हो गये हैं जो अपने सिद्धांतों को स्वतंत्र वैज्ञानिक अनुसंधान के विषय न मानकर परंपरा को ही अपने विज्ञान का आधार स्वीकार कर लेते हैं।

पृथ्वी के गोलाकार होने, मेरू और वाडवमुख के संबंध में सामान्य विचार

अब हम हिन्दू खगोलशास्त्रियों के प्रस्तुत विषय अर्थात् आकाश और पृथ्वी के आकार के संबंध में उनके क्या-क्या मत हैं, यह बताएंगे। उनके मतानुसार आकाश और साथ ही समस्त संसार की आकृति गोलाकार है और पृथ्वी भी गोल है जिसका उत्तरी अर्धांश शुष्क है तथा दक्षिणी अर्धांश जलमग्न है। यूनानियों के मतानुसार तथा आधुनिक प्रेक्षणों की अपेक्षा उनकी दृष्टि में पृथ्वी का आयाम अधिक विस्तृत है और उन्होंने अपनी गणना के अनुसार इस आयाम का पता लगाने के लिए परंपरागत समुद्रों और द्वीपों को बिलकुल छोड़ दिया है; साथ ही उनमें से प्रत्येक के साथ जो योजन जुड़े हुए हैं उनका तो उल्लेख ही नहीं किया है। खगोलशास्त्री हर बात में धर्मविज्ञानियों का अनुसरण करते हैं जिसका उनके विज्ञान से कोई संबंध नहीं है। उदाहरण के लिए, मेरू पर्वत के संबंध में वे इस सिद्धांत को मान्यता देते हैं कि वह उत्तरी ध्रुव के अन्तर्गत आता है और वाडवमुख द्वीप दक्षिणी ध्रुव के नीचे स्थित है। सच तो यह है कि मेरू वहां है या नहीं, यह प्रश्न बिलकुल असंगत है क्योंकि इसकी आवश्यकता किसी विशेष चक्की जैसे घूर्णन की व्याख्या के संदर्भ में ही पड़ सकती है और ऐसा अवसर तभी आता है जब यह तथ्य स्पष्ट करना हो कि पृथ्वी के धरातल पर प्रत्येक चित्ती आकाश में उसके सर्वोच्च स्थल का द्योतन करने वाली चित्ती के अनुरूप होती है। इसके अलावा दक्षिणी द्वीप वाडवमुख की नीतिकथा उनके विज्ञान को कोई क्षति नहीं पहुंचाती, जबकि यह संभव है कि पृथ्वी के चतुर्थांश के हर जोड़े से एक सुसंगत और निर्बाध अन्विति का निर्माण होता है जिसमें एक महाद्वीप और दूसरा महासागर बन जाता है (और सच तो यह है कि उत्तरी ध्रुव के अंतर्गत इस प्रकार का कोई द्वीप है ही नहीं)। पृथ्वी की इस प्रकार की स्थिति गुरुत्वाकर्षण के नियम

के अनुरूप है क्योंकि उनके अनुसार पृथ्वी ब्रह्मांड के केंद्र में है और भारयुक्त प्रत्येक वस्तु उसकी ओर आकृष्ट होती है। यह स्पष्ट है कि गुरुत्वाकर्षण के इस नियम के कारण ही *उनका यह मत है कि आकाश की आकृति भी गोलाकार होगी।*

अब हम इस विषय पर हिन्दू खगोलशास्त्रियों के मत प्रस्तुत करेंगे जो उनके ग्रंथों के उस अनुवाद के अनुरूप हैं जो हमने किया है। लेकिन यदि हमारे अनुवाद में दो-एक शब्द किसी ऐसे अर्थ में प्रयुक्त हुए हों जो सामान्यत: हमारे विज्ञानों में प्रयुक्त अर्थ से भिन्न अर्थ रखते हों तो हमारा पाठकों से अनुरोध है कि वे इस शब्द के उस मूल अर्थ पर ही ध्यान दें (उसके पारिभाषिक अर्थ पर नहीं), क्योंकि हमारा अभिप्राय उसी से है।

[पुलिश के सिद्धांत और ब्रह्मगुप्त के ब्रह्म-सिद्धांत से उद्धरण दिए गये हैं। आर्यभट्ट, वशिष्ठ और लता का भी निदेश किया गया है। पृ० 266-69]

पृथ्वी के गोलाकार होने, उत्तरी और दक्षिणी अर्धांशों बीच गुरुत्व संतुलन और गुरुत्वाकर्षण के संबंध में विचार

आकाश और पृथ्वी की गोलाकार आकृति, उनके बीच में क्या है और इस तथ्य के संबंध में कि भूमंडल के केंद्र में स्थित पृथ्वी आकाश के दृश्य भाग की तुलना में बहुत ही छोटे आकार की है, हिन्दू खगोलशास्त्रियों के ये विचार हैं। ये विचार खगोलशास्त्र के मूल तत्व के उस रूप में हैं जैसे टॉलमी के अल्माजीस्त और इसी प्रकार की अन्य पुस्तकों में दिए गये हैं, लेकिन उनका उस प्रकार वैज्ञानिक विवेचन नहीं किया गया है जिस प्रकार हम उसे प्रस्तुत करने के अभ्यस्त है।

(रिक्ति)

क्योंकि पृथ्वी जल की तुलना में अधिक भारी है और पानी वायु की ही भांति तरल है, इसलिए पृथ्वी जब तक ईश्वर के आदेश से कोई रूप धारण नहीं करती तब तक उसका गोलाकार होना उसकी एक भौतिक आवश्यकता है। यही कारण है कि न पृथ्वी उत्तर की ओर चलती है और न जल दक्षिण की ओर प्रवाहित होता है और इसी के फलस्वरूप एक समूचा अर्धांश स्थल नहीं है और न ही दूसरा अर्धांश जल। यह तभी हो सकता है जब यह मान लें कि स्थल भाग आधा खोखला है। जहां तक आगमन शैली पर आधारित हमारे विचार का संबंध है, स्थल भाग दोनों उत्तरी चतुर्थांशों में से किसी एक में होगा और इसीलिए हमारा यह अनुमान है कि यही स्थिति संलग्न चतुर्थांश की भी होगी। हम वाडवमुख नामक द्वीप के अस्तित्व की संभावना को स्वीकार करते हैं, लेकिन हम इसे दृढता-पूर्वक नहीं कह सकते क्योंकि इसके तथा मेरु के बारे में हम जो कुछ जानते हैं

वह केवल परंपरा पर आधारित है।

पृथ्वी के जिस चतुर्थांश की हमें जानकारी है उसमें विषुव रेखा ऐसी सीमा-रेखा नहीं है जो स्थल और समुद्र को विभक्त करती हो। क्योंकि कुछ स्थानों में महाद्वीप समुद्र में दूर तक घुसता चला गया है और विषुव रेखा को भी पीछे छोड़ गया है। उदाहरण के लिए, पश्चिम में हब्शियों के मैदान जो दक्षिण में दूर तक उभरे हुए हैं बल्कि चंद्र पर्वतमाला तक और नीलनदी के उद्गम से भी बढ़कर ऐसे क्षेत्रों तक चले गये हैं जिनके संबंध में 'हम ठीक-ठीक कुछ नहीं' जानते। कारण यह है कि वह महाद्वीप मरुस्थल है और दुर्गम है और इसी प्रकार ज़ुंज के सुफला के पीछे का समुद्र ऐसा है जिसमें नावें नहीं चल सकतीं। जिस जहाज़ ने भी वहां जाने का साहस किया आज तक लौटकर नहीं आ सका जिससे यह ज्ञात हो जाता कि उसने क्या देखा।

इसी प्रकार भारत का भी सिंध प्रांत के ऊपर का विशाल भाग दक्षिण में दूर तक चला गया है और लगता है कि वह भूमध्य रेखा को भी पार कर जाएगा।

इन दोनों के बीच में अरबिस्तान और यमन स्थित हैं किंतु वे दक्षिण में इतनी दूर तक नहीं जा पाए हैं कि भूमध्य रेखा को पार कर लें।

साथ ही ज्यों-ज्यों स्थल भाग समुद्र के अंदर फैलता जाता है समुद्र भी स्थल को घेरता है। वह उसको कई स्थानों पर तोड़ता है और खाड़ियां बना देता है। उदाहरण के लिए, समुद्र अरबिस्तान के पश्चिम की ओर मध्य सीरिया के पास तक एक जीभ के आकार में फैला हुआ है। कुलज़ुम के पास जाकर वह सबसे संकीर्ण हो गया है और इसीलिए कुलज़ुम सागर भी कहलाता है।

समुद्र की एक और अधिक लंबी भुजा पूर्वी अरबिस्तान में है जिसे फ़ारस का सागर कहते हैं। भारत और चीन के बीच भी उत्तर की ओर समुद्र में बहुत बड़ा घुमाव है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि इन देशों का समुद्र तट विषुव रेखा के अनुरूप नहीं है, न ही उससे किसी निश्चित दूरी पर है।

(रिक्ति)

जहां तक चार नगरों से संबंधित स्पष्टीकरण का संबंध है वह उपयुक्त स्थान पर दिया जाएगा।

समय का जो अंतर बताया गया है वह पृथ्वी के गोलाकार होने और उसके भूमंडल के केंद्र में स्थित होने का ही एक परिणाम है और यदि वे पृथ्वी की पहचान निवासियों से करते हैं चाहे वह गोल ही क्यों न हो—और ज़ाहिर है कि नगरों की कल्पना बिना उनमें रहनेवालों के की ही नहीं जा सकती—तो पृथ्वी पर मनुष्यों के अस्तित्व का कारण वह आकर्षण है जो हर भारी वस्तु को अपने,

केंद्र अर्थात् संसार के मध्य की ओर खींचता है।

इसी प्रकार के मत वायु-पुराण में भी दिए गये हैं, जैसे यह कि यदि अमरावती में दोपहर होता है तो वैवस्वत में सूर्योदय का समय होता है, सुखा में अर्धरात्रि होती है और विभा में उस समय सूर्यास्त होता है…।

गुरुत्वाकर्षण के नियम पर ब्रह्मगुप्त और वराहमिहिर के विचार

'निम्न' की परिभाषा में हिन्दुओं और हममें कोई मतभेद नहीं है, उदाहरण के लिए यह कथन कि वह विश्व के केंद्र में है, किंतु इस विषय में उनकी अभि-व्यक्ति बहुत सूक्ष्म है और विशेष रूप से इसलिए कि यह एक ऐसी महत्वपूर्ण समस्या है जिस पर उनके प्रख्यात विद्वानों ने काम किया है। ब्रह्मगुप्त कहता है: "विद्वानों ने यह घोषणा की है कि पृथ्वी का गोला आकाश के मध्य में है और मेरू पर्वत जो देवों का निवास-स्थल है और उसके नीचे वाडवमुख उनके विरोधियों का निवास है जहां दैत्य और दानव रहते हैं। लेकिन यह जो 'नीचे' कहा गया है वह उनके मतानुसार सापेक्ष कथन है। हम इसको मान्यता नहीं देते, हमारा मत है कि पृथ्वी चारों ओर एक जैसी है; पृथ्वी के सभी लोग सीधे खड़े होते हैं और सभी भारी वस्तुएं प्रकृति के नियमानुसार नीचे पृथ्वी पर गिरती हैं क्योंकि वस्तुओं को अपनी ओर आकृष्ट करना और उन्हें रखना पृथ्वी का धर्म है उसी प्रकार जैसे जल का धर्म है बहना, अग्नि का जलना और वायु का गति प्रदान करना। यदि कोई वस्तु पृथ्वी में बहुत गहरी जाना चाहती है तो उसे ऐसा करके देखना चाहिए। पृथ्वी ही सबसे नीची है और बीजों को चाहे आप किसी भी दिशा में बिखेर दें वह लौटकर धरती पर ही गिरता है और धरती से ऊपर की ओर कभी नहीं उठता।"

वराहमिहिर कहता है, "पर्वत, समुद्र, नदियां, वृक्ष, नगर, मानव और देवता सभी पृथ्वी के गोले के इर्द-गिर्द हैं। और यदि यमकोटि और रूम एक-दूसरे के सामने हैं तो कोई यह नहीं कह सकता कि तुलना करने पर उनमें से एक-दूसरे से निम्न है क्योंकि 'निम्न' का कहीं अस्तित्व ही नहीं है। कोई भला पृथ्वी के किसी एक स्थान को यह कैसे कह सकता है कि वह निम्न है जबकि वह हर दृष्टि से पृथ्वी के दूसरे स्थान के समान है और एक स्थान उतना ही नीचा हो सकता है जितना कि दूसरा…। कारण यह है कि पृथ्वी उसी को आकृष्ट करती है जो उसके ऊपर हो क्योंकि वह सभी दिशाओं में 'नीचे' है और आकाश सभी दिशाओं में ऊपर है।"

[बलभद्र ने मानव-नेत्र की विस्तार-सीमा की जो परिभाषा दी है उसकी आलोचनात्मक परीक्षा की गयी है; साथ ही पृथ्वी की धुरी के संबंध में पुलिश के मतों की विवेचना की गयी है। पृ० 274-77]

सत्ताईसवां अध्याय

हिन्दू खगोलशास्त्रियों और पुराणों के रचयिताओं के अनुसार विश्व की पहली दो गतियां (अर्थात् पूर्व से पश्चिम की ओर जैसा कि प्राचीन खगोल-शास्त्री और पुराणकार मानते हैं और सायन का पूर्वगमन)

हिन्दुओं के खगोलशास्त्रियों के इस विषय पर वैसे ही मत हैं जैसे हमारे हैं। हम उनके उद्धरण देंगे, लेकिन साथ ही यह भी मान लें कि हम जो कुछ दे रहे हैं वह वास्तव में बहुत अल्प है।

[पुलिश, ब्रह्मगुप्त और बालभद्र के ग्रंथों से उद्धरण दिए गये हैं।
पृ० 278-80]

इस विषय पर मैंने भारतीय ग्रंथों में इतना ही पढ़ा है।

लेखक की आलोचना : वायु गोले की प्रेरक

वे वायु में जो गति-प्रेरक शक्ति की बात करते हैं, उसका मेरे विचार में यह प्रयोजन है कि उसके द्वारा विषय को जनसाधारण की समझ में आने योग्य बना दिया जाए और उन्हें उसके अध्ययन में सुविधा हो सके; क्योंकि लोग अपनी आंखों से देखते हैं कि हवा जब ऐसे यंत्रों के जिनमें पंख लगे हों या इसी प्रकार के खिलौनों के विरुद्ध चलती है तो उन्हें गति प्रदान करती है। लेकिन ज्योंही वे *प्रथम प्रेरक* (ईश्वर) की चर्चा शुरू करते हैं तो *प्राकृतिक* वायु से उनकी तुलना बिलकुल छोड़ देते हैं जबकि यह प्रेरणा या गति सभी दशाओं में कुछ कारणों से ही निर्धारित होती है। इसका कारण यह है कि यद्यपि वायु वस्तुओं को गति प्रदान करती है, गतिशीलता ही इसका मूल तत्व नहीं है और इसके अलावा जब तक वह किसी वस्तु के संपर्क में न आए चल नहीं सकती, क्योंकि वायु एक पिंड है और वह बाह्य प्रभावों या साधनों से क्रियाशील होती है और उसकी

गति उनकी शक्ति के अनुरूप होती है।

उनका यह कहना कि 'वायु रुकती नहीं' केवल यह दर्शाता है कि उसकी प्रेरक या चालक शक्ति निरंतर बनी रहती है और उस पर उसे वैसे विश्राम और प्रेरणा की आवश्यकता नहीं होती जो पिंडों की अपनी होती है। उनका यह कहना कि वह मंद नहीं पड़ती, यह बताता है कि वह हर प्रकार के आघातों से मुक्त है, क्योंकि मंदता और क्षीणता केवल ऐसे पिंडों या प्राणियों में आती है जिनकी रचना विरोधी प्रकार के तत्वों से होती है।

दो ध्रुवों द्वारा गोलों की रक्षा

इस उक्ति का कि दो ध्रुव स्थिर नक्षत्रों के गोलों की रक्षा करते हैं, यह अभिप्राय है कि वे उसे उसकी सामान्य गति में बचाए रखते हैं, न कि यह कि वे उसे नीचे गिरने से बचा लेते हैं।

[अल-बिरूनी ने बलभद्र और ब्रह्मगुप्त के मतों की निम्नलिखित बातों को लेकर आलोचना की है और उन पर टीका-टिप्पणी की है जो पुराणों में व्यक्त हुए हैं: (क) समय की सापेक्ष प्रकृति, (ख) स्थिर नक्षत्र, (ग) आकाश की गति की दिशा जो पृथ्वी के विभिन्न स्थानों से दिखाई देती है। पृ० 281-88]

अट्ठाईसवां अध्याय

दस दिशाओं की परिभाषा

पिंडों का अंतरिक्ष में विस्तार तीन दिशाओं में होता है : लंबाई, चौड़ाई और गहराई या ऊंचाई। किसी भी काल्पनिक नहीं, वास्तविक दिशा का मार्ग सीमित होता है, इसलिए इन तीनों मार्गों की प्रतीक रेखाएं भी सीमित हैं और उनके छह छोर या सीमाएं ही उनकी दिशाएं होती हैं। यदि आप इन रेखाओं के केंद्र में जहां वे एक-दूसरे को काटती हैं किसी पशु की कल्पना करें जो उनमें से किसी एक की ओर अपना मुख करता है तो पशु के संदर्भ में जो दिशाएं होंगी वे हैं आगे, पीछे, दाएं, बाएं, ऊपर और नीचे।

यदि इन दिशाओं का प्रयोग संसार के संबंध में किया जाए तो उनके नये नाम रख दिए जाते हैं। चूंकि खगोलीय पिंडों का उदय और अस्त क्षितिज पर निर्भर होता है और पहली गति क्षितिज ही से स्पष्ट हो जाती है इसलिए क्षितिज के माध्यम से दिशाओं का निर्धारण सबसे अधिक सुविधाजनक हो जाता है। पूर्व पश्चिम, उत्तर और दक्षिण—ये चार दिशाएं (जो आगे, पीछे, दाएं और बाएं के अनुरूप हैं) सामान्यतः सभी जानते हैं लेकिन इनमें से प्रत्येक दो के बीच की दिशाएं कम लोग जानते हैं। इनको मिलाकर आठ दिशाएं हो जाती हैं और ऊपर तथा नीचे को यदि मिला लिया जाए जिनकी व्याख्या की कोई आवश्यकता नहीं है तो कुल दस दिशाएं बन जाती हैं…।

हिन्दुओं ने इन दिशाओं को नाम देते समय वायु के बहने पर कोई ध्यान नहीं दिया है; वे केवल चार मूल दिशाएं और उनके बीच की गौण दिशाएं भिन्न-भिन्न नामों से जानते हैं। इस प्रकार अनुप्रस्थ स्तर पर जो नीचे आरेख में दर्शाया गया है वे आठ दिशाएं मानते हैं :

दक्षिण-पश्चिम		दक्षिण		दक्षिण-पूर्व
	नैऋत्य	दक्षिण	आग्नेय	
पश्चिम	पश्चिम	मध्य देश	पूर्व	पूर्व
उत्तर-पश्चिम	वायव्य	उत्तर	ईशान्य	उत्तर-पूर्व
		उत्तर		

इनके अतिरिक्त अनुप्रस्थ स्तर पर दो ध्रुवों के लिए दो और दिशाएं हैं, ऊपर और नीचे जिसमें से पहले को उपरि और दूसरे को अवस् और तल कहते हैं…।

हिन्दू किसी भी चीज़ को चाहे वह बुद्धि या कल्पना की वस्तु हो उसका मानवीकरण किए बिना नहीं रहते। वे उसका तत्काल विवाह कर देते हैं, उसका विवाहोत्सव करवाते हैं, उसकी पत्नी को गर्भवती बनवाते हैं और उससे किसी वस्तु को जन्म दिलवाते हैं। और यही बात इस मामले में भी होती है। विष्णु-धर्म में यह कथा आती है कि अभि ने, जो कि स्वयं एक नक्षत्र है और सप्तर्षि के नक्षत्रों पर शासन करता है, दिशाओं के साथ विवाह किया। उन्होंने दिशाओं को, जो संख्या में आठ हैं एक व्यक्ति (स्त्री) के रूप में मान लिया और उससे चंद्रमा का जन्म हुआ…।

उनकी अपनी प्रथा के अनुसार हिन्दुओं ने अनुप्रस्थ स्तर की आठ दिशाओं के कुछ अधिष्ठाता मान लिये हैं जो नीचे सारणी में दर्शाए जा रहे हैं :

अधिष्ठाता	दिशाएं	अधिष्ठाता	दिशाएं
इन्द्र	पूर्व	वरुण	पश्चिम
अग्नि	दक्षिण-पूर्व	वायु	उत्तर-पश्चिम
यम	दक्षिण	कुरु	उत्तर
पृथु	दक्षिण-पश्चिम	महादेव	उत्तर-पूर्व

उन्तीसवां अध्याय

हिन्दुओं के मतानुसार वासयोग्य पृथ्वी की परिभाषा

वासयोग्य लोक पर ऋषि भुवनकोष के विचार

ऋषि भुवनकोष की पुस्तक में लिखा है कि वासयोग्य लोक हिमवंत से दक्षिण की ओर फैला हुआ है और भारतवर्ष कहलाता है। उसका यह नाम भरत नामक राजा पर पड़ा है जो उन पर शासन करता था और उनके भरण-पोषण की व्यवस्था करता था। इसी वासयोग्य लोक के रहने वाले वे लोग हैं जिनके लिए दूसरे जीवन में पुरस्कार या दंड का विधान है। यह नौ भागों में विभक्त है जिन्हें 'नवखंड प्रथम' अर्थात् प्राथमिक नौ भाग कहा जाता है। इनमें से प्रत्येक दो भागों के बीच में एक समुद्र है जिसको वे एक खंड से दूसरे खंड तक यात्रा करते हैं। वासयोग्य लोक की उत्तर से दक्षिण तक की चौड़ाई 1000 योजन है।

हिमवंत से लेखक का आशय उत्तरी पर्वत हैं जहां की भूमि शीत के कारण वासयोग्य नहीं रही है। इसलिए सभ्यता का जो भी विकास हुआ है वह निश्चय ही इन पर्वतों के दक्षिण में हुआ होगा।

उसके ये शब्द कि यहां के वासी पुरस्कार और दंड के भागी होंगे, यह दर्शाते हैं कि अन्य लोग ऐसे भी हैं जो उसके भाजन नहीं हैं। उसे उन प्राणियों को मानव की श्रेणी से ऊपर उठाकर या तो देवताओं की श्रेणी में पहुंचा देना चाहिए जो उन सरल तत्वों के कारण जिनसे उनकी रचना हुई है और उनमें स्वभाव की शुचिता के फलस्वरूप कभी किसी ईश्वरीय आदेश की अवज्ञा नहीं करते, बल्कि सदैव उसकी आराधना के लिए तत्पर रहते हैं; और या उन्हें अविवेकी पशुओं की श्रेणी में पहुंचा दें। उसके मतानुसार, भारतवर्ष बाहर मनुष्य होते ही नहीं हैं।

भारतवर्ष केवल हिन्दुस्तान ही नहीं जैसा कि हिन्दू समझते हैं, क्योंकि उनका तो यह मत है कि उनका देश ही संसार है और उनकी जाति ही एक मात्र मानव-जाति है, क्योंकि भारत की यात्रा किसी महासागर को पार करके नहीं की जाती

जो एक खंड को दूसरे से विभक्त कर सके। इसके अतिरिक्त वे इन खंडों को द्वीप नहीं मानते, क्योंकि उनका लेखक कहता है कि उन समुद्रों पर लोग एक तट से दूसरे तट पर जाते हैं। उसके कथन से यह अर्थ भी निकलता है कि पृथ्वी के समस्त निवासी और हिन्दू पुरस्कार तथा दंड के भाजन हैं और उनका एक बड़ा धार्मिक समुदाय है।

नौ भाग 'प्रथम' कहलाते हैं, क्योंकि उन्हीं के कारण भारत नौ भागों में बंटा हुआ है। इस प्रकार वासयोग्य लोक का विभाजन तो 'प्राथमिक' है, किंतु भारतवर्ष का विभाजन 'गौण' है। इसके आगे भी नौ भागों में एक तीसरा विभाजन है, क्योंकि ज्योतिषी जब उसमें शुभ और अशुभ स्थान ढूंढने की कोशिश करते हैं तो प्रत्येक देश को फिर नौ भागों में विभक्त कर देते हैं···।

इसके बाद 'वायु-पुराण' में उन देशों का उल्लेख किया गया है जो हरेक दिशा में स्थित हैं। हम उनको सारणियों के द्वारा दर्शाएंगे और साथ में अन्य स्रोतों से प्राप्त इसी प्रकार की जानकारी देंगे, क्योंकि यह ऐसी पद्धति है कि इससे विषय का अध्ययन दूसरी पद्धतियों की अपेक्षा सरलतर हो जाता है।

यहां हम एक आरेख दे रहे हैं जिसमें भारतवर्ष का नौ भागों में विभाजन दर्शाया गया है।

	नागद्वीप	दक्षिण गभास्तिमत	ताम्रवर्ण	
पश्चिम	सौम्य	इंद्रद्वीप या मध्यदेश अर्थात् देश का मध्य भाग	कसेरूमट	पूर्व
	गंधर्व	उत्तर	नगरसमवृत्त	

कूर्मचक्र की आकृति

हम इससे पहले ही यह बता चुके हैं कि पृथ्वी का वह भाग जिसमें वासयोग्य लोक स्थित है कछुवे के आकार का है क्योंकि उसकी सीमाएं गोल हैं, क्योंकि वह पानी के ऊपर निकला हुआ है और पानी से ही घिरा हुआ है और इसकी उत्तलता सतह पर गोलाकार है। फिर भी यह संभावना है कि इस नाम का मूल रूप यही हो और उनके खगोलशास्त्रियों और ज्योतिषियों ने चंद्रमा के नक्षत्रों के अनुसार ही दिशा-विभाजन किया हो। यही कारण है कि देश भी चंद्रमा के नक्षत्रों

के अनुसार ही विभक्त हुआ है। यही कारण है कि इसे 'कूर्मचक्र' या कच्छपाकार कहा जाता है'''।

वराहमिहिर के अनुसार भारतवर्ष का विभाजन

वराहमिहिर ने 'नव खंडों' में से प्रत्येक को वर्ग की संज्ञा दी है। उसका कहना है कि "उन्हीं से (वर्गों से) भारतवर्ष अर्थात् आधा विश्व नौ भागों में विभक्त हुआ है—मध्य, पूर्वी आदि।" उसके बाद वह दक्षिण की ओर चलता है और इसी प्रकार समस्त क्षितिज तक बढ़ता जाता है। वह भारतवर्ष को ही हिन्दुस्तान क्यों मानता है, यह उसके इस कथन से ज्ञात होता है कि प्रत्येक वर्ग के अंतर्गत एक प्रदेश आता है, जहां का राजा जब उसके साथ कोई दुर्घटना घटती है तो मारा जाता है। इसलिए :

पहले या मध्य वर्ग में	पंचाल प्रदेश आता है।
दूसरे वर्ग में	मगध प्रदेश आता है।
तीसरे वर्ग में	कलिंग प्रदेश आता है।
चौथे वर्ग में	अवंती यानी उज्जैन प्रदेश आता है।
पांचवें वर्ग में	अनंत प्रदेश आता है।
छठे वर्ग में	सिंधु या सौवीर प्रदेश आता है।
सातवें वर्ग में	हाराहौरा प्रदेश आता है।
आठवें वर्ग में	मदुरा प्रदेश आता है।
नवें वर्ग में	कुलिंद प्रदेश आता है।

ये सब देश वास्तविक भारत में ही आते हैं।

भौगोलिक नामों में परिवर्तन

उन देशों में से अधिकांश के नाम जिनके अंतर्गत वे इस संदर्भ में दिखाए गये हैं वे नहीं हैं जिनसे वे अब सामान्यतः जाने जाते हैं। इस विषय के संबंध में 'संहिता' पर लिखी अपनी टीका में कश्मीर-निवासी उत्पल कहता है : "देशों के नाम विशेष रूप से युगों में बदल जाते हैं। जैसे मुल्तान मूलतः कश्यपपुरा कहलाता था, फिर उसका नाम हंसपुरा पड़ा, फिर नागपुरा हुआ, फिर संभपुरा बना और फिर मूलस्थान—मूल का अर्थ है मूल और तान का अर्थ है स्थान या जगह।"

युग एक लंबी कालावधि होती है लेकिन जब बाहर का कोई देश जिसकी भाषा भिन्न हो किसी देश पर कब्ज़ा कर लेता है तो उसके नाम बड़ी तेजी से बदल जाते हैं। वे अपनी जबानों से शब्दों को लगातार बिगाड़ते रहते हैं और इस प्रकार उन्हें अपनी भाषा में बदल लेते हैं और यह उसी तरह होता है जैसे यूनानियों में रिवाज है। वे या तो नामों का मूल अर्थ बनाए रखते हैं

और उसके अनुवाद की कोशिश करते हैं, लेकिन इसी में उन नामों में कुछ परिवर्तन हो जाते हैं। इसी तरह शश नगर जिसका यह नाम तुर्की भाषा से लिया गया है जहां वह ताशकंद अर्थात् 'पाषाण-नगर' कहलाता है उसी को 'ज्याग्राफिया' नामक पुस्तक में 'पाषाण-दुर्ग' कहा गया है। इस प्रकार पुराने नामों की जगह नये नाम उभर आते हैं जो उनके अनुवाद ही होते हैं। या इसका दूसरा कारण यह हो सकता है कि असभ्य लोग स्थानीय नामों को अपनाकर उन्हीं को रख देते हैं लेकिन उनकी ध्वनियां और रूप ऐसे होते हैं जो उनकी ज़बान पर आसानी से चढ़ जाएं। उदाहरण के लिए, अरब विदेशी नामों को अरबी रूप देने में यही करते हैं और वे उनके मुंह में जाकर विकृत हो जाते हैं, जैसे 'बूशांग' को वे अपनी पुस्तकों में 'फुसानी' कहते हैं और 'साकिलकंद' को अपनी राजस्व की पुस्तकों में 'फ़रफज़ा' कहते हैं। लेकिन सबसे बढ़कर दिलचस्प और अजीब बात यह है कि कभी ऐसा होता है कि एक ही भाषा उन्हीं लोगों के मुंह में जाकर बदल जाती है जो उसे बोलते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि शब्दों के बड़े विचित्र और भोंडे रूप उभर आते हैं जो केवल उस व्यक्ति की समझ में ही आ पाते हैं जो भाषा के हरेक नियम का तिरस्कार कर चुका है। और ऐसे परिवर्तन कुछ ही वर्षों में हो जाते हैं जबकि उनके पीछे कोई युक्तियुक्त कारण या आवश्यकता नहीं होती। यह तो निश्चित ही है कि इन सभी बातों की प्रेरणा हिन्दुओं को इस इच्छा से मिलती है कि जितने अधिक नाम संभव हो रख लिये जाएं और उन पर अपनी व्युत्पत्ति के नियम और कौशल लगाते हैं और ऐसा करके उनकी भाषा में जो भारी शब्दबाहुल्य आ जाता है उस पर गर्व करते हैं।

नीचे देशों के जो नाम दिए जा रहे हैं जो हमने 'वायु-पुराण' से लिये हैं उन्हें चार दिशाओं के अनुसार क्रमबद्ध किया गया है जबकि 'संहिता' से लिये गये नाम आठ दिशाओं के अनुसार रखे गये हैं। वे सब नाम उसी प्रकार के हैं जिनका हमने अभी वर्णन किया है (अर्थात् ये वे नाम नहीं हैं जो अब सामान्य प्रयोग में आते हों)…।

[देशों या प्रदेशों के नामों की सूची दी गयी है। पृ० 299-302]

रोमक, यमकोटि तथा सिद्धपुरा के बारे में

हिन्दू खगोलशास्त्रियों ने वासयोग्य जगत के देशांतर का निर्धारण लंका से किया है जो मध्याह्न रेखा पर उसके केंद्र में स्थित है जबकि यमकोटि उसके पूर्व में, रोमक पश्चिम में और सिद्धपुरा विषुव रेखा के उस भाग में स्थित है जो लंका के ठीक विपरीत है। उन्होंने खगोलीय पिंडों के उदय और अस्त के बारे में जो मत व्यक्त किए हैं उनसे पता चलता है कि यमकोटि और रोम के बीच एक अर्धव्यास (भूमध्य सागर) के दूसरे तट पर आबाद है और रोमन साम्राज्य उत्तरी अक्षांश के अधिकांश भाग में बहुत ऊपर तक फैला हुआ है। उसका कोई भी भाग सुदूर

दक्षिण दिशा तक नहीं पहुंचता और वह विषुव रेखा के समीप तो कहीं तक है ही नहीं, जैसा कि हिन्दुओं का रोमक के बारे में मत है।

अब हम यहां लंका के बारे में और कुछ नहीं कहना चाहते (क्योंकि उसका वर्णन हम एक अलग अध्याय में करना चाहते हैं)। याकूब[33] और अलफ़ज़री के मतानुसार यमकोटि उस देश का नाम है जहां 'तारा' नगर समुद्र के बीच स्थित है। मुझे भारतीय साहित्य में इस नाम का कहीं पता नहीं चल पाया। चूंकि कोटि का अर्थ होता है दुर्ग या गढ़ और यम मृत्युदेवता का नाम है, इसलिए इस शब्द से मुझे कगंदीज़ शब्द याद आता है जिसके संबंध में फ़ारसवासियों का विचार है कि उसे केकाउस या जम ने समुद्र के पीछे दूरस्थ पूर्व में बसाया था। कैख़ुसरू ने जब अफरासियाज नामक तुर्क का पीछा किया था तो वह समुद्र-यात्रा करता हुआ कंगदीज़ तक पहुंचा था लेकिन उसके इस अभियान का समय उसके एकांतवास और निर्वासन का था। इसका कारण यह हो सकता है कि फ़ारसी में 'दीज़' का अर्थ चूंकि दुर्ग ही होता है जैसा कि कोटि का भारतीय भाषा में होता है, इसीलिए बल्ख़वासी अबू-महशर ने कंगदीज़ की भौगोलिक स्थिति का निर्धारण 0 देशांतर या पहली मध्याह्न रेखा किया है।

मैं नहीं कह सकता कि हिन्दुओं ने सिद्धपुरा के अस्तित्व की कल्पना किस आधार पर की है, क्योंकि हमारी ही तरह उनका विचार है कि जहां तक बसे हुए गोलार्ध का प्रश्न है वहां सिवाय अगम्य समुद्र के और कुछ नहीं है।

उज्जैन की मध्याह्न रेखा (पहली मध्याह्न रेखा)

हिन्दू किसी स्थान का अक्षांश किस आधार पर निर्धारित करते हैं, मैं नहीं जान पाया हूं। उनके खगोलशास्त्रियों में वासयोग्य जगत के देशांतर को गोलार्ध मानने का सिद्धांत दूर-दूर तक व्याप्त है, उनमें (और पाश्चात्य खगोलशास्त्रियों में) केवल इतना ही मतभेद है कि उसका प्रारंभ कहां से माना जाए। यदि हम हिन्दुओं के सिद्धांत की, जहां तक हम उसे समझे हैं, व्याख्या करें, तो उनकी दृष्टि में देशांतर का प्रारंभिक बिंदु उज्जैन है जिसे वे चतुर्थांश की पूर्वी सीमा मानते हैं, जबकि दूसरे चतुर्थांश की सीमा सभ्यता के छोर से कुछ दूर पश्चिम में मानी जाती है जैसा कि हम दो स्थानों के देशांतरों के अंतर से संबंधित अध्याय में बताएंगे।

पाश्चात्य खगोलविज्ञानियों का इस मुद्दे पर दुहरा सिद्धांत है। कुछ तो देशांतर का प्रारंभ (अटलांटिक) महासमुद्र का तट मानते हैं। अब इस सिद्धांत के अनुसार ऐसी चीज़ों को मिलाकर एक कर दिया गया है जिनका एक-दूसरे से दूर का भी संबंध नहीं। परिणाम यह हुआ कि शपूरकान और उज्जैन को एक ही का अंतर है। लगता है, वे पश्चिम के देशों को (अर्थात् उत्तर अफ्रीका) रोम या रोमन साम्राज्य मानते हैं, शायद इसलिए कि रोम या यूनानी उसी सागर

याम्योत्तर पर रख दिया गया···। कुछ अन्य खगोलविज्ञानी देशांतर का प्रारंभ 'सुखीजनों के द्वीप-समूह' से मानते हैं···ये दोनों सिद्धांत हिन्दुओं के सिद्धांत से सर्वथा भिन्न हैं।

यदि मैं अल्लाह के करम से और जिंदा रहा तो मैं निशापुर के देशांतर पर एक विशेष निबंध लिखूंगा जिसमें इस विषय पर सविस्तार चर्चा की जाएगी।

तीसवां अध्याय

लंका या पृथ्वी का गुवंज

'पृथ्वी का गुवंज' का अर्थ

वासयोग्य जगत का मध्य—विषुव रेखा पर पूर्व से पश्चिम तक उसका देशांतरीय विस्तार—खगोलविज्ञानियों (मुस्लिम) द्वारा 'पृथ्वी का गुवंज' कहलाता है और वह महावृत्त जो ध्रुव और विषुव रेखा के इसी स्थल के बीच से गुजरता है 'गुवंज का शिरोबिंदु' कहलाता है। लेकिन हमें यह समझ लेना चाहिए कि पृथ्वी का प्राकृतिक आकार चाहे कुछ ही क्यों न हो, उस पर कोई स्थान ऐसा नहीं है जिसे दूसरों की तुलना में 'गुवंज' की संज्ञा दी जा सके। वास्तव में इस शब्द का केवल लाक्षणिक रूप में प्रयोग हुआ है जो एक ऐसे बिंदु का प्रतीक है जहां से वासयोग्य जगत के दोनों सिरे समान दूरी पर स्थित हैं और यह गुंवज या शिविर के शीर्ष से तुलनीय है क्योंकि हर वस्तु की जो इस शीर्ष के नीचे स्थित है (तंबू की रस्सियां या दीवारें) समान लंबाई है और उसके निचले सिरों की दूरी भी वहां से समान है। लेकिन हिन्दू इस बिंदु के लिए किसी ऐसे शब्द का प्रयोग नहीं करते जिसका हमारी भाषा में गुवंज अर्थ होता है। उनका केवल यह मत है कि लंका वासयोग्य जगत के दोनों सिरों के बीच में स्थित है और उसका कोई अक्षांश नहीं है।

राम की कथा

यह वही स्थान है जहां रावण नामक राक्षस ने जब वह दशरथ के पुत्र राम की पत्नी सीता का हरण करके ले गया था स्वयं को सुरक्षित कर लिया था। उसके इस जटिल दुर्ग का नाम 'शंकत मर्द' है जबकि हमारे (मुस्लिम) देशों में इसे 'यवनकोटि' कहा जाता है जिसे बार-बार रोम बताया गया है…।

राम ने समुद्र पर सौ योजन लंबा बांध बनाकर समुद्र पार किया था और रावण पर आक्रमण किया था। यह बांध उसने 'सेतुबंध' नामक स्थान पर एक पर्वत की सहायता से बनाया था जो लंका के पूर्व में था। राम ने रावण से युद्ध किया और उसे मार डाला और राम के भाई ने रावण के भाई का वध कर दिया

जैसी कथा रामायण[34] में राम के बारे में मिलती है। उसके बाद उसने उस बांध को बाणों के द्वारा दस जगह से तोड़ दिया।

लंका द्वीप

हिन्दुओं के मतानुसार लंका असुरों का गढ़ है। वह पृथ्वी तल से 30 योजन (अर्थात् 80 फरसख) ऊपर है। इसकी पूर्व से पश्चिम तक की लंबाई 100 योजन है; इसकी उत्तर से दक्षिण की चौड़ाई उतनी ही है जितनी इसकी ऊंचाई (अर्थात् 30 योजन)।

लंका और वाडवमुख द्वीप के ही कारण हिन्दू दक्षिण को अशुभ मानते हैं। ऐसा कोई धर्म-कर्म नहीं है जिसे वे दक्षिण दिशा की ओर मुख करके संपन्न करते हों या दक्षिण की ओर चलते हों। दक्षिण का नाम केवल अधर्मों के कामों में आता है…।

लंका और लंगबालुस के संबंध में लेखक का अनुमान

किसी भी नाविक ने जिसने इस स्थान के आसपास समुद्र पार किया है जिसे लंका मान लिया गया है और उसी दिशा में समुद्र यात्रा की है, इसके बारे में ऐसा वर्णन कभी नहीं किया जो हिन्दुओं की परंपरा से मेल खाता हो या उसके अनुरूप हो। वास्तव में ऐसी कोई परंपरा नहीं है जिसके आधार पर हमें कोई चीज़ उससे अधिक संभव दिखाई दे सके (जो हिन्दुओं के वृत्तांत के अनुरूप है)। लंका का नाम सुनकर मेरे मन में कुछ और ही चीज उभरती है और वह यह है कि लौंग या लवंग जिस देश से आयात की जाती है उसका नाम 'लंगा' है। सभी नाविकों का जो समान वृत्तांत है उसके अनुसार जो जहाज इस देश को भेजे जाते हैं वे अपना माल नावों में उतारते हैं जैसे पश्चिमी 'देनार' और दूसरे विभिन्न प्रकार के पण्य, धारीदार भारतीय कपड़ा, नमक और अन्य व्यापारिक वस्तुएं। यह सारा माल चमड़े की चादरों में लपेटकर समुद्र-तट पर रख दिया जाता था। उसके बाद व्यापारी अपने-अपने जहाजों पर चले जाते थे। अगले दिन आकर वे क्या देखते थे कि उनकी चादरों पर लौंग के ढेर लगे हैं। लौंग के ये ढेर कभी कम और कभी ज्यादा होते थे जो इस बात का प्रतीक थे कि उस स्थान के निवासियों के पास उस माल के मूल्य के रूप में देने के लिए जितनी लौंग उनके पास थी दे दी है।

जिन लोगों के साथ यह व्यापार होता था उन्हें कुछ लोग राक्षस बताते थे और कुछ वन्य जाति के। इन क्षेत्रों के आसपास (लंका के) रहने वाले हिन्दुओं का विश्वास है कि 'शीतला' एक वायु है जो लंका द्वीप से आत्माओं को ले जाने के लिए बहती है। एक सूचना के अनुसार कुछ लोग उस वायु के चलने के पहले ही जनता को चेतावनी दे देते हैं और वे यह भी ठीक-ठाक बता सकते हैं कि वह किस समय देश

के विभिन्न भागों तक पहुंचेगी। जब शीतला रोग फैल जाता है तो वे कुछ चिह्नों को देखकर पहचान जाते हैं कि वह विषाक्त है या नहीं। विषाक्त शीतला के लिए वे एक ऐसी चिकित्सा पद्धति अपनाते हैं जिससे वे शरीर के किसी एक अंग को नष्ट कर देते हैं किन्तु उसे मार नहीं डालते। वे लौंग के साथ स्वर्ण भस्म मिलाकर उसे औषधि के रूप में इस्तेमाल करते हैं, साथ ही पुरुष खजूर की गुठलियों की तरह गले में लौंग की माला बनाकर पहनते हैं। यदि यह सावधानी बरती जाए तो दस में से नौ लोग इस रोग से बच जाते हैं।

इस सबको देखते हुए मेरा यह खयाल है कि जिस लंका का हिन्दू उल्लेख करते हैं वह लौंग देश लांग ही रहा होगा, हालांकि इस संबंध में उनका जो वर्णन है वह इससे मिलता-जुलता नहीं है। इस सबके बावजूद अब इस देश से किसी प्रकार का संपर्क नहीं रह गया है, क्योंकि लोगों का कहना है कि यदि कोई व्यक्ति संयोग से इस द्वीप पर पीछे छूट जाता था तो बाद में उसका कोई निशान नहीं मिलता था। मेरा यह अनुमान इस तथ्य से और भी पुष्ट होता है कि राम और रामायण की कथा के अनुसार प्रसिद्ध सिंधु देश के पीछे नरभक्षी निवास करते हैं। दूसरी ओर, सभी नाविकों में यह बात मशहूर है कि नर-भक्षण का कारण लंगबालुस द्वीप के निवासियों की बर्बरता और पाशविकता ही रहा है।

इकत्तीसवां अध्याय

विभिन्न स्थानों का अंतर जिसे हम देशांतर का अंतर कहते हैं

देशांतर निर्धारित करने की हिन्दुओं की पद्धति

जो व्यक्ति इस विषय में परिशुद्धता प्राप्त करना चाहता है उसे चाहिए कि संबद्ध दो स्थानों के याम्योत्तरों के क्षेत्रों के बीच का अंतर निर्धारित करने की दिशा में प्रयास करे। मुस्लिम खगोलविज्ञानी इसकी गणना भूमध्यवर्ती काल से करते हैं जो दो याम्योत्तरों के बीच के अंतर के अनुरूप है और दो स्थानों में से एक (पश्चिमी) से गिनती शुरू करते हैं। भूमध्यवर्ती मिनटों का जो योग वे निकालते हैं वही दो देशांतरों के बीच का अंतर कहलाता है, क्योंकि उनकी दृष्टि में प्रत्येक स्थान पर देशांतर महापरिमंडल से उसके याम्योत्तर का अंतर है जो भूमध्य रेखा के ध्रुव में से होकर गुजरता है और जिसे देश की सीमा मान लिया जाता है और इसी पहले याम्योत्तर के लिए उन्होंने oikoumene की पश्चिमी (पूर्वी नहीं) सीमा को चुना है। इस भूमध्यवर्ती समय को (प्रत्येक याम्योत्तर के लिए चाहे उनकी संख्या कुछ भी क्यों न हो) दिन के मिनटों या फरसखों या योजनों किसी के भी अनुरूप परिमंडल का 360वां भाग माना जाए या उसका 60वां भाग, इसमें कोई अंतर नहीं पड़ता।

हिन्दू इस विषय के लिए जिन पद्धतियों को अपनाते हैं उनका आधार वही सिद्धांत नहीं है जो हमारा है। वे बिलकुल भिन्न हैं और चाहे वे कितने ही भिन्न क्यों न हों यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि उनमें से कोई भी सही लक्ष्य को नहीं पहुंचता। जिस प्रकार हम (मुसलमान) हर स्थान की स्थिति जानने के लिए उसके देशांतर को आधार मानते हैं हिन्दू उज्जैन के याम्योत्तर से उसकी दूरी योजनों में लगाते हैं। और कोई भी स्थान जितना अधिक पश्चिम की ओर होगा उन योजनों की संख्या उतनी ही बढ़ती जायेगी, वह जितना पूर्व की ओर होगा उतना ही उसका अंतर घटता जायेगा। वे इसे देशांतर कहते हैं अर्थात् स्थानों के बीच का अंतर। इसके अतिरिक्त वे देशांतर को ग्रह (सूर्य) की माध्य दैनिक गति से गुणा

करते हैं और गुणनफल को 4000 से विभक्त करते हैं। उस स्थिति में भागफल ग्रह की गति की उस मात्रा का द्योतक माना जाता है जो संबंधित योजनों की संख्या के अनुरूप होता है अर्थात् यह वह होता है जिसे यदि स्थान विशेष का देशांतर जानने के लिए सूर्य के माध्य स्थान में जोड़ा जाए तो उससे उज्जैन के चंद्रमा या मध्यरात्रि का पता चल सकता है।

पृथ्वी की परिधि

जिस संख्या का प्रयोग वे भाजक (4800) के रूप में करते हैं वह पृथ्वी की परिधि के योजनों की संख्या है, क्योंकि दो स्थानों के याम्योत्तरों के गोलों के बीच के अंतर का पृथ्वी की समस्त परिधि के साथ वही संबंध है जो ग्रह (सूर्य) की एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर माध्य गति का उसकी पृथ्वी के चारों ओर समस्त दैनिक परिक्रमा के साथ होता है।

[पुलिश और ब्रह्मगुप्त के पृथ्वी की परिधि के संबंध में विचारों की सूक्ष्म परीक्षा की गयी है, साथ ही देशांतर की गणना की पद्धति पर भी विचार व्यक्त किए गये हैं। आर्यभट्ट के उज्जैन के याम्योत्तर से संबंधित विचारों की आलोचना की गयी है। पृ० 312-16]

उज्जैन का अक्षांश

याकूब इब्न तारिक ने अपनी पुस्तक 'गोलों की रचना' में बताया है कि उज्जैन का अक्षांश 4 3/5 अंश है, किन्तु उसने यह स्पष्ट नहीं किया कि वह उत्तर में स्थित है या दक्षिण में···।

किन्तु दूसरी ओर हिन्दुओं के सभी ग्रंथ इस संबंध में एकमत हैं कि उज्जैन का अक्षांश 24 अंश है और सूर्य का कर्क संक्रांति के समय यही चरम बिंदु होता है।

मैंने स्वयं लौहूर दुर्ग का अक्षांश $34^0 10$ पाया है···। अन्य अक्षांश जो मैंने खुद देखे हैं यहां उनका ब्यौरा दे रहा हूं—गजना $23^0 35$, काबुल $33^0 47$, कंदी जो राजा की गारद चौकी है $33^0 55$, दुनपुर $34^0 20$, पुरुपावर $34^0 44$, वैहिन्द $34^0 30$, जयलम $33^0 20$, नंदना दुर्ग $32^0 0$···। सियालकोट $32^0 58$, मंदक्ककोर $31^0 50$, मुल्तान $29^0 40$···।

हम खुद भी (अपनी यात्राओं में) उनके देश में उन स्थानों से आगे नहीं गये जिनका हमने उल्लेख किया है, न ही हमें उनके साहित्य से (भारत के स्थानों के) किसी अन्य देशांतर और अक्षांश का पता चल पाया है। लेकिन अल्लाह ही हमें अपने लक्ष्य तक पहुंचने में सहायता देता है।

बत्तीसवां अध्याय

कालावधि और सामान्य समय के संबंध में धारणाएं और संसार की सृष्टि तथा विनाश

अलरज़ी एवं अन्य दार्शनिकों के अनुसार समय की धारणा

मुहम्मद इब्न ज़ुकरिया अलरज़ी[35] के वर्णन के अनुसार यूनानियों में सबसे प्राचीन दार्शनिकों का यह विचार था कि निम्नलिखित पांच वस्तुएं अनंतकाल से विद्यमान थीं—स्रष्टा, विश्वव्यापी आत्मा, आदि तत्व, सामान्य देश तथा सामान्य काल। इन्हीं तत्वों पर अलरज़ी ने अपने उस सिद्धांत की बुनियाद रखी जो उसके समस्त दर्शन का आधार है। इसके अलावा उसने समय और कालावधि के बीच भेद भी किया है जिसके अनुसार संख्या का संबंध कालावधि से न होकर समय से होता है। उसका मत है कि जिस चीज की गणना की जा सकती है वह ससीम होती है जबकि कालावधि असीम होती है। इसी प्रकार दार्शनिकों ने समय की कालावधि के रूप में व्याख्या की है क्योंकि उसके आदि और अंत दोनों होते हैं और अनंतकाल ऐसी कालावधि है जिसका न आदि है, न अंत।

अलरज़ी के मतानुसार जो विश्व वास्तव में विद्यमान है उसके अस्तित्व के लिए उपर्युक्त पांचों तत्व आवश्यक आधार हैं। इसका कारण यह है कि इस संसार में जो कुछ इंद्रियगोचर है वह है आदि तत्व जो इन पांचों के मिश्रण से रूप ग्रहण करता है। इसके अतिरिक्त, आदि तत्व के लिए कोई स्थान होना चाहिए और इसलिए हमें देश का अस्तित्व भी स्वीकार करना चाहिए। इंद्रिय-गोचर संसार में जो परिवर्तन दिखाई देते हैं वे हमें काल के अस्तित्व को मानने पर बाध्य करते हैं, क्योंकि उनमें से कुछ पहले हुए हैं और कुछ बाद में और पहला तथा बाद का और पूर्व तथा पश्च एवं समकालिक—इन सबको जिस माध्यम से जाना जा सकता है वह है काल और यही काल वर्तमान विश्व का आवश्यक आधार है।

इसके बाद हम देखते हैं कि वर्तमान संसार में प्राणी हैं और इसी आधार पर हमें आत्मा के अस्तित्व को भी मानना चाहिए। इन जीवधारियों में कुछ बुद्धिमान

हैं जो कलाओं को उनके चर्मोत्कर्ष तक पहुंचाने में सक्षम हैं, और इसे देखकर हम स्रष्टा के अस्तित्व को स्वीकार करने के लिए बाध्य हो जाते हैं जो प्रज्ञ भी है और बुद्धिसंपन्न भी, जो हर वस्तु की न केवल स्थापना करता है वरन उसे श्रेष्ठ ढंग से व्यवस्थित भी करता है और लोगों को बुद्धि के बल पर अपनी मुक्ति की साधना के लिए प्रेरित करता है।

दूसरी ओर, कुछ कुतर्की अनंतकाल और काल दोनों को एक ही मानते हैं और यह घोषणा करते हैं कि केवल गति ही, जो काल के माप का साधन है, ससीम है।

एक दूसरे कुतर्की का कहना है कि वृत्ताकार गति ही अनंतकाल है। इसमें संदेह नहीं कि गति का उस जीवधारी से अटूट संबंध है जो उसके कारण गतिशील होता है और उसका स्वरूप उदात्ततम है क्योंकि वह शाश्वत है। आगे चलकर वह अपनी तर्कणा को और बढ़ाता है और गतिशील प्राणी से उसके प्रवर्त्तक तक पहुंचता है और प्रवर्तन-शक्ति से प्रवर्त्तक तक जाता है जो गतिहीन है।

इस प्रकार का शोध बहुत सूक्ष्म और अस्पष्ट है। यदि ऐसा नहीं होता तो इसके संबंध में लोगों के मत इस हद तक भिन्न न होते कि कुछ यह कहें कि काल कोई चीज़ है ही नहीं और दूसरे यह दावा करें कि काल का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। एफ्रोडीसियासवासी अलेक्जेंडर के मतानुसार अरस्तू ने अपनी पुस्तक 'फ़ुज़ीके एक्रोसिस' में निम्नलिखित तर्कणा प्रस्तुत की है, "हर वस्तु को चलाने वाला एक चालक है", और इसी विषय पर गालेनस ने कहा है कि मैं काल की धारणा को समझ ही नहीं पाया, उसे सिद्ध करना तो दूर की बात है।

काल के संबंध में हिन्दू दार्शनिकों की धारणा

हिन्दुओं का इस विषय में जो सिद्धांत है वह वैचारिक दृष्टि से बहुत ही दोषपूर्ण है और उसका समुचित विकास भी नहीं हो पाया है। वराहमिहिर ने अपनी पुस्तक 'संहिता' के प्रारंभ में उस चीज़ का हवाला देते हुए जो अनंतकाल से विद्यमान है कहा है, "प्राचीन ग्रंथों में यह कहा गया है कि आदिम युग में सबसे पहली चीज थी अंधकार जो काले रंग से मिलती-जुलती चीज नहीं थी बल्कि एक प्रकार का अनस्तित्व था जैसे किसी सोये हुए व्यक्ति की स्थिति होती है। उसके बाद ईश्वर ने ब्रह्मा के लिए एक गुंबज के रूप में इस संसार की सृष्टि की। उसने इसके दो भाग बनाये, एक ऊपर का और दूसरा निचला और उनमें सूर्य और चंद्रमा को बिठा दिया।" कपिल ने कहा, "ईश्वर सदा से विद्यमान है और उसके साथ समस्त संसार, उसके पदार्थ और पिंड भी। वही संसार की सृष्टि का कारण है और अपने स्वभाव की सूक्ष्मता के कारण वह संसार की स्थूल प्रकृति से ऊपर रहता है।" कुंभक का कथन है : "आदि तत्व है महाभूत अर्थात् पांचों तत्वों

का यौगिक। कुछ यह कहते हैं कि आदितत्व काल है, कुछ के अनुसार प्रकृति, और कुछ ऐसे हैं जिनकी मान्यता है कि वास्तविक नियंता हमारे कर्म ही हैं।"

"विष्णु धर्म" नामक पुस्तक में वज्र मार्कण्डेय से कहता है, "मुझे काल के बारे में समझाओ", जिस पर मार्कण्डेय उत्तर देता है, "काल आत्मपुरुष है", अर्थात् श्वास और पुरुष जिसका अर्थ हुआ ब्रह्मांड का स्वामी। तत्पश्चात् उसने उसे काल-खंडों और उनके गुणों के बारे में वह सब समझाया जिनका निरूपण हमने उपयुक्त अध्यायों में सविस्तार किया है (अट्ठाइसवां अध्याय)।

हिन्दुओं ने कालावधि को दो अवधियों में विभक्त किया है: एक गति की जिसे काल मान लिया गया है और दूसरी विश्राम की अवधि जिसका निश्चय उस सादृश्य के अनुसार केवल काल्पनिक रीति से किया जा सकता है, जिससे पहले अर्थात् गति की अवधि का निश्चय किया गया था। हिन्दुओं के विश्वास के अनुसार सृष्टिकर्ता की अनंतता का निर्धारण तो किया जा सकता है, उसे नापा नहीं जा सकता क्योंकि वह असीम है। लेकिन हम यहां यह बताये बिना नहीं रह सकते कि ऐसी किसी चीज की कल्पना करना बहुत कठिन है जिसका 'निर्धारण' तो हो सकता हो किन्तु 'मापन' नहीं और फिर यह समस्त विचार बहुत ही क्लिष्ट-कल्पित है। हम यहां इस विषय पर हिन्दुओं के मतों के संबंध में जो कुछ जानते हैं उसमें से उतना ही बतायेंगे जो पाठक के लिए पर्याप्त हो।

ब्रह्मा का दिवस सृष्टि की अवधि, ब्रह्मा की रात्रि असृष्टि की अवधि

हिन्दुओं की सृष्टि के संबंध में जो सामान्य धारणा है वह वही है जो लोक-प्रचलित है, क्योंकि जैसा कि हम पहले बता चुके हैं वे प्रकृति को ही अनंत मानते हैं। यही कारण है कि वे 'सृष्टि' या सृजन का 'अभाव से भावन' अर्थ नहीं लगाते। उनकी दृष्टि में सृजन का केवल यह अर्थ है कि मिट्टी के टुकड़े से कुछ बनाना, उसमें विभिन्न प्रकार की आकृतियां और अंक गढ़ना और उसे इस प्रकार के रूप प्रदान करना जिनका कोई लक्ष्य या प्रयोजन ज्ञात हो सके जो वस्तुतः उसमें निहित था। इसी कारण से वे सृष्टि के निर्माता देवताओं और राक्षसों को ही क्या, मनुष्यों को भी मानते हैं जिनकी सर्जना या उद्भावना या तो इस कारण से होती है कि उन्हें किसी विधिक दायित्व का निर्वाह करना होता है जो आगे चलकर सृष्टि या सर्जना के लिए लाभकर सिद्ध होता है या वे ईर्ष्यालु और महत्वाकांक्षी होने पर अपने मनोवेगों को शांत करना चाहते हैं। उदाहरण के लिए, वे ऋषि विश्वामित्र का वर्णन करते हैं कि उन्होंने इस प्रयोजन से महिषियों की सृष्टि की कि मानवजाति उनसे प्राप्त होने वाली हर अच्छी और उपयोगी वस्तु का लाभ उठा सके···।

यहां इस संदर्भ में हमें एक ऐसी कालावधि भी मिलती है जिसे मुसलमान

लेखक हिन्दुओं का ही असुसरण करते हुए 'विश्व वर्ष' कहते हैं। लोगों का यह विचार है कि उनके आरंभ और अंत में सृष्टि और विनाश होता है वह एक प्रकार का नव-निर्माण ही है। लेकिन अधिसंख्य लोगों का यह विश्वास नहीं है। उनके अनुसार यह कालावधि ब्रह्मा का दिवस है और ब्रह्मा की क्रमिक रात्रि है, क्योंकि सृष्टि करना ब्रह्मा का ही काम है। इसके अलावा, अस्तित्व में आने की क्रिया उस वस्तु में होने वाला स्पंदन है जो अपने से भिन्न किसी वस्तु से उत्पन्न होती है और इस स्पंदन का सबसे स्पष्ट कारण है वायुमंडलीय प्रेरक अर्थात् नक्षत्र। और यदि ये नक्षत्र गतिशील न हों और प्रत्येक दिशा में (—उनकी अवस्थिति) अपने आकार न बदलें तो वे अपने नीचे के संसार पर कोई नियमित प्रभाव नहीं डाल सकते। इसलिए अस्तित्व में आना ब्रह्मा के दिवस तक सीमित है क्योंकि हिन्दुओं के विश्वास के अनुसार उसी के भीतर नक्षत्र घूमते रहते हैं और उनके ग्रह पूर्व-स्थापित क्रम के अनुसार परिक्रमा करते हैं और फलस्वरूप अस्तित्व में आने की प्रक्रिया पृथ्वी के धरातल पर ही बिना किसी व्यवधान के विकसित हो जाती है।

इसके विपरीत ब्रह्मा की रात्रि के दौरान ग्रह चलते नहीं, विश्राम करते हैं और सभी नक्षत्र और उनके नीचे का बिंदु तथा पात एक ही स्थान पर निश्चल खड़े रहते हैं।

परिणामस्वरूप पृथ्वी के समस्त कार्य-व्यापार एक ही अपरिवर्तनशील स्थिति में रहते हैं और इसीलिए अस्तित्व में आने की प्रक्रिया समाप्त हो गयी है क्योंकि जिसके द्वारा चीजें अस्तित्व में आती थीं वह विश्राम कर रहा है। अतः करने और किये जाने—दोनों की प्रक्रियाएं निलंबित हो जाती हैं, तत्वों का नये रूपों-आकारों में रूपांतरण रुक जाता है क्योंकि तब वे (रिक्ति, शायद रात्रि) में विश्राम कर रहे होते हैं और नये जीवों में परिणत होने की तैयारी करते हैं जो ब्रह्मा के अगले दिवस अस्तित्व में आयेंगे।

इस प्रकार अस्तित्व ब्रह्मा के जीवन के दौरान परिचालित होता रहता है और यह ऐसा विषय है जिसका प्रतिपादन हम उपयुक्त स्थान पर करेंगे।

लेखक की आलोचनात्मक टिप्पणी

हिन्दुओं की इन्हीं धारणाओं के अनुसार सृष्टि और विनाश का संबंध केवल धरती के धरातल से है। इस प्रकार की सृष्टि से तो मिट्टी का एक टुकड़ा भी जो पहले मौजूद नहीं था अस्तित्व में नहीं आता और इस प्रकार के विनाश से तो मिट्टी का एक टुकड़ा जो पहले से मौजूद है नष्ट नहीं होता। यह सर्वथा असंभव है कि हिन्दू जब तक यह मानते रहेंगे कि प्रकृति अनंत काल से चली आ रही है सृष्टि के बारे में इस प्रकार की धारणा कैसे रख सकते हैं।

ब्रह्मा का जागरण तथा सुप्तावस्था

हिन्दू अपने जन साधारण को ऊपर बताई गयी दो कालावधियों—ब्रह्मा का दिवस और ब्रह्मा की रात्रि—को ब्रह्मा की जाग्रत तथा सुप्तावस्था के प्रतीक बताते हैं और हम इन शब्दों को अस्वीकार नहीं करते क्योंकि वे ऐसी चीज का बोध कराते हैं जिसका आदि भी है और अंत भी। इसके अलावा ब्रह्मा का समस्त जीवन, जिसमें इस अवधि में संसार में उसकी गति और विश्राम का एक क्रम है, केवल अस्तित्व पर ही लागू होता है अनस्तित्व पर नहीं, क्योंकि इस दौरान मिट्टी के टुकड़े का अस्तित्व रहता है और उसके अलावा आकार भी बना रहता है। ब्रह्मा का जीवन उस प्राणी के लिए जो उससे ऊपर है अर्थात् पुरुष (देखें अध्याय पैंतीस) केवल एक दिवस है। जब उसकी मृत्यु हो जाती है तो उसकी रात्रि के दौरान सारे यौगिक विघटित हो जाते हैं और यौगिकों के विलयन के फलस्वरूप वह भी निलंबित हो जाता है जिसने उसे (ब्रह्मा को) प्रकृति के नियमों में बांध रखा था। इसका मतलब यह हुआ कि यही पुरुष का और उसके नियंत्रण में जो भी कुछ है (शब्दशः उसके साधनों का) उस सबका विश्राम है।

ब्रह्मा की निद्रा के संबंध में सामान्य तथा वैज्ञानिक धारणाएं

जब सामान्यजन इन चीजों का वर्णन करते हैं तो वे ब्रह्मा की रात्रि को पुरुष की रात्रि के बाद रखते हैं और चूंकि पुरुष मनुष्य को भी कहते हैं इसलिए वे सोना और जागना भी उसी के साथ जोड़ देते हैं। वे विनाश या ध्वंस को खर्राटे भरने का परिणाम मानते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि वे सारी वस्तुएं जो एक-दूसरी से संबद्ध हैं टूट कर अलग हो जाती हैं और हर वह चीज जो जीवित है उसके मस्तक पर उभरे पसीने में डूब जाती है। वे इसी प्रकार की और भी बहुत-सी बातें गढ़ लेते हैं जिन्हें न मस्तिष्क स्वीकार करता है और न कान सुनना चाहते हैं।

इसलिए शिक्षित हिन्दू इन मतों को (ब्रह्मा के जागने और सोने से संबंधित धारणाओं को) स्वीकार नहीं करते क्योंकि वे निद्रा के यथार्थ स्वरूप से अभिज्ञ हैं। वे जानते हैं कि शरीर जो विरोधी द्रव्यों का मिश्रण है विश्राम करने के लिए निद्रा चाहता है और इस प्रयोजन के लिए हर वह चीज जो प्रकृति उसके नष्ट होने के बाद चाहती है समय पर बदली जानी चाहिए। इसलिए निरंतर विघटन के फलस्वरूप शरीर को भोजन की आवश्यकता होती है ताकि जो कुछ क्षीणता के कारण नष्ट हो चुका है उसे प्राप्त कर सके। इसके अतिरिक्त उसे अपनी प्रजाति को बनाये रखने के लिए सहवास की आवश्यकता होती है क्योंकि यदि सहवास न किया जाए तो उसकी प्रजाति नष्ट हो जाएगी। इसके अलावा शरीर को कुछ अन्य चीजों की भी आवश्यकता होती है—जो यद्यपि बुरी हैं लेकिन

आवश्यक हैं—यद्यपि सामान्य पदार्थों को उनकी आवश्यकता नहीं होती और न ही उसे जो उनसे ऊपर है और जिसका कोई साथी नहीं है।

संसार के अंत के संबंध में धारणाएं

हिन्दुओं का यह भी कहना है कि यदि बारह सूर्यों का योग हो जाये तो संसार नष्ट हो जायेगा। ये सूर्य विभिन्न मासों में क्रम से दिखायी देते हैं और वे पृथ्वी को जलाकर और फूंककर और समस्त आर्द्र तत्वों को सुखाकर नष्ट कर देते हैं। इसके अलावा चार वर्षाओं के संयोग से जो वर्ष के विभिन्न मौसमों में होती हैं संसार नष्ट हो जाता है और जो कुछ फूंक कर नष्ट कर दिया गया है वह जल को आकृष्ट करता है और तदनंतर विलीन हो जाता है। अंत में संसार के विनाश का कारण प्रकाश का अभाव भी है और अंधकार तथा अनस्तित्व से भी संसार नष्ट हो सकता है। इन सबका यही परिणाम हो सकता है कि संसार परमाणुओं के रूप में विलीन होकर विकीर्ण हो जाये…।

अबू मा'शर द्वारा भारतीय सिद्धांतों का प्रयोग

इन उद्धरणों के संदर्भ से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि संसार का यह विध्वंस एक कल्प की समाप्ति पर होता है और अबू मा'शर का यह सिद्धांत भी इसी पर आधारित है कि जल-प्रलय ग्रहों के योग के कारण होता है क्योंकि वास्तव में वे हर चतुर्युग के अंत और हर कलियुग के प्रारंभ में मिल जाते हैं। यदि यह योग पूर्ण न हो तो जल-प्लावन की विनाशकारी शक्ति भी उतनी प्रबल नहीं हो पाएगी। ज्यों-ज्यों हम इन विषयों का अन्वेषण करते जाते हैं इस प्रकार के विचारों पर अधिक प्रकाश पड़ता जाता है और पाठक इस संदर्भ में प्रयुक्त होने वाले सामान्य शब्दों और पारिभाषिक शब्दों को अधिक अच्छी तरह से समझ जाता है।

अलरनशहरी द्वारा उद्धृत बौद्धों की धारणाएं

अलरनशहरी ने एक ऐसी कथा का उल्लेख किया है जो बौद्धों के विश्वास से संबंधित है और उसमें भी वैसी ही मूर्खतापूर्ण कथाएं हैं जिनका हम अभी जिक्र कर चुके हैं। मेरु पर्वत के चारों ओर चार लोक हैं जो बारी-बारी से आबाद और बरबाद होते रहते हैं। लोक मरुस्थल तब बन जाता है जब सातों सूर्य एक के बाद एक उस पर उदित होकर उसे तप्त कर देते हैं, जब स्रोतों का जल सूख जाता है और प्रज्ज्वलित अग्नि इतनी प्रबल हो जाती है कि उस लोक को जलाकर राख कर देती है। वही लोक तब आबाद हो जाता है जब अग्नि वहां से किसी दूसरे लोक में चली जाती है और उसके चले जाने के बाद उस लोक में एक प्रचंड

बवंडर उठता है जो बादलों को झकझोरता है और उनसे वर्षा करवाता है और फलतः वह लोक समुद्र जैसा बन जाता है। उसके फेनों से शक्तियां उत्पन्न होती हैं जो आत्माओं से संबंधित होती हैं और जब पानी जमीन के नीचे चला जाता है तो उन्हीं में से मनुष्य पैदा होते हैं। कुछ बौद्धों का विचार है कि मनुष्य का नाशवान लोक से वर्धमान लोक में आगमन मात्र संयोग होता है। चूंकि वह अपने एकाकी जीवन से दुखी होता है इसलिए उसके विचार में से ही उसकी पत्नी का जन्म होता है और इस दंपति से आगे की पीढ़ी शुरू होती है।

तेंतीसवां अध्याय

दिन या दिन-रात के विभिन्न प्रकार और विशेषतः दिन और रात

दिन और रात की परिभाषा

मुसलमानों, हिन्दुओं और अन्य लोगों की सामान्य प्रथा के अनुसार दिवस या अहर्निश का अर्थ सूर्य की ब्रह्मांड की परिक्रमा के एक चक्र में लगा समय होता है जिसमें वह महापरिमंडल के अर्ध से चलता है और वहीं लौटकर आ जाता है। जाहिर है कि वह दो समान भागों में विभक्त है : दिवस (अर्थात् वह समय जब कि सूर्य पृथ्वी के किसी स्थान के निवासियों को दिखाई देता है) और रात्रि (अर्थात् वह समय जब वह उन्हें दिखाई नहीं देता)। उसका दिखाई देना और न दिखाई देना सापेक्ष तथ्य है और उनमें जो अंतर है वह क्षितिजों के अंतर का परिणाम है। यह सर्वविदित है कि भूमध्य रेखा का क्षितिज जिसे हिन्दू 'अक्षांश-रहित देश' कहते हैं याम्योत्तर के समांतर वृत्तों को दो समान भागों में काटता है। इसी के परिणास्वरूप वहां दिन और रात हमेशा बराबर होते हैं। लेकिन वे क्षितिज जो समांतर वृत्तों को अपने ध्रुव से गुज़रे बिना काटते हैं उन्हें दो असमान भागों में विभक्त करते हैं और समांतर वृत्त जितने छोटे होंगे यह विषमता उतनी ही बढ़ जाएगी। इसका यह फल होता है कि वहां दिन और रात समान नहीं होते। ऐसा केवल दो सायनों के समय ही होता है जब मेरु और वाडवमुख के अलावा समस्त पृथ्वी पर दिन और रात बराबर होते हैं। रेखा की यह विशिष्टता उसके उत्तर और दक्षिण के सभी स्थानों में मिलती है लेकिन केवल इसी समय, किसी दूसरे समय नहीं।

मनुष्याहोरात्र

दिन का प्रारंभ सूर्य का क्षितिज से उदय होना है और रात का प्रारंभ उसका क्षितिज के नीचे छिप जाना है। हिन्दू दिन को अहर्निश का पहला और रात को दूसरा भाग मानते हैं। यही कारण है कि वे पहले को 'सावन' अर्थात् सूर्य के

उदय पर आश्रित दिन कहते हैं। इसके अलावा वे इसे 'मनुष्याहोरात्र' अर्थात् मानव-दिवस भी कहते हैं क्योंकि वास्तविकता यह है कि उनके अधिकांश लोग इसके सिवा किसी और दिन को जानते ही नहीं हैं। अतः यह मानते हुए कि 'सावन' की पाठक को जानकारी है, हम नीचे इसी का एक मानदंड और माप मानकर प्रयोग करेंगे ताकि उसके माध्यम से अन्य सभी प्रकार के दिनों का निर्धारण किया जा सके।

[अल-बिरूनी ने 'अन्य प्रकार के दिनों' का वर्णन किया है। इस वर्णन के चुने हुए उद्धरण नीचे दिए गये हैं।]

मानव-दिवसों के बाद 'पितृनामहोरात्र' अर्थात् पूर्वजों के अहर्निश हैं, जिनकी आत्माओं के बारे में हिन्दुओं का विश्वास है कि वे चंद्रमा के ग्रह में निवास करती हैं। उसके दिन और रात किसी क्षितिज विशेष में सूर्य के उदय या अस्त होने पर नहीं वरन् प्रकाश और अंधकार पर निर्भर रहते हैं। जब चंद्रमा उनसे संबद्ध ग्रह के सर्वोच्च भागों में स्थित रहता है तो उनके लिए दिन होता है और जब वह निम्नतम भागों में होता है तो उनके लिए रात हो जाती है। स्पष्ट है कि उनका चंद्रमा योग का या पूर्णिमा का समय होता है और उनकी मध्यरात्रि इसके विरुद्ध अर्थात् अमावस्या होती है। इसलिए पूर्वजों का 'अहर्निश' पूर्ण चांद्र मास है, जिसका दिन अर्धचंद्र के समय से शुरू होता है और रात्रि अर्धचंद्र के उस समय शुरू होती है जब उसका प्रकाश घटना शुरू हो जाता है···।

देवों के दिवस

उसके बाद आता है 'दिव्यहोरात्र' अर्थात् देवताओं का अहर्निश। यह सर्वविदित है कि सबसे बड़े अक्षांश का क्षितिज, अर्थात् 90^0 जहां ध्रुव अपने सर्वोच्च स्थान पर होता है, भूमध्य रेखा है जो ठीक-ठीक तो नहीं किंतु अनुमानतः है क्योंकि वह पृथ्वी के उस स्थान से जिस पर मेरु पर्वत है दृश्य क्षितिज से कुछ नीचे है। जहाँ तक मेरु पर्वत के ऊपरी भाग और ढाल का संबंध है संबद्ध क्षितिज और भूमध्य रेखा दोनों सर्वथा समान हैं यद्यपि दृश्य क्षितिज उससे थोड़ा नीचे (अर्थात् सुदूर दक्षिण में) है। यह भी स्पष्ट है कि राशि चक्र भूमध्य रेखा द्वारा काटे जाने से दो भागों में विभक्त हो जाता है जिसका आधा भाग भूमध्य रेखा के ऊपर (अर्थात् उसके उत्तर में) रहता है और दूसरा आधा उसके नीचे। जब तक सूर्य उत्तरी अपक्रम की राशियों की ओर बढ़ता है वह घूर्णी की तरह घूमता है क्योंकि वह जो दैनिक वृत्तांश बनाता है वे उसी प्रकार क्षितिज के समानांतर होते हैं जिस प्रकार वे धूप-घड़ी में होते हैं। उन लोगों के लिए जो उत्तरी ध्रुव के नीचे रहते हैं सूर्य क्षितिज के ऊपर दिखाई देता है और इसीलिए उनके यहाँ दिन होता है। लेकिन उनके लिए जो दक्षिणी ध्रुव के नीचे रहते हैं सूर्य क्षितिज के

नीचे छिपा रहता है और इसीलिए उनके यहाँ रात होती है। उसके बाद जब सूर्य दक्षिणी राशियों की ओर प्रस्थान करता है वह क्षितिज के नीचे घूर्णी की भांति परिक्रमा करता है (अर्थात् भूमध्य रेखा के दक्षिण में); यही कारण है कि दक्षिणी ध्रुव के नीचे रहने वाले लोगों के लिए वह रात होती है और उत्तरी ध्रुव के नीचे रहने वालों के लिए दिन।

देवक अर्थात् अशरीरी प्राणियों का निवास दोनों ध्रुवों के नीचे होता है, इसीलिए इस प्रकार होने वाले दिन का नाम उन्हीं पर पड़ा है अर्थात् देवों का अहर्निश।

कुसुमपुरा-निवासी-आर्यभट्ट का कथन है कि देव सौर वर्ष का केवल आधा भाग ही देख पाते हैं और दानव दूसरा आधा, इसी प्रकार पितृ चांद्र मास का आधा भाग देखते हैं और मानव उसका दूसरा आधा। इस प्रकार सूर्य की राशि-चक्र में एक परिक्रमा से देवों और दानवों दोनों को दिन और रात मिल जाते हैं और उनका समग्र रूप ही अहर्निश है।

इससे यह निष्कर्ष निकला कि हमारा वर्ष देवों के अहर्निश के ही समान है। लेकिन इसमें दिन और रात समान नहीं होते। जैसा कि पितरों के अहर्निश में होता है। क्योंकि सूर्य अपने याम्योत्तर के आसपास उत्तरी अवक्रम के आधे भाग में धीरे-धीरे चलता है जिसके कारण दिन कुछ लंबा हो जाता है। लेकिन यह अंतर उस अंतर के बराबर नहीं होता जो दृश्य क्षितिज और वास्तविक क्षितिज के बीच होता है क्योंकि इसे सूर्य के ग्रह में देखा नहीं जा सकता। इसके अलावा हिन्दुओं की धारणा के अनुसार उन स्थानों के निवासी पृथ्वी के धरातल से ऊपर उठ जाते हैं और मेरु पर्वत पर निवास करते हैं। जिस किसी का भी यह मत है वह मेरु की ऊंचाई के बारे में भी वैसी ही राय रखता है जिसका जिक्र हमने उपर्युक्त स्थान (तेइसवां अध्याय) में कर दिया है। मेरु पर्वत की इस ऊंचाई के फलस्वरूप उसका क्षितिज कुछ नीचे होना चाहिए (अर्थात् भूमध्य रेखा से और अधिक दक्षिण की ओर) और उसके कारण रात की अपेक्षा दिन के लंबे होने की गति कम हो जानी चाहिए (क्योंकि ऐसी स्थिति में सूर्य अपने उत्तरी याम्योत्तर तक पूरा नहीं पहुंच पाता जहाँ पहुंचकर दिन सबसे लंबे हो जाते हैं)। यदि यह हिन्दुओं की मात्र धार्मिक परंपरा न होती और वह भी ऐसी जिस पर उन्हीं में मतैक्य नहीं है तो हम खगोलवैज्ञानिक परिकलन के द्वारा यह जानने का प्रयास करते कि भूमध्यरेखा के नीचे मेरु पर्वत का क्षितिज किस परिमाण में दबा हुआ है लेकिन चूंकि इस विषय में इस प्रकार की खोज की कोई आवश्यकता नहीं है (क्योंकि मेरु पर्वत मात्र कपोल कल्पना है), इसलिए हम इसे यहीं छोड़ देते हैं...।

ब्रह्मा का दिन

इसके वाद 'ब्रह्माहोरात्र' आता है अर्थात ब्रह्मा का अहर्निश। यह प्रकाश और अंधकार से नही वनता, जैसा कि पितरों का बनता है। न ही किसी खगोलीय पिंड के दिखाई देने या छिप जाने से (जैसा कि देवों के संदर्भ में होता है), वल्कि सृष्टि के भौतिक स्वरूप के कारण होता हे जिसके फलस्वरूप वे दिन को चलते हैं और रात को विश्राम करते हैं। व्रह्मा के अहर्निश की लंवाई 8,640,000,000 वर्ष है। इसके आधे भाग के दौरान अर्थात् दिन के समय ईश्वर उस सवके साथ जो उसमें है, चलता रहता है, पृथ्वी उत्पन्न करती रहती है और पृथ्वी के धरातल पर अस्तित्व तथा विनाश के परिवर्तन निरंतर होते रहते हैं। दूसरे आधे भाग के दौरान यानी रात में उस सवके विपरीत होता है जो दिन में होता है, पृथ्वी में कोई परिवर्तन नही आता क्योंकि वे तत्व जो परिवर्तन लाते हैं विश्राम कर रहे होते हैं और सभी गतिविधियाँ रुक जाती है क्योंकि प्रकृति रात को और ठंड में आराम करती है और दिन के समय तथा गर्मी में नये अस्तित्व की तैयारी में लग जाती है।

व्रह्मा का प्रत्येक दिन और उसी प्रकार प्रत्येक रात एक कल्प होती है और कल्प से अभिप्राय वह काल है जिसे मुसलमान लेखक 'सिंदहिंद वर्ष' कहते हैं।

पुरुष का दिन

अंत में 'पुरुषहोरात्र' अर्थात् मनुष्यमात्र का अहर्निश, जिसे महाकल्प भी कहते हैं। हिन्दू इसका प्रयोग काल के सामान्य निर्धारण के लिए या समय के संवंध में कुछ जानने के लिए करते है लेकिन इसे दिन और रात के रूप में प्रस्तुत नहीं करते। मेरा मन तो यह कहता है कि इस अहर्निश के दिन का अर्थ वह अवधि है जिसमें आत्मा का अस्तित्व से संयोग होता है जवकि रात का अर्थ वह अवधि है जिसमें वे एक-दूसरे से अलग हो जाते हैं और जिसमे आत्माएं (आदि तत्व के साथ मिलने से हुई श्रांति के वाद) विश्राम करते हैं और वह दशा जो आत्मा को आदि तत्व के साथ मिलना आवश्यक वनाती है या उसे उससे अलग करती है अहर्निश के अंत में अपनी समय-सीमा को पहुंच जाती है। 'विष्णु-धर्म' में कहा गया है: "व्रह्मा का जीवन पुरुष का दिन है और पुरुष की रात की लंवाई भी वही है"...।

चौंतीसवां अध्याय

अहर्निश का समय के लघु कणों में विभाजन

घटी

हिन्दुओं ने समय के लघुत्तम कणों के अन्वेषण में मूर्खता की हद तक कठिन परिश्रम किया है किंतु उनके प्रयत्नों से कोई सर्वमान्य और एकरूप व्यवस्था नहीं उभर पाई। इसके विपरीत आपको ऐसी दो पुस्तकें या दो व्यक्ति नहीं मिलेंगे जिन्होंने इस विषय पर एक जैसी बातें कही हों। पहली बात तो यह कि अहर्निश को साठ मिनट या 'घटी' में बांटा गया है···।

चषक

प्रत्येक मिनट को साठ सेकंड में बांटा गया है जिसे 'चषक' या 'चखक' और 'विघटिका' भी कहते हैं।

प्राण

प्रत्येक सेकंड को छह भागों या 'प्राणों' अर्थात् श्वास में विभक्त किया गया है···।

चाहे हम इस नियम के अनुसार 'प्राण' का निश्चय करें (एक अहर्निश =21,600 प्राण) या यदि हम प्रत्येक घटी को 360 भागों में विभक्त करें ($60 \times 360 = 21,600$), या ग्रह के प्रत्येक अंश को 60 भागों में विभाजित करें ($360 \times 60 = 21,600$), बात एक ही रहती है।

विनाडि

इस हद तक तो हिन्दू इस विषय में एक-दूसरे से सहमत हैं, यद्यपि वे अलग-अलग शब्दों का प्रयोग करते हैं···।

क्षण

कुछ लोग ऐसे हैं जो मिनट और सेकंड के बीच एक और मान 'क्षण' भी

रखते हैं जो मिनट के एक चौथाई (या 15 सेकंड) के बराबर होता है। प्रत्येक क्षण को पंद्रह कला में विभक्त किया जाता है जिसमें से प्रत्येक मिनट के 1/60वें भाग के बराबर है और यह 'चपक' ही का दूसरा नाम है।

निमेष, लव, त्रुटि

समय के इन खंडों के निचले क्रम में तीन नाम और आते हैं जिन्हें एक ही क्रम में रखा जाता है। इनमें सबसे बड़ा 'निमेप' है जिसका अर्थ वह समय है जिसके दौरान आंख सामान्य परिस्थितियों में दो बार लगातार देखने के बीच खुली रहे। 'लव' मध्य का और 'त्रुटि' समय का सबसे छोटा भाग है। 'त्रुटि' का शाब्दिक अर्थ चुटकी बजाना है जिसका प्रयोग वे एक ऐसे संकेत के लिए करते हैं जो आश्चर्य या प्रशंसा का द्योतक है। इन तीनों मानों के बीच जो संबंध है वह बहुत भिन्न है। अनेक हिन्दुओं के मतानुसार—

2 त्रुटि = 1 लव
2 लव = 1 निमेप।

इसके अलावा उनमें 'निमेष' और समय-खंड के अगले उच्चक्रम के बीच भी भारी मतभेद है क्योंकि कुछ का कहना हैं कि 'काष्ठा' में पंद्रह निमेप होते हैं जब कि कुछ दूसरे तीस निमेप मानते हैं। कुछ और वे हैं जो इन तीनों मानों में से प्रत्येक को आठवें भाग में विभक्त करते हैं ताकि—

8 त्रुटि = 1 लव
8 लव = 1 निमेप
8 निमेप = 1 काष्ठा (?)···

इस समस्त पद्धति को नीचे की सारणी में दर्शाया गया है :

समय-मानों के नाम	छोटा बड़े में कितनी बार आता है	इसमें से कितने एक दिन में आते हैं
घटी, नाडि	60	60
क्षण	4	240
चपक, विनाडि, कला	15	3,600
प्राण	6	21,600
निमेप	8	172,800
लव	8	1,382,400
त्रुटि	8	11,059,200
अणु	8	88,473,600

प्रवर

हिन्दुओं का एक लोक-प्रचलित अहर्निश का विभाजन आठ 'प्रवर' का भी है जिसका अर्थ होता है घड़ियों में परिवर्तन और उनके देश के कुछ भागों में उनकी जलघड़ियां होती हैं जिनको घटी के अनुसार मिलाया जाता है और उसी से आठ घड़ियों के समय निर्धारित किए जाते हैं। जब साढ़े सात घटी तक चलने वाली घड़ी समाप्त हो जाती है तो वे ढोल बजाते हैं और शंख बजाते हैं जिसे फारसी में 'सफेद मुहर' कहते हैं। मैंने पुरशुर नगर में यह देखा है। धर्मपरायण लोगों ने इन जलघड़ियों के लिए तथा इनकी व्यवस्था के लिए संपत्ति और नियत आय की वसीयत कर दी है।

मुहूर्त

इसके आगे दिन को तीस मुहूर्तों में विभक्त किया गया है लेकिन यह विभाजन भी अस्पष्टता से मुक्त नहीं है क्योंकि कभी-कभी आपको ऐसा लगता है कि मुहूर्तों की लंबाई हमेशा एक होती है क्योंकि वे उनकी तुलना या तो घटी से करते हैं और कहते हैं कि दो घटी बराबर हैं एक मुहूर्त के, या फिर उनकी तुलना पहरों से करते हैं और कहते हैं कि एक पहर पौने चार मुहूर्तों का होता है। यहां मुहूर्तों को इस तरह माना गया है जैसे वे horo oequinoctiales हों अर्थात् अहर्निश के इतने-इतने समान भाग। लेकिन दिन या रात के इन घंटों की संख्या अक्षांश के हर अंश पर बदल जाती है और यह बात हमें यह सोचने पर बाध्य करती है कि मुहूर्त की लंबाई दिन के समय कुछ होती है और रात के समय कुछ और···।

[मुहूर्त की लंबाई के परिवर्ती या अपरिवर्ती होने के संबंध में पुलिश के मतों की आलोचना की गयी है। पृ० 338-42]

मुहूर्त के अधिष्ठाता

हम नीचे सारणी में प्रत्येक मुहूर्त के अधिष्ठाता दे रहे हैं :

मुहूर्तों की संख्या	दिन के समय मुहूर्त के अधिष्ठाता	रात के समय मुहूर्त के अधिष्ठाता
1.	शिव अर्थात् महादेव	रुद्र अर्थात् महादेव
2.	भुजंग अर्थात् सर्प	अज अर्थात् सभी फटे पैरों वाले पशुओं का स्वामी
3.	मित्र	अहिर्बुधन्य, उत्तर भाद्रपद का स्वामी

4.	पितृ	पुशन, रेवती का स्वामी
5.	वसु	दस्र, अश्विनी का स्वामी
6.	अपस् अर्थात् जल	अंतक अर्थात् मृत्यु का देवता
7.	विश्व	अग्नि
8.	विरचि अर्थात् ब्रह्मा	धातृ अर्थात् ब्रह्मा
9.	केशवर (?) अर्थात् महादेव	सोम, मृगशीर्ष का स्वामी
10.	इंद्राग्नि	गुरू
11.	इंद्र, राजा	हरि अर्थात् नारायण
12.	निशाकर अर्थात् चंद्रमा	रवि अर्थात् सूर्य
13.	वरुण अर्थात् वर्षा का देवता	यम, मृत्यु का देवता
14.	आर्यमन	त्वाष्ट्री, चित्र का स्वामी
15.	भागेय (?)	अनिल अर्थात् वायु

हिन्दू ज्योतिष-शास्त्र में घंटे

भारत में सिवाय ज्योतिषियों के कोई भी घंटों का प्रयोग नहीं करता, वे भी घंटों के अधिष्ठाताओं के बारे में बताते हैं और उसी के साथ-साथ अहर्निश के अधिष्ठाताओं का भी वर्णन करते हैं। अहर्निश का अधिष्ठाता रात का अधिष्ठाता भी है क्योंकि ज्योतिषियों ने दिन के लिए किसी अलग अधिष्ठाता का विधान नहीं किया है और इस संबंध में रात का तो वे कभी नाम भी नहीं लेते। वे अधिष्ठाताओं का क्रम घंटे के अनुसार रखते हैं।

वे घंटे को 'होरा' कहते हैं और इस नाम से यह आभास होता है कि वास्तव में वे horoe obliquoe temporales का प्रयोग करते हैं क्योंकि हिन्दू राशियों के केंद्र को 'होरा' कहते हैं जिसे हम मुसलमान नीम बहर (देखें, अध्याय अस्सी)। इसका कारण यह है कि हर दिन में और हर रात में केवल छह राशियां क्षितिज से ऊपर आती हैं। इसलिए यदि घंटे को राशि के केंद्र के नाम से पुकारा जाए तो हर दिन और हर रात के 12 घंटे होंगे और इसी का यह परिणाम है कि घंटों के अधिष्ठाताओं के सिद्धांत में जिन घंटों का प्रयोग किया गया है वे horoe obliquoe temporales जैसा कि हमारे देश में होता है और उनके इन्हीं अधिष्ठाताओं के कारण उन्हें वेधयंत्रों पर अंकित किया गया है···।

हिन्दू horoe obliquoe को कुछ नाम देते हैं जिन्हें हमने नीचे की सारणी में संगृहीत किया है। हमारा विचार है कि ये नाम 'श्रृद्धवा' नामक पुस्तक से लिए

गये होंगे।

चौबीस होरों के नाम

होरा की संख्या	दिन में होरा के नाम	शुभ या अशुभ	रात में उनके नाम	शुभ या अशुभ
1.	रौद्र	अशुभ	कालरात्रि	अशुभ
2.	सौम्य	शुभ	रोधिनी	शुभ
3.	कराल	अशुभ	वैराहमा (?)	शुभ
4.	सत्र	शुभ	त्रासनीय	अशुभ
5.	वेग	शुभ	गुहानीय (?)	शुभ
6.	विशाल	शुभ	माया	अशुभ
7.	मृत्युसार	अशुभ	दामरीय (?)	शुभ
8.	सुन्हा	शुभ	जीवहरणी	अशुभ
9.	क्रोड़	शुभ	शोपिणी	अशुभ
10.	चंडाल	शुभ	वृष्णि	शुभ
11.	कृत्तिका	शुभ	दाहरीय (?)	सर्वाधिक अशुभ
12.	अमृत	शुभ	चंतिमा (?)	शुभ

पैंतीसवां अध्याय

विभिन्न प्रकार के मास और वर्ष

चांद्र मास की परिभाषा

प्राकृतिक मास वह अवधि हे जिसमे चंद्रमा संयुति-परिक्रमा करता है। हम इसे भौतिक इसलिए कहते है क्योकि इसका विकास उसी प्रकार होता है जैसे अन्य भौतिक घटनाओ का जो अनस्तित्व जैसे किसी विशेष आदि से उभरती हे, शनैः-शनैः बढती है, ऊपर उठती हैं और जब अपनी चरम सीमा पर पहुंच कर स्थिर हो जाती है, फिर नीचे उतरती है, क्षीण होती जाती है और घटने लगती है और यह क्रम अत तक चलता है जब वे अनस्तित्व की अवस्था मे जहा से आई थी लौट जाती हैं। इसी प्रकार चद्रमा के पिंड मे प्रकाश उत्पन्न होता है जब वह अमावस्या की रात को अर्धचंद्र के रूप में दिखायी देता है, फिर नवचंद्र के रूप मे (तीसरी रात के बाद) और पूर्णचंद्र के रूप मे और उसके बाद उन्ही अवस्थाओ से गुजरकर अंतिम रात्रि तक पहुंचता है जो अनस्तित्व की अवस्था है और यही सब-कुछ मानव इंद्रियो के संदर्भ मे भी होता है। यह तो सभी जानते है कि चंद्रमा कुछ समय तक अमावस्या की रातो में क्यो रहता है लेकिन यह बात उतनी ही जानी-मानी नही है, बल्कि शिक्षितजन भी नही जानते कि वह कुछ समय तक पूर्णचंद्र के रूप मे क्यो बना रहता है। उन्हे यह मालूम होना चाहिए कि चंद्रमा का पिंड सूर्य की तुलना में कितना छोटा है और इसी कारण उसका प्रकाशित भाग अंधकारमय भाग से कही बड़ा होता है और यही कारण है कि चंद्रमा को कुछ समय तक पूर्णचंद्र के रूप मे बने रहना आवश्यक हो जाता है।

चंद्रिका के प्रभाव

यह बात समुद्रतट के निवासियो और समुद्री यात्रा करने वालो को भलीभाति ज्ञात है कि चंद्रमा का आर्द्र पदार्थो पर कुछ प्रभाव पड़ता है और वे उसके प्रभाव बच नही सकते। उदाहरण के लिए, समय-समय पर और चंद्रमा की कलाओ के साथ-साथ ज्वार-भाटे मे कभी कमी और कभी बढ़ती होती रहती है। इसी प्रकार

वैद्य यह जानते हैं कि रोगियों के शरीर में तरल पदार्थों पर चंद्रमा का प्रभाव पड़ता है और चंद्रमा की परिक्रमा के साथ-साथ ज्वर भी लौट-लौटकर आता है। भौतिकी के विद्वान जानते हैं कि पशुओं और वनस्पति का जीवन चंद्रमा पर निर्भर होता है और प्रयोगवादियों को यह ज्ञात है कि चंद्रमा मज्जा और मस्तिष्क, अंडों और पीपों तथा जगों में मदिरा की तलछट को प्रभावित करता है। वह उन लोगों के मन को उत्तेजित करता है जो पूर्णिमा की रात को सोते है और उसका कपड़ों पर जो उसके प्रकाश में रखे जाएं प्रभाव होता है। कृषक यह जानते हैं कि ककड़ी, खरबूजे, कपास आदि के खेतों पर चंद्रमा का क्या असर होता है और वही किसान विभिन्न प्रकार की बुआई, रोपण और कलम बांधने और ढोरों को फांदने का समय भी चंद्रमा की दिशा के अनुरूप निश्चित करते हैं। अंत में खगोलविज्ञानी यह जानते हैं कि मौसम-विज्ञान संबंधी घटनाएं चंद्रमा की विभिन्न कलाओं पर निर्भर करती हैं जिनमें से चंद्रमा अपनी परिक्रमा के दौरान गुजरता है। यही मास कहलाता है और वही बारह हों तो पारिभाषिक शब्दावली में उन्हें 'चांद्र वर्ष' कहते हैं।

सौर मास

प्राकृतिक वर्ष सूर्य की परिक्रमा की वह अवधि है जिसमें वह क्रांतिवृत्त में रहता है। हम इसे 'प्राकृतिक' इसलिए कहते हैं क्योंकि इसके अंतर्गत प्रजनन की प्रक्रिया की वे सब अवस्थाएं आ जाती हैं जो वर्ष की चार ऋतुओं में परिक्रमा करती है। इसके दौरान सूर्य की किरणें खिड़की के शीशे और धूप-घड़ी की छाया से गुजरती हुई उसी आकार, स्थिति और दिशा में आ जाती है जिनमें या जिनसे वे शुरू हुई थी। यही वर्ष कहलाता है और इसे 'चांद्र वर्ष' के विपरीत 'सौर वर्ष' नाम दिया गया है। जिस प्रकार चांद्र मास चांद्र वर्ष का बारहवां भाग है उसी प्रकार सिद्धांततः सौर वर्ष का बारहवां भाग 'सौर मास' हुआ और इसकी गणना सूर्य के माध्य घूर्णन पर आधारित है। लेकिन यदि यही गणना उसके विविध घूर्णन पर आधारित हो तो 'सौर मास' वह अवधि होगी जिसमें वह राशि चक्र के एक ग्रह में रहता है।

यही दो प्रकार के प्रसिद्ध मास और वर्ष हैं।

चांद्र-सौर गणना

हिन्दू योग को अमावस्या, उसके विपरीत योग को पूर्णिमा और दो चतुर्यांशों को ATVH (?) कहते हैं। उनमें से कुछ चांद्र वर्ष और चांद्र मास तथा दिन का प्रयोग करते हैं जबकि दूसरे चांद्र मास के साथ सौर वर्ष को अपनाते हैं और इसकी शुरुआत प्रत्येक राशि के 0° से करते हैं। सूर्य का किसी राशि में प्रवेश संक्रांति

कहलाता है। लेकिन चांद्र-सौर गणना केवल आनुमानिक है। यदि वे इसे निरंतर प्रयुक्त करते रहें तो वे कुछ ही समय में सौर वर्ष और सौर मास को ही अपनाना पसंद करने लगेंगे। इस मिश्र पद्धति को अपनाने से उन्हें एक ही लाभ है कि वे अंतर्वेश से बच जाते हैं।

चांद्र मास का प्रारंभ

जो लोग चांद्र मास का प्रयोग करते हैं वे अमावस्या के योग से मास का प्रारंभ करते हैं और यह पद्धति प्रामाणिक पद्धति है जबकि दूसरे मास का प्रारंभ इसके विपरीत योग का पूर्णिमा से करते हैं···।

मास को दो पक्षों के रूप में गिनना

मास के दिनों की गणना अमावस्या से शुरू की जाती है और पहला चंद्र दिवस br ba कहलाता है और फिर गणना पूर्णिमा से की जाती है (अर्थात् वे दो बार पंद्रह दिन गिनते हैं जो अमावस्या और पूर्णिमा से शुरू होते हैं)। प्रत्येक दो दिनों का जिनकी अमावस्या या पूर्णिमा से समान दूरी है एक ही नाम (या संख्या) है। इन दो दिनों में चंद्रमा के पिंड पर जो प्रकाश और अंधकार दिखाई पड़ता है वह उसके घटने-बढ़ने की कलाओं के अनुरूप होता है और एक दिन में चंद्रमा के उदय होने के घंटे दूसरे दिन उसके अस्त होने के समान होते हैं···।

विभिन्न प्रकार के मास

जैसे महीने दिनों से बनते हैं इसी तरह जितने प्रकार के दिन हैं उतने ही प्रकार के मास भी। हर मास के तीस दिन होते हैं। हम यहां व्यावहारिक दिन को मानक (देखिए, सावन : तैंतीसवां अध्याय) मानेंगे···।

एक मास में 30 चांद्र दिवस होते हैं क्योंकि यह संख्या प्रामाणिक है जिस प्रकार वर्ष के दिनों की संख्या के लिए 360 की संख्या प्रामाणिक है। सौर मास के 30 सौर दिवस होते हैं और

$$30\frac{1,362,987}{3,110,400}$$ व्यावहारिक दिन···

सौर वर्ष में $365\frac{827}{3,200}$ व्यावहारिक दिन··· ।

छत्तीसवां अध्याय

समय के चार माप जिन्हें मान कहा जाता है

'मान' और 'प्रमान' का अर्थ होता है माप या पैमाना। याकूब इब्न तारिक ने अपनी पुस्तक 'मंडलों की रचना' में चार प्रकार के मानों का उल्लेख किया है लेकिन उसे इनका सम्यक् ज्ञान नहीं था और इसके अलावा नामों की वर्तनी भी अशुद्ध है, अगर यह नकलनवीसों का दोष नहीं है। नाम ये हैं:

'सौर-मान' अर्थात् सूर्य-संबंधी माप।

'सावन-मान' अर्थात् वह माप जो उदय पर निर्भर हो (व्यावहारिक मान)।
'चांद्र-मान' अर्थात् चंद्र-संबंधी माप।

'नाक्षत्र-मान' अर्थात् चांद्र स्थानों के माप (नाक्षत्र माप)···।

'सौर-मान', चांद्र-मान' और 'सावन-मान' का क्या प्रयोग किया जाता है

सौर मान का प्रयोग उन वर्षों की गणना के लिए किया जाता है जिनसे 'कल्प' बनता है और चतुर्युगों में चार युगों का प्रयोग जन्मपत्रियों, सायनों, अयनांतों के वर्षों, वर्ष या ऋतुओं के छठे भागों और अहर्निश में दिन और रात के अंतर के लिए किया जाता है। इन सब चीजों की गणना सौर वर्षों, मासों और दिवसों में की जाती है।

'चांद्र-मान' का प्रयोग अधिमास के निर्धारण में (देखिए, अठहत्तरवां अध्याय), ग्यारह 'करण' की गणना में, उनरात्र (देखिए, इक्यावनवां अध्याय) के कुल दिनों और चंद्र ग्रहण तथा सूर्य ग्रहण के लिए पूर्णिमा और अमावस्या की गणना के लिए किया जाता है···।

'सावन-मान' का प्रयोग 'वार' अर्थात् सप्ताह के दिनों, 'अहर्गण' अर्थात् एक युग के कुल दिनों के निर्धारण (देखिए, इक्यावनवां अध्याय), विवाह और व्रत के दिनों के निर्धारण (देखिए, पचहत्तरवां अध्याय) के लिए, 'सूतक' अर्थात् प्रसूति के दिनों के निर्धारण (देखिए, उनहत्तरवां अध्याय) के लिए, मकानों की गंदगी के दिनों और मृतकों के वर्तनों के लिए (देखिए, बहत्तरवां अध्याय), 'चिकित्सा'

अर्थात् कुछ ऐसे मास और वर्ष जिनमें हिन्दू आयुर्विज्ञान के अनुसार कुछ ओषधियां पीने का विधान है, इसके बाद 'प्रायश्चित' के निर्धारण के लिए अर्थात् प्रायश्चित के दिनों के लिए जो ब्राह्मण उन लोगों के लिए अनिवार्य कर देते हैं जिन्होंने कुछ पाप किये हों और ये वे दिन हैं जिनमें उन्हें व्रत रखना और अपने शरीर पर मक्खन तथा गोबर मलना (देखिए, इकहत्तरवां अध्याय) अनिवार्य है। इन सब चीजों का निर्धारण 'सावन-मान' के अनुसार किया जाता है।

इसके विपरीत वे किसी चीज का निश्चय 'नाक्षत्र-मान' के अनुसार नहीं करते क्योंकि वह 'चांद्र-मान' के ही अंतर्गत मान लिया गया है।

समय के किसी भी ऐसे माप को जिसे किसी भी वर्ग के लोग एकमत होकर दिन के निर्धारण के लिए अपना लें वही 'मान' कहा जाता है। ऐसे कुछ दिनों का उल्लेख एक पिछले अध्याय (देखिए, तेंतीसवां अध्याय) में किया गया है। लेकिन इस सबके बावजूद जो चार 'मान' सर्वश्रेष्ठ हैं, यह अध्याय हमने केवल उन्हीं तक सीमित कर दिया है।

सैंतीसवां अध्याय

मास तथा वर्ष के भाग

'उत्तरायण' और 'दक्षिणायण'

चूंकि सूर्य की क्रांतिवृत्त की एक परिक्रमा ही वर्ष कहलाती है इसलिए उसका विभाजन भी क्रांतिवृत्त की ही भांति किया जाता है। क्रांतिवृत्त को दो समान् भागों में विभक्त किया जाता है और यह विभाजन दो अयनांतिक बिंदुओं पर निर्भर होता है। इसी के अनुरूप वर्ष को दो समान भागों में विभक्त किया जाता है जिसमें से प्रत्येक 'अयन' कहलाता है।

जब सूर्य दक्षिण अयनांत को छोड़ देता है तो वह उत्तरी ध्रुव की ओर चलना शुरू कर देता है। इसलिए वर्ष का यह भाग जो लगभग आधा होता है उत्तर में रहता है और 'उत्तरायण' कहलाता है अर्थात् सूर्य के छह राशियों से गुजरने की अवधि जो मकर से शुरू होती है। निष्कर्षतः, क्रांतिवृत्त का यह अर्धांग 'मकरादि' यानी जिसका प्रारंभ मकर से होता है, कहलाता है।

जब सूर्य उत्तर अयनांत को छोड़ता है तो वह दक्षिणी ध्रुव की ओर चलना शुरू कर देता है; इसलिए यह दूसरा अर्ध दक्षिण में रहता है और 'दक्षिणायण' कहलाता है अर्थात् सूर्य के छह राशियों से गुजरने की अवधि जो कर्क से शुरू होती है। परिणामतः, क्रांतिवृत्त का यह अर्ध 'कर्कादि' कहलाता है अर्थात् वह जिसका आरंभ 'कर्क' से होता है।

अशिक्षित जन केवल इन दो विभागों अथवा वर्षार्धों का प्रयोग करते हैं क्योंकि दो अयनांतों की बात उन्हें अपने इंद्रियबोध से ही समझ में आ जाती है।

'उत्तरकुल' और 'दक्षकुल'

आगे क्रांतिवृत्त को भी भूमध्य रेखा से अपने अपक्रम के अनुसार दो भागों में विभक्त किया जाता है और यह विभाजन अधिक वैज्ञानिक है जिसे पहले की

अपेक्षा सामान्यजन कम जानते हैं क्योंकि यह गणना और अनुमान पर आधारित है। प्रत्येक अर्ध 'कुल' कहलाता है। जिसका अपक्रम उत्तर की ओर हो वह 'उत्तर कुल' या 'मेषादि' कहलाता है अर्थात् उसका प्रारंभ 'मेष' से होता है; और जिसका अपक्रम दक्षिण की ओर होता है उसे 'दक्षकुल' या 'तुलादि' अर्थात् 'तुला' राशि से प्रारंभ होने वाला कहते हैं।

ऋतुएं

इसके आगे क्रांतिवृत्त इन दोनों विभाजनों के द्वारा चार भागों में विभक्त किया जाता है और वे अवधियां जिनके दौरान सूर्य उनको पार करता है वर्ष की ऋतुएं कहलाती हैं—वसंत, ग्रीष्म, शरत् और शीत ऋतु। इसी के अनुसार राशियां भी ऋतुओं में बांट दी गयी हैं। लेकिन हिन्दू वर्ष को चार नहीं, छह भागों में विभक्त करते हैं और छह भागों को 'ऋतु' कहते हैं। प्रत्येक ऋतु में दो सौर-मास होते हैं अर्थात् सूर्य के दो क्रमिक राशियों से गुजरने का समय।

मुझे मालूम हुआ है कि सोमनाथ प्रदेश के लोग वर्ष को तीन भागों में विभक्त करते हैं जिनमें से प्रत्येक में चार मास होते हैं: पहला 'वर्षाकाल' जो आषाढ़ मास से शुरू होता है; दूसरा 'शीतकाल' और तीसरा 'उष्णकाल'...। मास अमावस्या से लेकर पूर्णिमा और पूर्णिमा से अमावस्या तक दो पक्षों में बांटे जाते हैं।

अड़तीसवां अध्याय

समय के विभिन्न परिमाण जिनमें दिन और ब्रह्मा की आयु भी सम्मिलित है

समय के अलग-अलग परिमाणों का सार-कथन

प्राचीन भाषा में दिन को 'दिमस' (दिमसु) या दिवस और रात को 'रात्रि' तथा अहर्निश को 'अहोरात्र' कहते हैं। महीने को 'मास' और उसके आधे को 'पक्ष' कहा जाता है। पहला या श्वेत अर्ध 'शुक्ल पक्ष' कहलाता है क्योंकि उसकी रातों के पहले पहरों में जबकि लोग अभी सोये नहीं होते चांदनी होती है और उस समय चंद्रमा के पिंड पर प्रकाश बढ़ जाता है और अंधकार घट जाता है। दूसरा या काला अर्ध 'कृष्ण पक्ष' कहलाता है क्योंकि उसकी रातों के पहले पहरों में चांद नहीं दिखायी देता जबकि दूसरे पहरों में चांदनी छिटकी होती है लेकिन यह तभी होता है जब लोग सो जाते हैं। ये वे रातें होती हैं जब चंद्रमा के पिंड पर प्रकाश घटने लगता है और उसका अंधकार बढ़ जाता है।

दो मास की समष्टि होती है 'ऋतु', किन्तु यह एक आनुमानिक परिभाषा है क्योंकि जिस मास के दो पक्ष होते हैं वह चांद्र मास होता है जबकि वह मास जिसका दुगुना 'ऋतु' होता है सौर मास है।

छह ऋतुओं का मानव वर्ष होता है जो सौर वर्ष है जिसे 'वर्ह' या 'वर्ख' या 'वर्ष' कहते हैं, ये तीन ह, ख और ष ऐसी ध्वनियां हैं जो हिन्दुओं के मुंह में जाकर गड्डमड्ड हो जाती हैं (संस्कृत—वर्ष)।

मनुष्यों के 360 वर्षों के बराबर देवताओं का एक वर्ष होता है जिसे 'दिव्य वर्ह' (दिव्य वर्ष) कहते हैं और देवताओं के 12000 वर्षों को सर्वसम्मति से 'चतुर्युग' माना है। मतभेद केवल चतुर्युग के चार भागों और उसके गुणा के संबंध में है जिनसे मन्वंतर और एक कल्प बनते हैं। इस विषय पर विस्तृत चर्चा उपयुक्त स्थान (देखिए, इकतालीसवां और चवालीसवां अध्याय) पर की जाएगी…।

उनतालीसवां अध्याय

समय-परिमाण जो ब्रह्मा की आयु से भी बड़े हैं

समय के सबसे बड़े मानों में क्रमहीनता

हर वह बात जो अव्यवस्थित है या इस पुस्तक के पिछले अध्यायों में उल्लिखित विषयों का खंडन करती है हमारे स्वभाव के लिए अरुचिकर है और हमारे कानों को नहीं भाती। लेकिन हिन्दू ऐसे लोग हैं जो अनेक नामों का उल्लेख करते हैं और जैसा कि वे मानते हैं उनमें से सभी एक या पहले से या उसके बाद वाले से संबंधित हैं जिसकी ओर केवल संकेत मात्र किया गया है। जब वे प्रस्तुत अध्याय जैसे प्रसंग तक पहुंचते हैं तो उन्हीं नामों को दोहराते हैं जो अनेक प्राणियों के द्योतक हैं, उनकी आयु का अनुमान लगाते हैं और बड़ी-बड़ी संख्याएं गढ़ते हैं। और बड़ी-बड़ी संख्याएं ही उनका अभीष्ट है और वे उनका स्वतंत्रता के साथ इस्तेमाल करते हैं और जहां तक संख्याओं का प्रश्न है वे बेचारी तो बड़ी सहिष्णु होती हैं और जहां उन्हें रख दिया जाए वहीं बैठी रहती हैं। इसके अलावा ऐसा एक भी विषय नहीं है जिस पर हिन्दुओं में परस्पर सहमति हो और इसी कारण से हम उसका प्रयोग करने में संकोच करते हैं। इसके विपरीत, इन काल्पनिक समय-मानों के संबंध में उनमें उतनी ही असहमति है जितनी दिन के विभाजन को लेकर है जो एक 'प्राण' से भी कम है।

['कल्पों' और 'त्रुटियों' द्वारा निर्धारित समय के सबसे बड़े मान के परि-कलन के संबंध में स्रोतों के उद्धरण दिए गये हैं। पृ० 361-63]

चालीसवां अध्याय

संधि, दो कालावधियों के बीच अंतराल, जो उन दोनों के बीच की कड़ी भी है

दो संधियों की व्याख्या

मूल 'संधि' दिन और रात के बीच का अंतराल है अर्थात् प्रातः-उपाकाल जो 'संधि उदय' कहलाता है और सायं-उपाकाल जिसे 'संधि अष्टमान' कहते हैं। हिन्दुओं को इसकी धर्म की दृष्टि से आवश्यकता होती है क्योंकि वे उसी समय स्नान करते हैं और इन दोनों के बीच भी दोपहर के समय भोजन के पहले भी स्नान करते हैं। इससे कोई भी व्यक्ति जो इससे अभिज्ञ नहीं है इस भ्रम में पड़ सकता है कि कोई तीसरी 'संधि' भी होती होगी। लेकिन कोई भी ऐसा व्यक्ति जिसे विषय का सम्यक् ज्ञान है दो से अधिक 'संधियां' नहीं गिनेगा···।

वर्षार्ध की संधि और अयन के साथ उसका मेल; अन्य प्रकार की संधियां

सामान्य दिवस की इन दो संधियों के अलावा खगोलशास्त्री और अन्य लोग कुछ और संधियों की भी कल्पना कर लेते हैं जो न तो प्रकृति के नियमों पर आधारित हैं, न ही किसी प्रेक्षण का परिणाम, बल्कि उनका आधार मात्र परिकल्पना है। इसीलिए वे प्रत्येक अयन को जिसमें सूर्य चढ़ता और उतरता है संधि मान लेते हैं (देखिए, सैंतीसवां अध्याय), जबकि यह संधि उसके वास्तव में प्रारंभ होने के पहले की सात दिन की संधि होती है। इस विषय पर मेरा जो विचार है वह बिलकुल संभव है अर्थात् यह सिद्धांत बहुत पुराना नहीं लगता बल्कि हाल ही में उभरा है और इसे सिकंदर के लगभग 1300 वर्ष (=989 ई०) के आसपास प्रस्तुत किया गया होगा जबकि हिन्दुओं को यह पता चला होगा कि वास्तविक अयनांत उनकी गणना के अयनांत के पहले होता है···।

इकतालीसवां अध्याय

'कल्प' और 'चतुर्युग' शब्दों की परिभाषा और एक की दूसरे के द्वारा व्याख्या

चतुर्युग और कल्प का मान

बारह हजार दिव्य वर्षों का जिनकी लंबाई पहले ही (देखिए, पेंतीसवां अध्याय) बताई जा चुकी है एक चतुर्युग होता है और 100 चतुर्युगों से एक कल्प बनता है। यह एक ऐसा काल है जिससे आरंभ और अंत में सात ग्रहों और उनके नीचोच्च और पात का मेष के 0^0 में योग होता है। कल्प के दिनों को कल्प अहर्गण कहते हैं क्योंकि 'अह' का अर्थ है दिन और 'अर्गण' का अर्थ होता है सूर्य। चूंकि वे व्यावसायिक दिन होते हैं और उनका संबंध सूर्योदय से होता है इसलिए उन्हें 'पृथ्वी के दिन' भी कहा जाता है क्योंकि 'उदय' के लिए क्षितिज का होना आवश्यक है और क्षितिज पृथ्वी के आवश्यक लक्षणों में से एक है।

'कल्प अहर्गण' के ही नाम से लोग एक विशेष तिथि तक के किसी काल के दिनों की कुल संख्या को भी जानते हैं।

हमारे मुसलमान लेखक 'कल्प' के दिनों को 'सिदहिंद के दिन' या 'विश्व के दिन' कहते हैं और उनकी संख्या 1,577,916,450,000 दिन (सावन या व्यावहारिक दिन), या 4,320,000,000 सौर वर्ष या 4,452,775,000 चांद्र वर्ष गिनते हैं···।

मन्वंतर और कल्प के बीच संबंध

एक कल्प में 71 चतुर्युग होते हैं जो एक 'मनु' यानी 'मन्वंतर' के बराबर हैं और 14 मनु के बराबर 1 कल्प होता है। यदि आप 71 को 14 से गुणा करें तो गुणनफल होगा 994 चतुर्युग जो 14 मन्वंतरों का समय है और शेष 6 चतुर्युग कल्प के अंत तक होंगे···।

हमने इस अध्याय में जो कुछ कहा है उसका आधार ब्रह्मगुप्त का सिद्धांत

और वे तर्क हैं जो उसने अपने सिद्धांत के समर्थन में प्रस्तुत किए हैं।

आर्यभट्ट ज्येष्ठ, पुलिश और आर्यभट्ट कनिष्ठ के सिद्धांत

ज्येष्ठ आर्यभट्ट और पुलिश की गणना के अनुसार मन्वंतर 72 चतुर्युगों से बनता है और कल्प 14 मन्वंतरों के बराबर होता है और इनमें किसी संधि का सन्निवेश नहीं होता। इसलिए उनकी गणना के अनुसार एक कल्प में 1,008 चतुर्युग होते हैं और उसके 12,096,000 दिव्य वर्ष या 4,354,560,000 मानव वर्ष बनते हैं।

मुझे आर्यभट्ट की कोई पुस्तक नहीं मिल पायी। मैं उसके बारे में जो कुछ जान पाया हूं उसका आधार उसके वे उद्धरण हैं जो ब्रह्मगुप्त ने दिए हैं···।

कुसुमपुरा-निवासी आर्यभट्ट ज्येष्ठ आर्यभट्ट के सिद्धांतों का ही अनुयायी है और उसने Al-ntf पर अपनी छोटी-सी पुस्तक में लिखा है कि "1,008 चतुर्युग ब्रह्मा के एक दिवस के बराबर हैं। 504 चतुर्युगों का पूर्वार्ध 'उत्सर्पिणी' कहलाता है जिसके दौरान सूर्य चढ़ता है और उत्तरार्ध 'अवसर्पिणी' कहलाता है जिसमें सूर्य उतरता है। इस काल का मध्य 'सम' कहलाता है क्योंकि यह दिन के बीच में पड़ता है और इसी के दोनों छोर 'दुर्तम' कहलाते हैं।

बयालीसवां अध्याय

चतुर्युग का युगों में विभाजन और युग के संबंध में विभिन्न मत

'विष्णु-धर्म' ब्रह्म के मतानुसार 'चतुर्युग' के चार भाग

'विष्णु-धर्म' के लेखक का कहना है कि "बारह सौ दिव्य वर्षों का एक 'युग' होता है जो 'दिव्य' कहलाता है। इसका दुगुना 'द्वापर' होता है, तिगुना 'त्रेता', चौगुना 'कृत' और ये चारों युग मिलकर एक 'चतुर्युग' कहलाता है।

"इकहत्तर चतुर्युगों के बराबर एक 'मन्वंतर' होता है और 14 'मन्वंतर' तथा उनमें से प्रत्येक दो के बीच एक 'कृत युग' के बराबर की संधि के साथ एक 'कल्प' बनता है। दो कल्पों के बराबर ब्रह्मा का एक अहर्निश होता है और उसका जीवन-काल 100 वर्षों का या पुरुष, प्रथम मानव, का एक दिन होता है जिसके आदि या अंत के बारे में कुछ पता नहीं है।"

[प्रस्तुत विषय पर ब्रह्मगुप्त का मत और आर्यभट्ट के मतों की उसके द्वारा की गयी 'अरुचिकर' आलोचना का उल्लेख किया गया है, पृ० 373-76; आलोचना के संबंध में अल-बिरूनी ने टिप्पणी दी है कि :]

अब यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि ब्रह्मगुप्त ने उसका (आर्यभट्ट का) प्रमाण देकर जो कुछ कहा है और जिससे वह स्वयं सहमत भी है, सर्वथा निराधार है; लेकिन इस तथ्य से उसका आंखें मूंद लेने का कारण उसकी आर्यभट्ट से घृणा है जिसे उसने बहुत बुरा-भला कहा है। और इस मामले में आर्यभट्ट और पुलिश का उसके प्रति जो व्यवहार है वह भी वैसा ही है। मैं यहां ब्रह्मगुप्त का एक उद्धरण देता हूं जिसमें उसने कहा है कि आर्यभट्ट ने Caput Draconis और चंद्रमा के नीचोच्च बिंदु के चक्रों में से कुछ घटा दिया है और इस प्रकार ग्रहण की गणना में गड़बड़ पैदा कर दी है। उसने बड़ी अभद्रता के साथ आर्यभट्ट की तुलना

उस घुन से की है जिसे संयोग से लकड़ी खाने को मिल जाए और वह उसकी कुछ विशेषताएं बताने लगे जिनको न वह समझा है और न जिन्हें अंकित करने का विचार रखता है···। उसने आर्यभट्ट के लिए इस प्रकार के अपशब्दों का प्रयोग किया है और उसके प्रति अभद्र व्यवहार किया है···।

तैंतालीसवां अध्याय

चार युगों और उन सब बातों का वर्णन जिनके चौथे युग के अंत में घटित होने की संभावनाएं हैं

प्राचीन यूनानियों के पृथ्वी के संबंध में विभिन्न मत थे जिनमें से यहां हम उदाहरण के लिए एक पर चर्चा करेंगे।

प्राकृतिक महाप्रलय

पृथ्वी पर जो-जो विपत्तियां ऊपर और नीचे से समय-समय पर आती रहती हैं उनका स्वरूप और आयाम सदा भिन्न होता है। कई बार इस पर जिनके स्वरूप या आयाम या उन दोनों की ही दृष्टि से ऐसे-ऐसे भयंकर संकट आए हैं कि उनसे रक्षा करने का कोई उपाय नहीं था और उससे बच निकलने या उससे सावधान रहने का भी कोई लाभ नहीं था। यह आपदा कभी तो जलप्लावन के रूप में आती है और कभी भूकंप के रूप में और उससे जो विनाश होता है वह इस प्रकार का होता है कि कहीं पृथ्वी का धरातल खंडित हो जाता है या नीचे से उबलने वाले जल-प्रवाह में डूब जाता है या गरम पत्थर और राख जो पृथ्वी के नीचे से निकलती है उससे जल जाता है या गरजदार तूफान आता है, या जमीन नीचे धंस जाती है या प्रचंड तूफान आता है। इसके अलावा संक्रामक और अन्य रोग, महामारी और इसी प्रकार की अन्य विपत्तियां आती हैं। इसके परिणाम-स्वरूप एक विशाल भूभाग उसके निवासियों से विहीन हो जाता है; लेकिन कुछ समय के बाद जब वह विपत्ति और उसके फलस्वरूप हुए विनाश की घड़ी गुजर जाती है तो वह देश फिर संभलने लगता है और उसमें नये जीवन के लक्षण दिखाई देने लगते हैं। फिर विभिन्न प्रकार के लोग वन्य पशुओं की तरह जो पहले गुप्त स्थानों या पहाड़ों की चोटियों पर रह रहे थे वहां आकर इकट्ठे हो जाते हैं। वे अपने शत्रुओं के विरुद्ध, चाहे वे जंगली जानवर हों या मनुष्य, एक-दूसरे की सहायता करके और सुरक्षित तथा सुखी जीवन की आशा में एक-दूसरे को बढ़ावा

देकर सभ्य बन जाते हैं। इस तरह उनकी संख्या बहुत अधिक हो जाती है, लेकिन फिर एक समय आता है जब इच्छा क्रोध और ईर्ष्या के डैने फैलाए उन पर मंडराने लगती है और उनके जीवन की सुख-शांति भंग करने लगती है।

कभी-कभी इस प्रकार की जाति का वंश एक ऐसे व्यक्ति से प्रारंभ होता है जो उस स्थान पर सबसे पहले आकर बसा था या जिसने किसी-न-किसी कारण से स्वयं को दूसरों से प्रतिष्ठित कर लिया था और इस प्रकार परवर्ती पीढ़ियों की स्मृति में केवल वही जीवित रह पाता है जबकि उसके अलावा अन्य सभी विस्मृति के गर्भ में चले जाते हैं'''।

चार युगों के संबंध में हिन्दुओं की धारणाएं

चतुर्युग के बारे में हिन्दुओं की इसी प्रकार की परंपरा है क्योंकि उनके मतानुसार उसके आदि में अर्थात् 'कृत युग' के आरंभ में सर्वत्र सुख-शांति, सुरक्षा, उर्वरता और प्रचुरता थी, स्वस्थता और बल था, विपुल ज्ञान था और असंख्य ब्राह्मण थे। इस युग में पुण्य अपने चरमोत्कर्ष पर था और इस समस्त युग में सभी प्राणियों का जीवन 4000 वर्ष तक रहता था।

इसके बाद सद्गुणों की संख्या घटने लगी और उसमें विपरीत तत्व इस हद तक प्रवेश कर गये कि 'त्रेता युग' के शुरू होते-होते पुण्य बढ़ते हुए पाप की तुलना में तीन चौथाई रह गया और सुख या आनंद की मात्रा भी एक चौथाई घट गयी। क्षत्रियों की संख्या ब्राह्मणों से कहीं अधिक हो गयी और जीवन-काल भी उतना ही लंबा हो गया जितना पिछले युग में। 'विष्णु-धर्म' में तो यही बताया गया है जबकि सादृश्य के अनुसार तो जीवन-सुख की मात्रा में कमी आने पर उतना ही अर्थात् एक चौथाई कम हो जाना चाहिए। इस युग में अग्नि में आहुति देने के लिए उन्होंने जानवरों का वध करना और वृक्ष उखाड़ना शुरू कर दिया जो इससे पहले नहीं होता था।

इस प्रकार 'द्वापर' के आरंभ में पाप में वृद्धि होती है, फिर पुण्य और पाप का अनुपात समान हो जाता है और इसी प्रकार सुख और दुःख का भी। मौसमों में अंतर आने लगता है; जिधर देखो रक्तपात हो रहा है और धर्म भी बदल गये हैं। 'विष्णु-धर्म' के अनुसार जीवन घटकर 400 वर्ष का रह जाता है। 'तिष्य' या कलियुग के आते-आते तो पाप की मात्रा पुण्य की तुलना में तिगुनी हो जाती है।

हिन्दुओं में अनेक घटनाओं से जुड़ी प्रसिद्ध परंपराएं हैं जो त्रेता और द्वापर युगों में घटी थीं। उदाहरणार्थ, राम की कथा जिसने रावण का वध किया था; परशुराम की कथा जो एक ब्राह्मण था जिसने हर उस क्षत्रिय का वध किया जो उसके हाथ लगा और इस प्रकार अपने पिता की हत्या का बदला लिया। उनका

विचार है कि वह स्वर्ग में निवास करता है, वह पृथ्वी पर इक्कीस बार अवतरित हो चुका है और वह फिर अवतार लेगा। इसके अलावा पांडु के पुत्रों और कुरु के पुत्रों के युद्ध की कथा भी आती है।

'कलियुग' में पाप तब तक बढ़ता है जब तक कि पुण्य पूरी तरह नष्ट न हो जाए। उस समय पृथ्वी के वासी नष्ट हो जाते हैं और उन लोगों से एक नया वंश चलता है जो पहाड़ों में बिखरे हुए हैं और अपने को कंदराओं में छिपाए हुए हैं और वे केवल आराधना के लिए एक हो जाते हैं और उस भयंकर, नारकीय मानवजाति से दूर भागते हैं। इसी कारण इस युग को 'कृत युग' कहा जाता है जिसका अर्थ है "कार्य-समाप्ति के पश्चात् चले जाने के लिए तत्पर रहना।"

कलियुग का वर्णन

शौनक की कथा में जो शुक्र ने ब्रह्मा से सुनी थी, ईश्वर ने उससे ये शब्द कहे थे : "जब कलियुग आता है तो मैं धर्मात्मा शुद्धोदन के पुत्र बुद्धोदन को जगत् में धर्म के प्रचार के लिए भेजता हूं। परंतु फिर 'मुहम्मिर' अर्थात् रक्तपटधारी जिनकी उत्पत्ति उससे हुई है उसकी लाई हुई हर चीज को बदल देंगे और ब्राह्मणों का यहां तक निरादर होगा कि शूद्र जो उनके सेवक हैं उनके साथ धृष्टता का व्यवहार करने लगेंगे···। विभिन्न जातियां एक-दूसरे के विरुद्ध उपद्रव करेंगी, वंशक्रम गड्डमड्ड हो जाएंगे और चारों वर्णों का लोप हो जाएगा और अनेकमत-मतांतरों का जन्म होगा···।"

['विष्णु-धर्म' और कुछ अन्य स्रोतों के आधार पर 'कलियुग' का वर्णन किया गया है। पृ० 380-82]

किन्तु अंत में युग की समाप्ति पर जब पाप की पराकाष्ठा हो चुकी होगी तब J.S.V. (?) का पुत्र गर्ग नामक ब्राह्मण आएगा अर्थात् कलि का आविर्भाव होगा जिस पर इस युग का नाम पड़ा है। उसके पास ऐसी शक्ति होगी जिसका कोई प्रतिरोध नहीं कर सकेगा और किसी भी अस्त्र के प्रयोग में वह इतना कुशल होगा कि कोई उसकी समता नहीं कर पाएगा। फिर वह अपनी तलवार निकाल कर हर उस चीज को जो पापमय है पुण्यमय बना देता है; धरती से लोगों की अपवित्रता धो देता है और पृथ्वी को पापियों से मुक्त कर देता है। वह धर्म-परायण और पुण्य लोगों को प्रजनन के लिए एकत्रित करता है। और फिर कृतयुग उससे कहीं पीछे छूट जाता है और वह समय आ जाता है जब पृथ्वी पवित्र हो जाती है, पुण्य और परम सुख फिर से आ जाते हैं।

युग जब परिक्रमा करते-करते चतुर्युग तक पहुंचते हैं तो उनकी यही सामान्य प्रक्रिया होती है।

'चरक' नामक पुस्तक के अनुसार आयुर्विज्ञान का मूल

'चरक' नामक पुस्तक में, जिसको तबारिस्तान-निवासी अली इब्न ज़ैन ने उद्धृत किया है, कहा गया है : "आदिम युग में पृथ्वी सदा उर्वरा और स्वस्थ रही थी और तत्वों या महाभूतों का उस समय समान मिश्रण था। मनुष्य एक-दूसरे के साथ प्रेम और सद्भाव से रहते थे। उनमें लोभ, लालसा, घृणा और द्वेष नहीं था और न ही कोई ऐसा दोष था जो आत्मा या शरीर को रोगग्रस्त कर देता। लेकिन फिर द्वेष आया और उसके साथ ही लोभ भी। लोभ से प्रेरित होकर वे संग्रह में प्रवृत्त हो गये जो ऐसा कार्य था जिसे कुछ लोग आसानी से कर सकते थे और कुछ को उसमें कठिनाई होती थी। सभी प्रकार के विचार, श्रम और चिंताएं आ गयीं जिन्होंने युद्ध, छल-कपट और झूठ को जन्म दिया। मनुष्यों के हृदय कठोर हो गये, उनके स्वभाव बदल गये और उन्हें रोग होने शुरू हो गये जिन्होंने उन्हें ऐसा दबोच लिया कि वे ईश्वर की आराधना की उपेक्षा करने लगे और विज्ञानादि को बढ़ाने से उनका दूर का भी वास्ता न रहा। अज्ञान ने अपनी जड़ें जमा लीं और विपदाएं बढ़ने लगीं। तब धर्म-परायण लोग अपने ऋषि कृप (?) के पास गए जो अत्रि का पुत्र था और उससे परामर्श किया; उसके बाद वह मनीषी पहाड़ पर चढ़ गया और उसने वहां से पृथ्वी पर छलांग लगा ली। उसके बाद ईश्वर ने उसे आयुर्विज्ञान की शिक्षा दी।"

[इसी प्रकार की यूनानी कथाएं उद्धृत की गयी हैं। पृ० 383-85]

चवालीसवां अध्याय

मन्वंतर

प्रत्येक मन्वंतर, उसके इंद्र और इंद्र की संतान

जिस प्रकार ब्रह्मा की आयु 72000 कल्प मानी जाती है उसी प्रकार मन्वंतर—मनु का काल—इंद्र की आयु मानी गयी है क्योंकि मन्वंतर के अंत में उसका राज्य समाप्त हो जाता है। उसके पद पर दूसरा इंद्र आसीन होता है जो नये मन्वंतर में संसार पर राज्य करता है···।

[एक सारणी दी गयी है जिसमें मन्वंतरों के नाम और संख्या (14) बतायी गयी है और 'विष्णु-पुराण', 'विष्णु-धर्म' तथा कुछ अन्य स्रोतों से इंद्र और मनु के नाम दिए गये हैं जिसने हर काल के आरंभ में पृथ्वी पर राज्य किया था। कुछ मन्वंतरों के नामों में जो भेद हैं उनकी व्याख्या करते हुए अल-बिरूनी ने हिन्दुओं के नामों को लेकर अत्यधिक चिंता पर टिप्पणी की है। उसने कहा है कि वे नामों में अधिक रुचि रखते हैं अपेक्षाकृत "उसके क्रम के जिसमें वे भावी पीढ़ियों के लिए अभिलेखबद्ध किए गये हैं।" पृ० 387-88]

पैंतालीसवां अध्याय

सप्तर्षि का तारामंडल

वशिष्ठ की पत्नी अरुंधती के संबंध में कथा

तारामंडल को भारतीय भाषा में 'सप्तर्षि' कहते हैं। कहा जाता है कि ये सब ऋषि थे और जो कुछ खाद्य था उसी से अपना पोषण करते थे और उनके साथ अल-सुहा नामक एक धर्मपरायण स्त्री थी (सप्तर्षि तारा 80×Z)। वे तालाबों से कमल के डंठल तोड़कर लाया करते थे। इतने में 'धर्म' का प्रादुर्भाव हुआ और वह उनसे छिपा ली गयी। उनमें से प्रत्येक को दूसरे से लज्जा महसूस होने लगी और उन्होंने शपथ ली जिसे धर्म ने अनुमोदन दे दिया। उनको सम्मानित करने के लिए धर्म ने उन्हें चढ़ाकर उस स्थान पर पहुंचा दिया जहां वे अब तक दिखाई देते हैं (एवमेव)।

[वराहमिहिर की पुस्तक 'संहिता' से सप्तर्षि का वर्णन उद्धृत किया गया है। सप्तर्षि की अवस्थिति के संबंध में कुछ भारतीय स्रोतों के कथन में जो अंतर है उसकी परीक्षा और आलोचना की गयी है। अल-बिरूनी ने एक आनुषंगिक किन्तु महत्वपूर्ण टिप्पणी की है कि 'हमारा समय' (उसके वृत्तांत के संकलन के समय अर्थात् 1030) शक संवत 952 के अनुरूप है। इससे शक संवत के सामंजस्य की पुष्टि होती है, पृ० 389-92। उसने इसी पर अपने निम्नलिखित विचार व्यक्त करके अध्याय को समाप्त किया।]

धर्मशास्त्रीय मतों और खगोलविज्ञान में गड़बड़

हमने यहां जिन त्रुटियों और भ्रांतियों का उद्घाटन किया है वे सबसे पहले तो इस कारण से पैदा होती हैं कि खगोलवैज्ञानिक शोधों में अपेक्षित कुशलता की कमी थी और दूसरा कारण यह था कि हिन्दू वैज्ञानिक प्रश्नों को धार्मिक कथाओं के साथ मिला देते थे। क्योंकि धर्मशास्त्रियों का विश्वास है कि सप्तर्षि का स्थान स्थिर नक्षत्रों से उच्चतर है और उनका कहना है कि हर मन्वंतर में एक नया मनु

आएगा जिसकी संतान पृथ्वी को नष्ट-भ्रष्ट कर देगी, लेकिन राज्य का प्रवर्तन इंद्र द्वारा ही किया जाएगा और साथ ही विभिन्न वर्गों के देवता और सात ऋषि प्रकट होंगे। देवताओं का होना आवश्यक है क्योंकि मनुष्य को उनके लिए यज्ञ करने होते हैं और उनके लिए अग्नि में आहुतियां देनी होती हैं; और सात ऋषियों की इसलिए आवश्यकता है कि वे ही वेद की पुनर्रचना करेंगे क्योंकि वह हर मन्वंतर के अंत में नष्ट हो जाता है।

विभिन्न मन्वंतरों में सात ऋषि

हमने इस विषय में जो जानकारी दी है उसका स्रोत 'विष्णु-पुराण' है। उसी स्रोत से हमने प्रत्येक मन्वंतर में सात ऋषियों के नाम भी ग्रहण किए हैं जो निम्न लिखित सारणी में दर्शाए गये हैं।

[एक सारणी दी गयी है जिसमें 14 मन्वंतरों में सप्तर्षि या तारामंडल के तारों को दर्शाया गया है। पृ० 394]

छियालीसवां अध्याय

नारायण, उसका विभिन्न युगों में अवतरण और उसके नाम

नारायण का स्वभाव

हिन्दुओं के मतानुसार नारायण एक अलौकिक शक्ति है जो सिद्धांत रूप में न तो किसी पुण्यात्मा से पुण्य करवाने का प्रयास करती है और न किसी पापात्मा से पाप, वल्कि वह तो उपलब्ध साधनों से ही अनिष्ट और विनाश को रोकती है। इस शक्ति के लिए पुण्य का अस्तित्व पाप से पहले ही रहता है किंतु यदि पुण्य का समुचित विकास नहीं होता या वह होता ही नहीं तो वह शक्ति पाप का ही आश्रय लेती है क्योंकि ऐसा करना अपरिहार्य है। इस प्रक्रिया में उसकी तुलना एक ऐसे घुड़सवार से की जा सकती है जो एक धान के खेत में पहुंच जाता है। जब उसे होश आता है और वह दुष्कर्म करने से वचना चाहता है और अपने किए का प्रायश्चित करना चाहता है तो उसके पास इसके सिवाय कोई चारा नहीं होता कि वह अपने घोड़े को लौटाए और उसी रास्ते से वापस जाए जिससे वह खेत में पहुंचा था हालांकि लौटते में वह वही शरारत फिर करेगा जो उसने खेत में प्रवेश करते समय की थी, वल्कि कुछ अधिक ही। लेकिन उसके लिए अपने को सुधारने का कोई अन्य मार्ग संभव ही नहीं होता।

हिन्दू इस शक्ति और अपने दर्शन के 'आदि कारण' में कोई भेद नहीं करते। संसार में इसका निवास इस प्रकार का है कि लोग उसकी तुलना भौतिक अस्तित्व से करते हैं—उसमें शरीर और वर्ण का आरोपण कर देते हैं क्योंकि वे अवतार की किसी अन्य रूप में कल्पना ही नहीं कर सकते।

अन्य युगों के अलावा नारायण ने पहले मन्वंतर के अंत में भी अवतार ग्रहण किया था। इस अवतार का उद्देश्य सभी लोकों का राज्य वलखिल्य (?) से लेना था जिसने उसे यह नाम दिया था और वह उस राज्य को अपने हाथ में लेना चाहता था। नारायण अवतरित हुआ और उसने वह राज्य सतक्रतु को सौंप दिया

जिसने सौ यज्ञ पूरे कर लिये थे और उसे इंद्र का पद प्रदान कर दिया।

[नारायण के छठे मन्वंतर में फिर से अवतरित होने और विरोचन के पुत्र वलि का वध करने की कथा वर्णित की गयी है। पृ० 396-98]

उसी पुस्तक 'विष्णु-पुराण' में हमें एक और अवतरण मिलता है: "विष्णु, जो नारायण ही का दूसरा नाम है, हर द्वापर के अंत में वेद को चार भागों में विभक्त करने के लिए अवतार ग्रहण करता है क्योंकि मनुष्य दुर्वल होते हैं और समस्त वेद का पालन करने में असमर्थ हैं। उसका मुख व्यास से मिलता-जुलता है।"

[सातवें मन्वंतर के व्यासों के नाम गिनाए गये हैं। पृ० 398-99]

सैंतालीसवां अध्याय

वासुदेव और भारत युद्ध

संसार का जीवन बीज-वपन और प्रजनन पर निर्भर है। ये दोनों प्रक्रियाएं समय के साथ-साथ बढ़ती जाती हैं और इनकी कोई सीमा नहीं होती जबकि संसार सीमित होता है।

प्रकृति के नियमों और मानव इतिहास में सादृश्य

जब किसी जाति के पौधों या जंतुओं की संरचना में कोई वृद्धि नहीं होती और वे एक विशिष्ट प्रजाति के रूप में स्थिर हो जाते हैं, जब उनमें से प्रत्येक व्यक्ति केवल इतना ही नहीं कि जन्म लेता और मृत्यु को प्राप्त हो जाता है बल्कि अपने ही जैसे एक या अनेक प्राणियों को जन्म देता है और यह एक बार नहीं, कई बार करता है तो पौधों या जंतुओं की यह एकल प्रजाति पृथ्वी पर बनी रहती है और अपना तथा अपनी प्रजाति का जितने क्षेत्र में संभव हो प्रसार करती है।

कृषक अपना धान्य चुनता है और उतनी ही मात्रा में उसे उपजाता है जितने की उसे आवश्यकता होती है, शेष को उखाड़ फेंकता है। वनपाल वृक्षों की उन शाखाओं को छोड़ देता है जिन्हें वह श्रेष्ठ समझता है और शेष सभी को काट डालता है। मधुमक्खियां अपनी ही संतति की उन मक्खियों को मार डालती हैं जो केवल खाना जानती हैं, छत्तावानी का काम नहीं करतीं।

प्रकृति का भी यही क्रम है, लेकिन उसके यहां कोई भेदभाव नहीं होता क्योंकि उसकी कार्रवाई सभी परिस्थितियों में एक जैसी होती है। वह वृक्षों के पत्तों और फलों को नष्ट होने देती है और इस प्रकार उन्हें उस परिणाम से अवगत नहीं होने देती जो प्रकृति के विधान में उन्हें उत्पन्न करना होता है। वह उन्हें दूर कर देती है ताकि दूसरों को उनका स्थान मिल सके।

इस प्रकार यदि पृथ्वी पर निवासियों की संख्या अत्यधिक होने के कारण वह नष्ट हो जाती है या नष्टप्राय हो जाती है तो उसका नियामक—क्योंकि उसका

एक नियंता होता है जो पृथ्वी के एक-एक कण में व्याप्त है—पृथ्वी पर अपना दूत भेजता है जो यहां के निवासियों की संख्या को कम करता है और समस्त पापियों का नाश कर देता है।

वासुदेव के जन्म की कथा

हिन्दुओं का विश्वास है कि इस प्रकार का दूत वासुदेव है जिसे पिछले युग में मानव योनि में पृथ्वी पर भेजा गया था और उसे वासुदेव के नाम से पुकारा जाता है। यह वह युग था जब पृथ्वी पर दानवों की भरमार थी और समस्त पृथ्वी उन से त्रस्त थी; उनकी विशाल संख्या के भार से दबी वह डांवाडोल हो रही थी और जब वे उस पर पग धरते थे तो वह कांप जाती थी। तब मथुरा नगरी में कंस की बहन से वसुदेव का एक पुत्र जन्मा। कंस उस समय नगर का राजा था। वसुदेव जाति का जाट था। जाट पशु पालते थे और शूद्रों की एक निम्न जाति के लोग थे। कंस ने अपनी बहन के विवाह के समय आकाशवाणी सुनी थी कि उसकी मृत्यु उसके (बहन के) पुत्र के हाथों होगी। इसलिए उसने कुछ लोग इस काम के लिए नियुक्त कर दिए जो उसके हरेक पुत्र को उसके पास ले आएं और उसने उसके सभी बच्चों को मार डाला···। अंत में उसने बलभद्र को जन्म दिया और नंद नामक ग्वाले की पत्नी यशोदा बालक को उठाकर अपने घर ले गयी···। तत्पश्चात् वह आठवीं बार गर्भवती हुई और उसने भाद्रपद मास के कृष्ण पक्ष के आठवें दिन जबकि रात्रि को वर्षा हो रही थी वासुदेव को जन्म दिया। जब पहरेदार गहरी निद्रा में मग्न थे···पिता बालक को चुपके से उठाकर नंदकुल अर्थात् यशोदा के पति नंद की गोशाला में ले गया जो मथुरा के निकट थी। वासुदेव का लालन-पालन उसकी धात्री यशोदा ने किया और उसे यह मालूम ही न हुआ कि वह उसकी कन्या के बदले लाया गया था···। लेकिन कंस को इस बात का किसी तरह पता चल गया···।

[कौरवों और पांडवों के बीच हुए युद्ध का वर्णन निम्नलिखित है :]

पांडु के पुत्र पांडवों की देखभाल, जो कुरु-पुत्र कौरवों (अर्थात् धृतराष्ट्र) के चचेरे भाई थे, कौरव करते थे। धृतराष्ट्र ने उन्हें बुलाया और उनके साथ जुआ खेला। जुए में अंतिम दाव पर उनकी समस्त संपत्ति लगा दी गयी। पांडव जुए में लगातार हारते चले गये और नौबत यहां तक पहुंची कि एक दाव इस शर्त पर लगाया गया कि यदि पांडव हार गये तो उन्हें दस वर्ष से अधिक का वनवास ग्रहण करना होगा और उसके अलावा उन्हें देश के किसी दूरस्थ भाग में अज्ञातवास में रहना होगा जहां उन्हें कोई न जानता हो। यदि वे अज्ञातवास की शर्त पूरी न कर पाए तो उन्हें उतने ही वर्षों का फिर वनवास लेना होगा। यह शर्त पूरी हो गयी। लेकिन अंत में वह समय आया जब उन्हें युद्ध के लिए तैयार होना पड़ा। अब

तो हर पक्ष ने अपने-अपने समर्थकों को एकत्र करना और मित्रों को तलाश करना शुरू किया और अंत में थानेश्वर के मैदान में असंख्य योद्धा एकत्रित हो गये। वहां अठारह अक्षौहिणी सेना थी। प्रत्येक पक्ष ने वासुदेव को अपनी ओर लेना चाहा। जिस पर उसने यह शर्त रखी कि हर पक्ष या तो उसी को ले ले या उसके भाई बलभद्र को और उसकी सेना को ले ले। लेकिन पांडवों ने उसे ही लिया। पांडव पांच थे; युधिष्ठिर जो उनका नेता था, अर्जुन जो सबसे पराक्रमी था, सहदेव, भीमसेन और नकुल। उनके पास सात अक्षौहिणी सेना थी जबकि उनके शत्रुओं के पास उससे कहीं अधिक सैन्य शक्ति थी। लेकिन यदि उनके साथ वासुदेव की कुटिल चालें और उसकी शिक्षा जो उन्हें विजय की ओर ले जा सकती थी, न होती तो उनकी स्थिति शत्रुओं के मुकाबले मे बहुत बुरी होती। लेकिन अंत में जीत उन्हीं की हुई। कौरवों की सारी सेना नष्ट हो गयी और अंत में पांच भाईयों के अलावा कोई जीवित न बचा। उसके बाद वासुदेव अपने निवास पर चला गया और उसकी अपने समस्त परिवार के साथ जो यादव कहलाते थे मृत्यु हो गयी। पांचों भाई भी वर्ष की समाप्ति के पहले ही मर गये।

[अल-बिरूनी ने वासुदेव और पांडवों के अंत केबारे में कुछ और घटनाओं का उल्लेख किया है। वासुदेव के भाइयों और रिश्तेदारों में से एक अपने कपड़ों के नीचे कढ़ाई छिपाकर दुर्वासा नामक ऋषि के पास गया और उससे पूछा मेरे गर्भ से क्या उत्पन्न होगा। ऋषि उसके इस उपहास पर क्रुद्ध हुआ और उसने कहा कि तेरे पेट के अंदर जो चीज है वह तेरी और तेरे वंश की मृत्यु का कारण बनेगी। वासुदेव ने जो यह जानता था कि वह शाप सच्चा सिद्ध होगा कढ़ाई को तुड़वाकर नदी में फिकवा दिया। उसका एक छोटा टुकड़ा एक मछली खा गयी और मछुए ने जिसने उसे पकड़कर काटा था उस टुकड़े से तीर की एक नोक बनवाई। इसी तीर से मछुए ने वासुदेव को अपना निशाना बनाया जो एक पेड़ के नीचे आलथी-पालथी मारे बैठा था। मछुए ने उसे हिरन समझकर उस पर तीर चला दिया। कढ़ाई के दूसरे टुकड़ों से 'बरदी' नामक एक झाड़ी उग आई थी। जब यादव उसके निकट पहुंचे और मदिरा पान करने लगे तो उनमें झगड़ा हो गया और उन्होंने एक-दूसरे को बरदी के डंठलों से मार डाला। अर्जुन को, जिसे वासुदेव ने आज्ञा दी थी कि तुम मेरे शरीर को जला देना और स्त्रियों को ले जाना, रास्ते में डाकुओं ने घेर लिया। यद्यपि उसने उन्हें मार भगाया किन्तु साथ ही उसने यह महसूस किया कि उसकी शक्ति जवाब दे रही है। इसलिए वह अपने भाइयों के साथ उत्तर की ओर पहाड़ों पर चला गया। वहां की सर्दी से वे एक के बाद दूसरा सभी मर गये। पृ० 404-06]

अड़तालीसवां अध्याय

अक्षौहिणी की परिमाण-संबंधी व्याख्या

एक अक्षौहिणी में 10 अंतकिनियां होती हैं।

एक अंतकिनी में 3 चमू होते हैं।

एक चमू में 3 पृतना होते हैं।

एक पृतना में 3 वाहिनियां होती हैं।

एक वाहिनी में 3 गण होते हैं।

एक गण में 3 गुल्म होते हैं।

एक गुल्म में 3 सेनामुख होते हैं।

एक सेनामुख में 3 पंक्ति होती हैं।

एक पंक्ति में 1 रथ होता है।

शतरंज के हाथी को 'रुख' कहते हैं जबकि यूनानी इसे 'युद्ध-रथ' कहते हैं। इसका आविष्कार एथेंस में 'मनकालुस' (मिर्तिलोस) ने किया था और एथेंस-वासियों का कहना है कि सबसे पहले युद्ध के रथों पर वे ही सवार हुए थे। लेकिन उस समय के पहले उनका आविष्कार एफ्रोडिसियास(एवमेव) हिन्दू कर चुका था, जब महाप्रलय के लगभग 900 वर्ष बाद मिस्र पर उसका राज्य था। उन रथों को दो घोड़े खींचते थे···।

रथ में एक हाथी, तीन सवार और पांच प्यादे होते हैं।

युद्ध की तैयारी, तंबू तानने और तंबू उखाड़ने के लिए उपर्युक्त सभी की आवश्यकता होती है।

एक अक्षौहिणी में 21,870 रथ, 21,870 हाथी, 65,610 सवार और 109,350 पैदल सैनिक होते हैं।

हरेक रथ में चार घोड़े और उनका सारथी होता है जो वाणों से सुसज्जित होता है, उसके दो साथियों के पास भाले होते हैं और एक रक्षक होता है जो पीछे से सारथी की रक्षा करता है और एक गाड़ीवान होता है।

हर हाथी पर उसका हाथीवान बैठता है और उसके पीछे उसका सहायक जो कुर्सी के पीछे से हाथी को अंकुश लगाता है; कुर्सी में उसका मालिक धनुष-वाण से सज्जित होता है और उसके साथ उसके दो साथी होते हैं जो भाले फेंकते हैं और उसका विदूषक होहवा (?) होता है जो युद्ध से इतर अवसरों पर उसके आगे चलता है।

तदनुसार जो लोग रथों और हाथियों पर सवार होते हैं उनकी संख्या 284,323 होती है (एवमेव)। जो लोग घुड़सवार होते हैं उनकी संख्या 87,480 होती है। एक अक्षौहिणी में हाथियों की संख्या 21,870 होती है, रथों की संख्या भी 21,870 होती है, घोड़ों की संख्या 153,090 और मनुष्यों की संख्या 459,283 होती है।

एक अक्षौहिणी में समस्त जीवधारियों—हाथियों, घोड़ों और मनुष्यों—की कुल संख्या 634,243 होती है। अठारह अक्षौहिणियों के लिए यही संख्या 11,416,374 हो जाती है अर्थात् 393,660 हाथी, 2,755,620 घोड़े, 8,267,094 मनुष्य।

यह अक्षौहिणी और उसके विभिन्न अंगों की व्याख्या है।

उनचासवां अध्याय

संवतों का संक्षिप्त विवरण

हिन्दुओं के कुछ संवतों की गणना

इतिहास अथवा खगोल-शास्त्र में उल्लिखित कुछ निर्देश-क्षणों को स्थिर करने में संवतों का उपयोग किया जाता है। हिन्दू बड़ी-बड़ी संख्याओं को गिनने से उकताहट महसूस नहीं करते, बल्कि इसके विपरीत उन्हें ऐसा करने में आनंद आता है। लेकिन इसके बावजूद व्यवहार में वे इन्हीं संख्याओं को छोटा (सुविधाजनक) करने पर विवश हो जाते हैं।

उनके संवतों में हम निम्नलिखित को गिनवाते हैं :

1. ब्रह्मा के अस्तित्व का आरंभ।
2. ब्रह्मा के वर्तमान अहर्निश के दिन का प्रारंभ अर्थात् 'कल्प' का आरंभ।
3. सातवें मन्वंतर का आरंभ जिसमें हम इस समय हैं।
4. अट्ठाइसवें चतुर्युग का आरंभ जिसमें हम इस समय हैं।
5. वर्तमान चतुर्युग के चौथे युग का आरंभ जिसे 'कलि-काल' कहते हैं। यह पूरा युग कलि के नाम पर है, हालांकि यदि ठीक-ठीक हिसाब लगाया जाए तो कलि का काल इस युग के अंतिम भाग में ही पड़ता है। इसके बावजूद 'कलिकाल' से हिन्दुओं का अभिप्राय 'कलियुग' के आरंभ से है।
6. 'पांडव-काल' अर्थात् महाभारत युद्ध का समय और उसकी अवधि।

ये सभी संवत प्राचीनता में अपने को एक-दूसरे से बढ़कर मानते हैं और हरेक अपना आरंभ दूसरे से कहीं पहले बताता है और उनमें परस्पर जितने वर्षों का अंतर है वह सैकड़ों, हज़ारों बल्कि इससे भी ऊपर जाता है। यही कारण है कि न केवल खगोलशास्त्री बल्कि दूसरे लोग भी उनको इस्तेमाल करना न केवल उकताहटपूर्ण बल्कि अव्यावहारिक मानते हैं।

लेखक ने 'यज्दजिर्द' के वर्ष 400 को परीक्षण-वर्ष माना है

इन संवतों की स्थूल जानकारी देने के उद्देश्य से हम पहला मापक या तुलना-

विंदु हिन्दू वर्ष दर्शाएंगे जिसका अधिकांश भाग 'यज़्दजिर्द' के वर्ष 400 से मेल खाता है। इस वर्ष में केवल सैकड़ा शामिल है, दहाई और इकाई नहीं और इसी विशेषता के कारण यह दूसरे वर्षों से भिन्न है और इसलिए इसका चयन किया जा सकता है। इसके अलावा यह समय भी वड़ा स्मरणीय है क्योंकि इसी युग के लगभग एक वर्ष पूर्व धर्म के सवसे प्रवल स्तंभ का भंजन हुआ था, इसी समय महमूद 'जगत-केसरी' की मृत्यु हो गयी थी जो अपने समय का एक आश्चर्य था—खुदा उस पर अपना रहम करे! हिन्दू वर्ष नौरोज़ या इस वर्ष के नव-दिवस से केवल वारह दिन पहले आता है और वादशाह का निधन इसी के ठीक दस पूरे फ़ारसी महीनों के पहले हुआ था।

अव यह मानते हुए कि हमारा यह अनुमान ठीक है, हम इस काल-संधि के लिए वर्षों की गणना करेंगे जो इसी के तदनुरूपी हिन्दू वर्ष का प्रारंभ है, क्योंकि उन सभी वर्षों का अंत जो संदेहास्पद है इसी के साथ होता है और 'यज़्दजिर्द' के वर्ष 400 का नौरोज़ इसके कुछ ही (वारह दिन) वाद पड़ता है।

[अल-विरूनी ने विभिन्न भारतीय धर्म-ग्रंथों और वैज्ञानिक निवंधों से लिये उद्धरणों के आधार पर निम्नलिखित की गणना की है: (क) ब्रह्मा की कितनी आयु वीत चुकी है, (ख) राम का काल, और (ग) वर्तमान कलियुग का कितना समय वीत चुका है।

उसने निम्नलिखित अधिक महत्वपूर्ण और प्रचलित युगों की भी संक्षेप में व्याख्या प्रस्तुत की है जो (1) श्री हर्ष, (2) विक्रमादित्य, (3) शक, (4) वल्लभ, और (5) गुप्त काल के माने जाते है। पृ० 2-5]

श्री हर्ष का काल

श्री हर्ष के संवंध में हिन्दुओं का यह विश्वास है कि वह यह देखने के लिए धरती की परीक्षा करता था कि सातवीं पृथ्वी तक जो तल हैं उनके नीचे कितनी निधि छिपी हुई है। वे यह भी मानते हैं कि उसे वे निधियां मिल भी गयी थीं और उसी के फलस्वरूप उसने अपनी प्रजा का (कर इत्यादि लगाकर) उत्पीड़न करना वंद कर दिया था। उसके काल का प्रयोग मथुरा और कन्नौज प्रदेश में किया जाता है। श्री हर्ष और विक्रमादित्य के काल में 400 वर्षों का अंतराल है और यह वात मुझे उस क्षेत्र के निवासियों ही ने वताई है। लेकिन कश्मीरी पंचांग में मैंने पढ़ा है कि श्री हर्ष विक्रमादित्य के 664 वर्ष वाद हुआ था। इसी असंगति के कारण मन में जो अनिश्चय है वह अभी तक किसी विश्वस्त जानकारी के न मिलने के कारण दूर नहीं हो पाया है।

विक्रमी संवत्

जो लोग विक्रमी संवत् का प्रयोग करते हैं वे भारत के दक्षिणी और पश्चिमी प्रदेशों में रहते हैं। इसका प्रयोग इस प्रकार किया जाता है: 342 को 3 से गुणा किया जाता है जिसका गुणनफल आता है 1,026। इस संख्या में आप वर्तमान शष्ट्याब्द के वे वर्ष जो बीत चुके हैं या 'षाष्ठिक संवत्सर' को जोड़ दीजिए और उसका जो जोड़ होगा वही विक्रमी संवत् का तदनुरूपी वर्ष होगा···।

शक-काल

शक संवत् का निर्देश-क्षण या शककाल विक्रमादित्य के 135 वर्ष बाद पड़ता है। यहां जिस शक का उल्लेख हुआ है उसने सिंधु नदी और महासागर के बीच उनके देश पर इस राज्य के बीच में आर्यावर्त को अपना निवास-स्थान बनाने के बाद निरंकुश शासन किया। उसने हिन्दुओं का स्वयं को शक से इतर मानना और प्रकट करना निषिद्ध कर दिया। कुछ लोगों का विचार है कि वह अलमंसूरा का शूद्र था; दूसरों का मत है कि वह हिन्दू था ही नहीं और वह पश्चिम से भारत में आया था। हिन्दुओं को उसके कारण बड़े कष्ट झेलने पड़े। अंत में जाकर उन्हें पूर्व से मदद मिली जब विकमादित्य ने उस पर चढ़ाई की, उससे युद्ध किया और उसे करूर के प्रदेश में जो मुल्तान और लोनी के किले के बीच में स्थित है उसका वध कर दिया। तब से यह तिथि प्रसिद्ध हो गयी, क्योंकि लोगों ने उस अत्याचारी के वध का समाचार पाकर खुशियां मनाईं और इस तिथि को विशेषतः खगोलविज्ञानियों ने एक युग का निर्देश-क्षण मान लिया। लोग विजेता के सम्मान-स्वरूप उसके नाम के पहले 'श्री' जोड़ कर उसे श्री विक्रमादित्य कहते हैं। चूंकि विक्रमादित्य के संवत् और शक के वध के बीच एक दीर्घ अंतराल है, हमारा विचार है कि विक्रमादित्य जिसके नाम पर संवत् का नाम पड़ा है वह नहीं है जिसने शक को मारा था बल्कि उसका कोई समनाम होगा।

वल्लभ संवत्

वल्लभ संवत् वल्लभ के नाम से चला है जो वल्लभी नामक नगर का राजा था। वल्लभी अनहिलवाड़ा के दक्षिण में लगभग 30 योजन की दूरी पर स्थित है। इस काल का निर्देश-क्षण शक संवत् के निर्देश-क्षण के 241 वर्ष बाद आता है। लोग इसे इसी रूप में प्रयुक्त करते हैं। पहले तो वे शक-काल का वर्ष लेते हैं और उसमें से 6 का घन और 5 का वर्ग $(216+25=241)$ घटा देते हैं। उसमें जो शेष रहता है वही वल्लभ-काल का वर्ष होता है। वल्लभ का इतिहास उसके उपयुक्त स्थान पर वर्णित है (दे० सतरहवां अध्याय)।

गुप्त काल

जहां तक गुप्त काल का संबंध है, लोगों का कहना है कि गुप्त दुष्ट और शक्तिशाली लोग थे और जब वे नष्ट हो गये तो इसी तिथि को एक संवत् का निर्देश-क्षण माना जाने लगा। ऐसा लगता है कि गुप्तों में अंतिम वल्लभ ही रहा होगा क्योंकि गुप्तों के संवत् का निर्देश-क्षण वल्लभ संवत् की ही तरह पड़ता है, अर्थात् शक-काल के 241 वर्ष बाद।

खगोलविज्ञानियों का संवत्

खगोलविज्ञानियों का संवत् शक-काल से 587 वर्ष बाद शुरू होता है। इसी संवत् पर ब्रह्मगुप्त का 'खांडखाद्यक' सिद्धांत आधारित है जो मुसलमानों में 'अल-अरकंद' नाम से विख्यात है।

शताब्दी या संवत्सर द्वारा काल-निर्धारण की पद्धति

भारत की साधारण जनता एक शताब्दी के वर्षों के आधार पर काल-निर्धारण करती है जिसे वे 'संवत्सर' कहते हैं। जब शताब्दी समाप्त हो जाती है तो वे उसे छोड़ देते हैं और नयी शताब्दी से काल-निर्धारण शुरू कर देते हैं। इस काल को 'लोक काल' अर्थात् समस्त राष्ट्र का काल कहा जाता है। लेकिन इसी काल के बारे में लोग ऐसी भिन्न-भिन्न बातें करते हैं कि मेरी समझ ही में नहीं आता कि सच्चाई तक कैसे पहुंचा जाए। इसी प्रकार वर्ष के आरंभ के बारे में भी उनमें आपस में काफी मतभेद है। बाद के विषय पर मैंने जो कुछ सुना है वह बताता हूं और आशा करता हूं कि एक दिन जरूर आएगा जब हम इस उलझन से उबरेंगे और कोई व्यवस्था खोज लेंगे।

[वर्षों के विभिन्न आरंभ दिए गये हैं जो देश के विभिन्न भागों में प्रचलित हैं। पृ० 8-9]

हिन्दुओं में प्रचलित काल-निर्धारण की लोकप्रिय पद्धति और उसकी आलोचना

इस अध्याय में जो जानकारी दी गयी है उसकी अपूर्णता के संबंध में मैं पहले ही सफाई पेश कर चुका हूं। हम कालों का ठीक-ठीक और वैज्ञानिक विवरण जो इस अध्याय का विषय है इसलिए प्रस्तुत नहीं कर सकते क्योंकि उन युगों में हमें वे कालावधियां भी शामिल करनी हैं जो एक शताब्दी से कहीं लंबी है और सौ वर्ष से आगे का सारा घटना-चक्र बहुत ही अस्त-व्यस्त है।

काबुल के शाहों के वंश का मूल

हिन्दुओं में ऐसे राजा भी हुए हैं जो काबुल में रहते थे; वे तुर्क थे जिनके बारे

में कहा जाता है कि वे मूलतः तिब्बती थे। उनमें सबसे पहला बरहातकिन था जो उस देश में आया और काबुल की एक गुफा में घुस गया जिसमें केवल वही प्रवेश कर सकता था जो हाथ और घुटनों के बल रेंग कर चल सकता हो। गुफा में पानी था और साथ ही उसने कुछ दिन की खाद्य सामग्री भी अपने साथ रख ली थी। वह गुफा हमारे समय में भी प्रसिद्ध है और उसे 'वर' कहते हैं। जो लोग बरहातकिन का नाम लेना शुभ मानते हैं वे उस गुफा में प्रवेश करते हैं और बड़ी मुश्किल से उसका पानी लेकर आते हैं।

किसानों के कुछ दल गुफा के द्वार पर काम कर रहे थे। इस प्रकार का छल-बल तभी सफल होता है और उसे ख्याति भी मिल जाती है जब उसके प्रवर्तक ने किसी अन्य व्यक्ति के साथ बल्कि अपने अभिषंगी के साथ कोई गुप्त कार्रवाई की हो। इन चालों ने लोगों को आकृष्ट किया और वे वहां दिन-रात काम करने लगे ताकि वह स्थान कभी निर्जन न रहे।

गुफा में प्रवेश करने के कुछ दिनों के बाद उसने लोगों की उपस्थिति मे जो उसे नवजात बालक समझते थे वहां से रेंगकर बाहर आना शुरू किया। वह तुर्की वेशभूषा पहने हुए था : *एक छोटा कुरता जो आगे से खुला हुआ था,* एक ऊंची टोपी, बूट और अस्त्र। अब क्या था, लोग उसे ऐसा चमत्कारी जीव समझकर सम्मान करने लगे जिसके भाग्य में राजा होना लिखा है और तथ्य भी यही है कि उसने उन सब देशों को अपने अधीन कर लिया और 'काबुल का शाहिया' उपाधि ग्रहण करके उन पर शासन किया। यह राज्य उसके उत्तराधिकारियों के पास पीढ़ियों तक रहा और इन पीढ़ियों की संख्या लगभग साठ बताई गयी है।

दुर्भाग्य की बात है कि हिन्दू इस प्रकार की घटनाओं के ऐतिहासिक क्रम की ओर अधिक ध्यान नहीं देते। वे अपने राजाओं के कालक्रम के संबंध में बड़ी लापरवाही बरतते हैं और जब उनसे किसी सूचना के लिए आग्रह किया जाता है और उन्हें जवाब देते नहीं बनता तो वे प्रायः किस्से-कहानियां सुनाने लगते हैं। लेकिन इसके लिए हम अपने पाठकों को वह कथा बताते हैं जो हमने उन्ही में से कुछ लोगों से सुनी है। मुझे पता चला है कि इस राजघराने की वंशावली जो रेशम पर लिखी हुई है नागरकोट के किले में आज भी मौजूद है और मैंने बहुत चाहा कि उसे देख लूं, लेकिन विभिन्न कारणों से ऐसा संभव नहीं हो पाया।

[इसके बाद वह कहानी आती है जिसमें इस राजवंश का एक शासक कणिक, "जिसने पुरुश्वर का 'विहार' बनवाया था", किस प्रकार गिरफ्तार किया गया और अपने ही मंत्री द्वारा अपदस्थ कर दिया गया। 'उसके बाद' ब्राह्मण राजाओं ने राज्य किया।]

तिब्बती राजवंश का अंत और ब्राह्मण राजवंश का उद्गम

इस वंश का अंतिम राजा 'लागातुरमन' था जिसका मंत्री कल्लर एक ब्राह्मण था। मंत्री बड़ा भाग्यशाली था क्योंकि उसे संयोग से कुछ छिपा हुआ खजाना मिल गया था जिससे उसे न केवल बहुत शक्ति मिली वल्कि उसकी दूर-दूर तक ख्याति फैल गयी। परिणाम यह हुआ कि तिब्बती घराने के इस अंतिम राजा के हाथ से वही सत्ता जो इतने दीर्घ काल तक उसके पास रही धीरे-धीरे जाती रही। इसके अलावा लागातुरमन अशिष्ट था और उसका व्यवहार भी बहुत बुरा था और इसी कारण से उसकी प्रजा ने उसके वजीर से बहुत-सी शिकायतें कीं। तव वजीर ने उसे वेड़ियां पहना दीं और उसको सुधारने के लिए कैदखाने में डाल दिया। लेकिन अव वजीर को भी सत्ता का चस्का लग गया, उसके पास अपार संपत्ति आ गयी जिसकी मदद से वह अपनी योजना को कार्यान्वित करने में समर्थ हो गया और अंत में शासन की वागडोर अपने हाथों में ले ली। उसके वाद ब्राह्मण राजाओं—सामंत[36], कमलू, भीम, जयपाल, आनंदपाल, त्रिलोचनपाल ने राज्य किया। त्रिलोचनपाल 412 हिजरी (1021 ईसवी) में मारा गया और उसका पुत्र भीमपाल पांच वर्ष वाद (1026 ई० में) मार डाला गया।

हिन्दू शाहिया वंश का अव लोप हो चुका है और उस समस्त घराने में किसी का कोई नाम-निशान भी शेप नहीं है। हमें यह मानना पड़ेगा कि इतने वैभव-शाली होते हुए भी उनकी हर उस काम को करने की प्रवल इच्छा कभी कम नहीं हुई जो अच्छा और उचित था और उनके विचार वड़े उदात्त तथा उनका व्यवहार वड़ा सौम्य रहा था। मुझे अनंगपाल के एक पत्र के निम्नलिखित उद्धरण वहुत पसंद हैं जो उसने शाह महमूद को उस समय लिखा था जव उनके आपसी संवंध काफी हद तक विगड़ चुके थे : "मुझे मालूम हुआ है कि तुर्कों ने आपके खिलाफ वगावत कर दी है और वे खुरासान तक वढ़ आए हैं। यदि आप चाहें तो मैं 5000 घुड़सवार, 10,000 पैदल सिपाही और 100 हाथी लेकर आपकी सहायता के लिए आ सकता हूं या यदि आप चाहें तो मैं अपने पुत्र को इससे दुगुनी सेना लेकर आपके पास भेज सकता हूं। इस प्रकार की सहायता का प्रस्ताव रखते हुए मैं नहीं जानता, आपके मन पर क्या प्रभाव पड़ेगा। मैं आपसे परास्त हो चुका हूं और इसलिए मैं यह नहीं चाहता कि कोई दूसरा आपको परास्त कर दे।"

यही वह राजा था जिसे मुसलमानों से उस समय से घृणा थी जव उसके पुत्र को वंदी वनाया गया था, लेकिन उसी का पुत्र त्रिलोचनपाल पिता के विलकुल विपरीत था।

पचासवां अध्याय

एक 'कल्प' और एक 'चतुर्युग' में कितने तारा-चक्र होते हैं

'कल्प' की एक शर्त यह होती है कि उसमें ग्रहों को अपने चक्रों और पातों सहित मेष के अर्थात् महा-विषुव के विन्दु पर 0^0 में मिलना चाहिए। इसलिए प्रत्येक ग्रह एक कल्प के भीतर एक निश्चित संख्या में पूर्ण परिक्रम या चक्र लगाता है।

अलफजरी और याकूव इब्न तारिक़ की परंपरा

ये तारा-चक्र जिन्हें अल-फजरी और याकूब इब्न तारिक़ का सिद्धांत कहा जाता है एक हिन्दू से प्राप्त किए गये थे जो सिंध द्वारा खलीफ़ा अल-मंसूर को 154 हिजरी (771 ई०) में भेजे गये राजनीतिक शिष्टमंडल के सदस्य के रूप में बगदाद आया था। यदि हम इन गौण कथनों की तुलना हिन्दुओं के मुख्य कथनों से करें तो इनमें असंगतियां मिलती हैं और इन असंगतियों का कारण मुझे ज्ञात नहीं। क्या उनका स्रोत अलफजरी और याकूब के अनुवाद तो नहीं? या यह भी हो सकता है कि कालांतर में इन्हीं गणनाओं में ब्रह्मगुप्त या अन्य किसी ने संशोधन किए हों।

सरख्स-निवासी मुहम्मद इब्न इसहाक

क्योंकि यह निश्चित है कि यदि किसी भी अध्येता को खगोलवैज्ञानिक गणनाओं में कोई त्रुटियां नजर आती हैं और उसे विषय में रुचि है तो वह उन्हें सुधारने का प्रयत्न करता है; उदाहरण के लिए सरख्स-निवासी मुहम्मद इब्न इसहाक ने ऐसा ही किया है...।

ब्रह्मगुप्त द्वारा आर्यभट्ट का उद्धरण

ब्रह्मगुप्त ने चंद्रमा के चक्रों और पातों के संबंध में एक भिन्न सिद्धांत प्रस्तुत किया है जिसका आधार आर्यभट्ट है। हम यहां ब्रह्मगुप्त का ही उद्धरण दे रहे हैं

क्योंकि हम आर्यभट्ट का मूल ग्रंथ नहीं देख पाए हैं, हमें यह तथ्य ब्रह्मगुप्त की पुस्तक के एक उद्धरण में मिला है।

[एक सारणी दी गयी है जिसमें ग्रहों के नाम, एक कल्प में उनके परिक्रम की संख्या और उनके चक्रों और पातों के परिक्रमों की संख्या दर्शाई गयी है। पृ० 16]

अरबों में 'आर्यभट्ट' शब्द में परिवर्तन

…'अल-फजरी और याकूब ने अपने हिन्दू गुरु से इस संबंध में कभी सुना होगा कि तारा-चक्रों के बारे में उसकी गणना 'महा सिद्धांत' पर आधारित है जबकि आर्यभट्ट ने उसके हजारवें भाग को विश्वस्त माना है।

स्पष्ट है कि वे उसे ठीक से नहीं समझ पाए और उन्होंने यह कल्पना कर ली कि 'आर्यभट्ट' (अरब, 'अर्जभाद') का अर्थ है हजारवां भाग। हिन्दू इस शब्द के वर्ण 'द' का उच्चारण 'ड' और 'र' के बीच में करते हैं। अतः यही व्यंजन बदल कर 'र' हो गया और लोगों ने 'अर्जभार' लिख दिया। आगे चलकर यह और विकृत हो गया और पहला 'र' बदलकर 'ज' बन गया और लोगों ने उसे 'अजजा-भार' लिख दिया। यदि यही शब्द इसी रूप में लौटकर हिन्दुओं तक जाए तो शायद वे इसे पहचान भी न सकें…।

इक्यावनवां अध्याय

'अधिमास', 'ऊनरात्र' और 'अहर्गण' शब्दों की व्याख्या जो दिवसों की विभिन्न संख्याओं के प्रतीक हैं

अधिमास

हिन्दुओं के मास तो चंद्रानुसार होते हैं और वर्ष सूर्यानुसार, इसीलिए उनके नव वर्ष का दिन प्रत्येक सौर वर्ष में उतने दिन पहले पड़ता है जितने दिन चांद्र मास सौर मास से छोटा होता है (स्थूल रूप से कहा जाए तो ग्यारह दिन)। यदि इस अयन में पूरा एक मास बन जाता है तो वे उसी प्रकार का व्यवहार करते हैं जैसा यहूदी करते हैं, अर्थात् वे अदर मास की दो बार गणना करके उस वर्ष को तेरह मास का अधिवर्ष बना देते हैं। उनका यह व्यवहार गैर-मुस्लिम अरबों से भी मिलता-जुलता है जिन्होंने तथाकथित विलंबित वर्ष के कारण नव वर्ष को आगे कर दिया और इस प्रकार पूर्ववर्ती वर्ष को बढ़ाकर तेरह मास का बना दिया।

हिन्दू उस वर्ष को सामान्य भाषा में 'मल मास' कहते हैं जिसमें एक मास दो बार आता हो। मल का अर्थ है हाथ में लगने वाला मैल। जिस प्रकार मैल को छुड़ा दिया जाता है उसी प्रकार अधिमास की गणना नहीं की जाती और वर्ष के महीनों की संख्या बारह रह जाती है। परंतु साहित्य में ऐसे मास को 'अधिमास' कहा जाता है।

वही मास दुहराया जाता है जिसमें दो चांद्र मास पूरे होते हैं (इसे सौर मास माना जाता है)। यदि चांद्र मास का अंत और सौर मास का प्रारंभ एक साथ हो, बल्कि यदि वास्तव में चांद्र मास सौर मास के किसी भी अंश के बीत जाने के पहले समाप्त हो जाए तो यह मास दो बार लाया जाता है क्योंकि चांद्र मास का अंत—चाहे वह नये सौर मास से अभी न मिल पाया हो—इसके बावजूद पिछले मास का अंग नहीं बन पाता।

यदि मास दो बार लाया जाता है तो पहली बार तो साधारण संज्ञा दी

जाती है, लेकिन दूसरी बार वे इस संज्ञा के पहले 'दूर' शब्द जोड़ते हैं ताकि दोनों के बीच का अंतर स्पष्ट हो जाए। उदाहरण के लिए, यदि आषाढ़ मास दो बार आ जाए तो पहले को आषाढ़ और दूसरे को दूराषाढ़ कहा जाता है। पहला मास वह है जिसे गिना नहीं जाता। हिन्दू इसे अशुभ मानते हैं और जो भी त्योहार वे अन्य महीनों में मनाते हैं उनमें से कोई भी इस मास में नहीं मनाते। इस मास में सबसे अधिक अशुभ समय वह दिन माना जाता है जिसमें चांद्र मास समाप्त होता है···।

जहाँ तक 'अधिमास' का संबंध है इस शब्द का अर्थ है 'पहला मास', क्योंकि ए० डी० (ऐना डोमिनाई) का अर्थ होता है प्रारंभ (अर्थात् आदि)। याकूब इब्न तारिक और अलफजरी की पुस्तकों में यह नाम 'पादमास' मिलता है। 'पाद' का मूलार्थ होता है अंत और यह संभव है कि हिन्दू अधिमास को दोनों नामों से पुकारते हों; लेकिन पाठक को यह जान लेना चाहिए कि ये दोनों लेखक इन भारतीय शब्दों की वर्तनी बार-बार अशुद्ध लिखते हैं या उन्हें विकृत करते हैं और इसीलिए उनकी परंपरा को विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। मैंने तो इसका उल्लेख केवल इसलिए किया है क्योंकि पुलिश ने इन दो मासों में से जिनका एक ही नाम है बाद के मास की व्याख्या अधिसंख्य के रूप में की है।

सार्वदेशिक या आंशिक मासों और दिनों की व्याख्या

एक युति से दूसरी युति तक के समय को मास माना जाता है और वह चंद्रमा की एक परिक्रमा का परिचायक होता है जो क्रांतिवृत्त के इर्द-गिर्द घूमता है, किन्तु उसका मार्ग समय के मार्ग से दूर होता है। इन दो खगोलीय पिंडों की गति के बीच यही अंतर है, हालांकि जिस दिशा में वे गतिमान होते हैं वह एक ही है। यदि हम सूर्य की परिक्रमाओं को अर्थात् एक कल्प के सौर चक्रों को उसके चांद्र चक्रों में से घटाएं तो उनके शेष से पता चलता है कि कल्प में सौर मासों की तुलना में कितने अधिक चांद्र मास होते हैं। सभी मासों या दिवसों को जिन्हें हम संपूर्ण कल्पों के अंग मानते हैं, हमने यहां 'सार्वदेशिक' कहा है और उन सभी मासों और दिवसों को जिन्हें हम एक कल्प का अंग मानते हैं जैसे कि चतुर्युग तो उन्हें हमने 'आंशिक' की संज्ञा दी है और यह केवल शब्दों के सरलीकरण के उद्देश्य से किया है।

सार्वदेशिक 'अधिमास' मास

एक वर्ष में बारह सौर मास होते हैं और इसी प्रकार बारह चांद्र मास होते हैं। चांद्र वर्ष बारह मास में पूरा हो जाता है लेकिन सौर वर्ष में इन दोनों प्रकार के वर्षों के अंतर के कारण अधिमास महीने के जुड़ जाने पर तेरह मास होते हैं।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सार्वदेशिक सौर और चांद्र मासों के बीच के अंतर को यही अधिसंख्य मास दर्शाते हैं जिनके कारण एक ही वर्ष तेरह मास का हो जाता है। अतः ये मास ही सार्वदेशिक अधिमास हैं...।

'ऊनरात्र' शब्द की व्याख्या

जहां तक ऊनरात्र—घटते हुए दिन—के कारण जानने का संबंध है, हमें निम्नलिखित पर विचार करना होगा :

यदि हम एक वर्ष या कुछ वर्ष लें और उनमें से प्रत्येक के बारह मास गिनें तो उनके अनुरूप सौर मास निकल आएंगे और उन महीनों को 30 से गुणा करने पर अनुरूप सौर दिवसों की संख्या निकल आएगी। यह बात तो स्पष्ट है कि उसी अवधि के चांद्र मास अथवा चांद्र दिवसों की संख्या वही होगी, केवल वृद्धि होगी तो उतनी ही जिससे एक या अनेक अधिमास महीने बनते हैं। यदि हम सार्वदेशिक सौर मासों और सार्वदेशिक अधिमास महीनों के बीच के संबंध के अनुसार इस वृद्धि के प्रस्तुत कालावधि के अनुरूप अधिमास महीने बनाएं और उसे प्रस्तुत वर्षों के मासों या दिवसों में जोड़ दें तो उनका जोड़ आंशिक चांद्र दिवसों को दर्शाएगा और वे दिवस वर्षों की दी हुई संख्या के अनुरूप होंगे।

लेकिन हमें केवल यही अभीष्ट नहीं है। हमें तो आवश्यकता है वर्षों की संख्या विशेष के व्यावहारिक दिनों की संख्या की, जो चांद्र दिवसों की संख्या से कम है क्योंकि एक व्यावहारिक दिवस एक चांद्र दिवस से बड़ा होता है। इसलिए जिस चीज़ की हमें आवश्यकता है उसे प्राप्त करने के लिए हमें चांद्र दिवसों की संख्या में से कुछ घटाना होगा और यही जिसे घटाया जाना है 'ऊनरात्र' कहलाता है...।

बावनवां अध्याय

सामान्यतः 'अहर्गण' की गणना अर्थात् वर्षों और मासों का दिनों में और दिनों का वर्षों और मासों में वियोजन तथा दिवसों से वर्ष और मास बनाना

सावनाहर्गण निकालने का सामान्य नियम

वियोजन की सामान्य पद्धति निम्न प्रकार है :

संपूर्ण वर्षों को 12 से गुणा किया जाता है, गुणनफल में चालू वर्ष के बीते हुई महीनों को जोड़ा जाता है (और इस योग को 30 से गुणा किया जाता है); इस गुणनफल में चालू मास के बीते हुए दिन जोड़ दिए जाते हैं। इसका योग सावनाहर्गण अर्थात् आंशिक सौर दिवसों का योग बता देता है।

आप संख्या को दो जगह लिखें। एक जगह आप उसे 5311 से अर्थात् उस संख्या से गुणा करें जो सार्वदेशिक अधिमास महीनों को दर्शाती है। गुणनफल को आप 172,800 अर्थात् उस संख्या से भाग दें जो सार्वदेशिक सौर मासों को दर्शाती है। इससे जो भागफल निकले उसमें जहां तक पूरे दिन हों उसे दूसरी जगह की संख्या में जोड़ दें और उसका जो योग होगा वही चांद्राहर्गण अर्थात् आंशिक चांद्र दिवसों का योग होगा।

बाद की संख्या को फिर दो जगह उतार लें। एक जगह आप उसे 53,739 से अर्थात् उस संख्या से गुणा करें जो सार्वदेशिक ऊनरात्र दिवस दर्शाती है और गुणनफल को 3,562,220 से अर्थात् उस संख्या से भाग दें जो सार्वदेशिक चांद्र दिवस दर्शाती है। इसका जो भागफल निकले, उसमें जहां तक पूरे दिन हों, उसे दूसरी जगह लिखी संख्या से घटा दें और जो शेष बचे वही सावनाहर्गण अर्थात् व्यावहारिक दिनों का योग होगा जो हम निकालना चाहते थे।

इसी प्रयोजन के लिए अधिक विस्तृत नियम

लेकिन पाठक को यह ज्ञात होना चाहिए कि यह गणना उन्हीं तिथियों पर

लागू होती है जिनमें बिना किसी भिन्न के केवल पूरे अधिमास और ऊनरात्र दिन होते हैं। इसलिए यदि वर्षों की किसी संख्या का प्रारंभ किसी कल्प या चतुर्युग या किसी कलियुग से होता हो तो यह गणना सही है। लेकिन यदि उन्हीं वर्षों का प्रारंभ किसी और समय से होता हो तो यह गणना संयोग से ही ठीक हो पाती है; लेकिन यह भी संभव है कि उससे अधिमास के समय का होना सिद्ध हो जाए और ऐसी स्थिति में वह गणना सही नहीं होगी। यह भी हो सकता है कि इन दोनों संभाव्य घटनाओं के विपरीत परिणाम निकले। फिर भी यदि यह ज्ञात हो जाए कि कल्प, चतुर्युग या कलियुग के किस क्षण-विशेष में वर्षों की संख्या-विशेष का प्रारंभ हुआ था तो उसके लिए हम एक विशिष्ट गणना-पद्धति अपनाते हैं जिसे आगे चलकर हम कुछ उदाहरण देकर स्पष्ट करेंगे।

[अध्याय के शेष भाग में निम्नलिखित बातों पर चर्चा की गयी है: (क) पश्चोक्त पद्धति (i) शक काल 953 पर लागू की गयी, (ii) पुलिश के सिद्धांत के अनुसार चतुर्युग पर लागू की गयी; (ख) अहर्गण की प्रणाली आर्यभट्ट और याकूब इब्न तारिक द्वारा अपनाई गयी; (ग) ब्रह्मगुप्त के अनुसार ऊनरात्र दिनों की गणना के लिए पद्धति; (घ) कल्प, चतुर्युग या कलियुग के वर्षों के लिए अधिमास की गणना-पद्धति; और (ङ) दिनों की किसी संख्या विशेष की सहायता से किसी कालक्रमिक तिथि को निकालने के नियम अर्थात अहर्गण का विलोम। पृ० 28-45]

तिरपनवां अध्याय

काल की कतिपय तिथियों अथवा कालखंडों के लिए विशिष्ट नियमों के अनुसार जो पंचांगों में अपनाए जाते हैं अहर्गण अथवा वर्षों का मासों में वियोजन

विशिष्ट तिथियों के लिए अपनाई गयी अहर्गण पद्धति

सभी संवत जिनके पंचांगों में दिवस बनाए जाते हैं उन सब में ऐसे युग नहीं आते जो ऐसे कालखंडों में पड़ते हों जब ऊनरात्र या अधिमास संयोग से पूरा होता हो। यही कारण है कि पंचांग निर्माताओं को अधिमास और ऊनरात्र की गणना के लिए कुछ ऐसी विशेष संख्याओं की आवश्यकता होती है जिन्हें यदि ठीक-ठीक गणना करनी हो तो जोड़ा या घटाया जाता है। हिन्दुओं के पंचांगों या खगोलशास्त्र-संबंधी पुस्तिकाओं के अध्ययन से हमें जो भी नियम ज्ञात हुए हैं वे हम पाठकों तक पहुंचाएंगे।

सबसे पहले हम 'खांडखाद्यक' के नियम का उल्लेख करते हैं क्योंकि यही पंचांग सबसे अधिक विख्यात है और खगोलशास्त्री अन्य पंचांगों की अपेक्षा इसी को तरजीह देते हैं।

[अल-बिरूनी ने 'खांडखाद्यक' के नियम की व्याख्या की है क्योंकि "खगोल-शास्त्रियों ने अन्य पंचांगों की अपेक्षा इसी को तरजीह दी है", साथ ही उसने कुछ अन्य खगोलशास्त्रीय ग्रंथों का भी उल्लेख किया है और उसके द्वारा अपनाए गए मापन वर्ष के लिए उनकी उपयोगिता को जांचा-परखा है। पृ० 45-46]

चौवनवां अध्याय

नक्षत्रों के माध्य स्थानों की गणना

किसी काल-विशेष में किसी नक्षत्र के माध्य स्थान के जानने की साधारण पद्धति

यदि हमें किसी कल्प या चतुर्युग में नक्षत्रों के चक्रों की संख्या ज्ञात हो और फिर हमें यह ज्ञात हो कि किसी कालखंड-विशेष तक कितने चक्र पूरे हो चुके हैं तो हमें यह भी ज्ञात हो जाएगा कि कल्प या चतुर्युग के दिनों के जोड़ का चक्रों के योग से वही संबंध होता है जो कल्प या चतुर्युग के बीते हुए दिनों का नक्षत्रों के चक्रों की अनुरूप राशि के साथ होता है। इस संबंध में जिस पद्धति का सबसे अधिक प्रयोग किया जाता है वह यह है :

कल्प या चतुर्युग के बीते हुए दिनों को नक्षत्रों के चक्रों या उसके नीचोच्च बिन्दु या उसके पात से गुणा किया जाता है जिसका वह एक कल्प या चतुर्युग में निर्माण करता है। यदि आप कल्प या चतुर्युग के दिनों के योग से गुणनफल को विभक्त करें तो भागफल पूर्ण कालचक्रों को दर्शाता है। लेकिन चूंकि इनकी आवश्यकता नहीं होती इसलिए उनकी उपेक्षा की जाती है।

भाग देने पर जो बचता है उसे 12 से गुणा किया जाता है और गुणनफल को कल्प या चतुर्युग के दिनों के योग से, जिससे हम पहले भी एक बार विभाजन कर चुके है, विभक्त किया जाता है। भागफल क्रांतिवृत्त के चिह्न दर्शाता है। इस विभाजन के अवशेष को 30 से गुणा किया जाता है और गुणनफल को उसी भाजक से विभक्त किया जाता है। भागफल अंशों को दर्शाता है। इस विभाजन के अवशेष को 60 से गुणा किया जाता है और उसे उसी भाजक से भाग दिया जाता है। भागफल मिनट दर्शाता है।

यदि हम सेकंड या उससे भी गौणतर मूल्य जानना चाहें तो इसी गणना को जारी रखा जा सकता है। भागफल उस नक्षत्र के स्थान को उसकी माध्य गति के अनुसार या उस नीचोच्च बिन्दु या उस पात के स्थान का परिचायक है जिसे हम ज्ञात करना चाहते हैं।

[इसी प्रयोजन के लिए पुलिश की पद्धति का उल्लेख किया गया है। साथ ही ब्रह्मगुप्त द्वारा अपनाई गयी रीति भी बताई गयी है और 'खांडखाद्यक', 'करण-तिलक' आदि के उद्धरण दिए गये हैं; पृ० 58-60। अल-बिरूनी ने अंत में अपने विचार प्रकट किए हैं।]

···किन्तु ये पद्धतियाँ बहुत सूक्ष्म हैं और संख्या इतनी अधिक कि उनमें से कोई भी विशेष प्रामाणिकता प्राप्त नहीं कर पाई। इसलिए हम उन्हें यहां नहीं दे रहे क्योंकि उसमें बहुत समय लग जाएगा और कोई लाभ भी नहीं होगा।

नक्षत्रों के माध्य स्थानों की गणना की अन्य पद्धतियों का तथा उसी प्रकार की गणनाओं का प्रस्तुत पुस्तक के विषय से कोई संबंध नहीं है।

पचपनवां अध्याय

नक्षत्रों के क्रम, उनकी दूरियां और उनके आकार

सूर्य के चंद्र के नीचे होने के संबंध में परंपरागत धारणा

लोकों की चर्चा करते समय हम 'विष्णु-पुराण' से तथा 'पतंजलि' के भाष्य से एक उद्धरण पहले ही दे चुके हैं जिनके अनुसार सूर्य का स्थान नक्षत्रों के क्रम में चंद्रमा के स्थान से नीचे है। हिन्दुओं की परंपरागत धारणा यही है···।

अब हम सूर्य, चंद्र और तारों के संबंध में इस विचारधारा की पुस्तकों से कुछ उद्धरण देंगे और उनके साथ हम खगोलशास्त्रियों के मत भी प्रस्तुत करेंगे, यद्यपि उनके बारे में हमारा ज्ञान बहुत सीमित है।

[सूर्य के आकार, उसकी ऊष्मा, प्रकाश आदि के संबंध में 'वायु-पुराण' के उद्धरण दिए गये हैं। पृ० 62-64]

तारकों का स्वरूप

हिन्दुओं के सभी तारकों के पिंडों के संबंध में यह धारणा है कि वे गोलाकार हैं, वे तत्वत: जलीय हैं, वे चमकते नहीं हैं; लेकिन दूसरी ओर, ऊपर सूर्य तत्वत: अग्निमय है, स्वत: प्रकाशमान है और संयोग से अन्य तारकों को प्रकाश प्रदान करता है जब वे उसके सामने आ जाते हैं। वे ऐसे तेजोमय पिंडों को भी नक्षत्र ही मान लेते हैं जो दिखने में नक्षत्र लगते हैं किन्तु वास्तव में तारे होते नहीं बल्कि ऐसे प्रकाशपिंड मात्र होते हैं जिनमें वे मनुष्य रूपांतरित हो गये हैं जिन्हें ईश्वर ने शाश्वत पुरस्कार प्रदान किया है और जो उच्चस्थ आकाश में बिल्लौरी सिंहासन पर आसीन हैं···।

इन सभी नक्षत्रों को तारा कहा जाता है और यह शब्द 'तरण' से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ है पार उतरना। भाव यह है कि वे संतजन इस पापमय संसार से पार चले गये हैं और परमानंद प्राप्त कर चुके हैं और तारे आकाश में वर्तुलाकार गति से घूमते हैं। 'नक्षत्र' शब्द केवल चांद्र स्थानों के तारों तक सीमित होता है।

लेकिन चूंकि इन सभी को 'स्थिर तारे' कहा जाता है इसलिए नक्षत्र शब्द भी सभी स्थिर ताराओं के लिए प्रयुक्त होता है क्योंकि उसका अर्थ होता है न घटने और न बढ़ने वाला। मैं अपने तौर पर यह समझता हूं कि इस बढ़ने और घटने से अभिप्राय उनकी संख्या और एक-दूसरे से अंतर से है, लेकिन अंत में उल्लिखित पुस्तक ('विष्णु-धर्म') के रचयिता ने इसे उनके प्रकाश के साथ जोड़ दिया है।

[नक्षत्रों के व्यास और स्थिर तारों की परिधि के संबंध में विभिन्न भारतीय शास्त्रों के उद्धरण दिए गये हैं (पृ० 65-66); और यह विचार व्यक्त किया गया है :]

एक ही प्रकार के विषयों पर हिन्दू खगोलशास्त्रियों के मत

इन विषयों के संबंध में हिन्दुओं के जो भी भ्रांतिपूर्ण विचार हैं उनमें से हम केवल इतना ही जान पाए हैं। अब हम हिन्दू खगोलशास्त्रियों के उन विचारों का उल्लेख करेंगे जिनसे हम ग्रहों के क्रम और अन्य विषयों पर सहमत हैं अर्थात् सूर्य ग्रहों का मध्य भाग है, शनि और चंद्रमा उनके दो छोर हैं और स्थिर तारे उन ग्रहों के ऊपर रहते हैं। इनमें से कुछ बातों पर पूर्ववर्ती अध्यायों में चर्चा की जा चुकी है।

हिन्दू धर्मविज्ञानियों में प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति का बल्कि उनमें खगोल-शास्त्रियों को तो इस संबंध में अधिक विश्वास है कि चंद्रमा का स्थान सूर्य से ही नहीं बल्कि सभी ग्रहों के नीचे है।

तारों के अंतरों के संबंध में याकूब इब्न तारिक का मत

तारों के अंतरों के संबंध में हमारे पास हिन्दुओं की वही परंपराएं हैं जिनका याकूब इब्न तारिक ने अपनी पुस्तक 'मंडलों की रचना' में उल्लेख किया है और उसकी सूचना का स्रोत वह प्रख्यात हिन्दू विद्वान है जो 161 हिजरी में एक दूत-कर्म के संबंध में बगदाद गया था।

[ग्रहों के नाम और उनके पृथ्वी के मध्य से अंतरों, उनके व्यासों आदि को दर्शाने वाली एक सारणी पृ० 68 पर दी गयी है।]

तारा प्रच्छादन और लंबन

यह बात सभी खगोलशास्त्रियों में भली भांति प्रसिद्ध है कि दोनों ग्रहों में यह भेद करना संभव नहीं है कि कौन-सा उच्चतर है और कौन-सा निम्नतर। ऐसा केवल तारा-प्रच्छादन अथवा लंबन की वृद्धि से ही जाना जा सकता है। लेकिन तारा-प्रच्छादन यदाकदा ही होता है और केवल एक ही ग्रह अर्थात् चंद्रमा का लंबन ही देखा जा सकता है। हिन्दुओं का यह विश्वास है कि गतियों में तो समानता है किंतु उनके अंतर भिन्न-भिन्न हैं। उच्चतर ग्रह के निम्नतर ग्रह की

अपेक्षा मद गति से चलने का कारण उसके गोले (या कक्षा) का वृहत्तर विस्तार है; और निम्नतर ग्रह के अधिक तीव्रगामी होने का कारण यह कि उसका गोला या कक्षा कम विस्तृत है। इस प्रकार उदाहरण के लिए शनि की कक्षा की एक कला चंद्र की कक्षा की 262 कलाओं के बराबर होती है। यही कारण है कि जिस समय में शनि और चंद्र एक ही देश की यात्रा करते हैं वह भिन्न होता है जबकि उनकी गति समान होती है।

मुझे इस विषय पर हिन्दुओं की कोई पुस्तक नहीं मिली, अलबत्ता इससे संबंधित कुछ संख्याएं विभिन्न पुस्तकों में बिखरी हुई मिली हैं जो अशुद्ध हैं।

[इस अध्याय के शेष भाग में अल-बिरूनी ने निम्नांकित मुद्दों पर चर्चा की है : (क) ग्रहों के व्यासार्ध या पृथ्वी से उनकी दूरी, (ख) ग्रहों के व्यास, (ग) किसी समय-विशेष में सूर्य और चंद्रमा के पिंडों की गणना की विधियां, (घ) छाया के व्यास की गणना के लिए ब्रह्मगुप्त द्वारा अपनाई गयी विधि, और (ङ) कतिपय अन्य भारतीय स्रोतों के अनुसार सूर्य और चंद्रमा के व्यासों की गणना। पृ० 70-80]

छप्पनवां अध्याय

चंद्रमा के नक्षत्र

सत्ताईस नक्षत्र

हिन्दू नक्षत्रों का प्रयोग ठीक उसी प्रकार से करते हैं जैसे वे राशियों का करते हैं। जिस प्रकार कांतिवृत्त को राशियों द्वारा वारह समान भागों में विभक्त किया जाता है उसी प्रकार उसे नक्षत्रों से सत्ताईस समान भागों में विभक्त किया जाता है। प्रत्येक नक्षत्र कांतिवृत्त का 3 1/3 भाग अथवा 800 कलाओं में व्याप्त है। ग्रह उनमें प्रवेश करते हैं और फिर उनसे वाहर आ जाते हैं और अपने उत्तरी तथा दक्षिणी अक्षांशों के मार्ग से एक स्थान से दूसरे तक घूमते रहते हैं। फलित-ज्योतिषी प्रत्येक नक्षत्र पर एक विशेष प्रकृति, घटनाओं की पूर्व-सूचना देने और अन्य विशिष्ट लक्षणों का आरोपण करते हैं। यह उसी प्रकार किया जाता है जिस प्रकार राशियों के साथ होता है।

अरवों के नक्षत्र

27 की संख्या का आधार यह तथ्य है कि चंद्रमा समस्त कांतिवृत्त से गुजरने में 27 1/3 दिन लगाता है जिसमें से 1/3 के भिन्न को छोड़ा जा सकता है। इसी से मिलता-जुलता ढंग अरवों का है जो अपने नक्षत्रों का निर्धारण चंद्रमा के पश्चिम में सवसे पहले उदय होने से लेकर पूर्व में जाकर छिप जाने तक मानते हैं…।

लेकिन अरव तो अशिक्षित लोग हैं जिन्हें न लिखना-पढ़ना आता है, न गिनना। वे तो केवल अंकों और दृष्टि पर भरोसा करते हैं। उनके पास देखने के अलावा अनुसंधान का और कोई माध्यम है ही नहीं और वे नक्षत्रों का निर्धारण उनके अंदर स्थित तारकाओं के विना कर ही नहीं सकते। यदि हिन्दू इकहरे नक्षत्रों का वर्णन करते हैं तो कुछ तारकाओं के संवंध में तो उनका अरवों से मतैक्य है, किंतु कुछ अन्य तारकाओं को लेकर उनमें मतभेद है। कुल मिलाकर अरब चंद्रमा के मार्ग के निकट रहते हैं और नक्षत्रों का वर्णन करते समय केवल

उन्हीं स्थिर तारकाओं का प्रयोग करते हैं जिनके साथ या तो चंद्रमा की किसी समय-विशेष में युति होती है या जिनके बिलकुल पड़ोस में से होकर वह गुजरता है।

हिन्दुओं के नक्षत्र सत्ताईस हैं या अट्ठाईस

हिन्दू ठीक-ठीक इसी पद्धति का अनुसरण नहीं करते बल्कि वे एक तारक की विभिन्न स्थितियों पर दूसरे तारक के संदर्भ में विचार करते हैं, अर्थात् एक तारक के दूसरे के सामने या उसके ऊपर रहने की स्थिति का भी ध्यान रखते हैं। इसके अलावा वे नक्षत्रों के साथ Falling Eagle की भी गणना करते हैं ताकि संख्या 28 हो जाए।

यही बात है जिसने हमारे खगोलशास्त्रियों और 'अन्व' पुस्तकों के रचयिताओं को गुमराह किया है क्योंकि उनका कहना है, कि हिन्दू अट्ठाईस नक्षत्र मानते हैं लेकिन वें उनमें से एक को छोड़ देते हैं जो हमेशा सूर्य की किरणों से ढंका रहता है। शायद उन्होंने यह सुना होगा कि हिन्दू उस नक्षत्र को जिसमें चंद्रमा रहता है 'ज्वलंत' और जिस नक्षत्र को उसने अभी-अभी छोड़ा है 'आलिंगन के पश्चात् छोड़ा हुआ' नक्षत्र और जिस नक्षत्र में वह अब प्रवेश करेगा उसे 'धूमवान' कहते हैं। हमारे कुछ मुसलमान लेखकों का यह विचार रहा है कि हिन्दू अज्जुबान (विशाखा) नामक नक्षत्र को छोड़ जाते हैं और इसका कारण यह बताते हैं कि चंद्रमा का मार्ग तुला राशि के अंत में और वृश्चिक राशि के प्रारंभ में 'ज्वलंत' रहता है।

इन सब निष्कर्षो का एक ही स्रोत है और वह उनका यह विचार है कि हिन्दुओं के यहां अट्ठाईस नक्षत्र माने जाते हैं और कुछ परिस्थितियों में वे उनमें से एक को निकाल देते हैं। जबकि वस्तुस्थिति इसके ठीक विपरीत है; उनके वहां भी नक्षत्रों की संख्या तो सत्ताईस ही है परंतु कुछ परिस्थितियों में वे एक और जोड़ देते हैं···।

'खांडखाद्यक' से ली गयी नक्षत्रों की तालिका

जहां तक स्थिर तारकाओं का संबंध है हिन्दुओं का ज्ञान बहुत अल्प है। मुझे उनमें एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिला जो नक्षत्रों की इकहरी तारकाओं को केवल अपनी दृष्टि द्वारा पहचान सकता और अपनी उंगलियों से मुझे उन्हें दिखा सकता। मैंने इस विषय की छानबीन की है और सभी प्रकार की तुलना करके इनमें से अधिकांश पर निश्चित राय देने पर बहुत परिश्रम किया है और मैंने अपने शोध-परिणाम 'नक्षत्रों का निर्धारण' नामक पुस्तक में लिपिबद्ध कर दिए हैं। इस विषय में उनके जो भी सिद्धांत हैं उन पर यहां उतनी ही चर्चा

करूंगा जितनी प्रस्तुत विषय के लिए प्रासंगिक हो। लेकिन उससे पहले मैं नक्षत्रों की स्थिति देशांतर और अक्षांश में और उनकी संख्या 'खांडखाद्यक' के नियमों के अनुसार बताऊंगा जिससे कि नीचे दी हुई तालिका का समस्त विवरण समझकर इस विषय के अध्ययन में सुविधा हो।

[तालिका पृ० 84-85 पर दी गयी है।]

लेखक द्वारा वराहमिहिर के कथन की आलोचना

तारकाओं के संबंध में मैंने हिन्दुओं की अस्पष्ट धारणाओं पर जो टिप्पणी की थी उसकी पुष्टि हो चुकी है, यद्यपि यह बात शायद स्वयं हिन्दुओं को स्पष्ट नहीं हुई है; उदाहरण के लिए वराहमिहिर की 'अलशरतन' = अश्विनी के संबंध में टिप्पणी जो प्रथमोल्लिखित छह नक्षत्रों में से एक है, क्योंकि उसका कथन है कि ऐसा करने में गणना की अपेक्षा प्रेक्षण को प्रथामिकता दी गयी है। अब देखिए कि अश्विनी के दो तारे हमारे युग में मेष के दो-तिहाई भाग में (अर्थात् मेष के 10^0 और 20^0 के बीच) स्थित हैं और वराहमिहिर का काल हमसे 526 वर्ष पहले का है। इसलिए आप स्थिर तारों की गति (या अयन) की गणना किसी भी सिद्धांत के अनुसार करें अश्विनी की स्थिति उसके समय में भी मेष के एक-तिहाई भाग से कम में किसी भी प्रकार न रही होगी (अर्थात् वे अयन में मेष से 1^0 से 10^0 से आगे नहीं आए होंगे)।

[अल-बिरूनी ने "स्थिर तारकाओं की गति के संबंध में हिन्दुओं की अल्पज्ञता" की भी आलोचना की है और उसी के उदाहरण-स्वरूप उसने वराह-मिहिर की 'संहिता' से एक उद्धरण भी प्रस्तुत किया है। पृ० 88-89]

सत्तावनवां अध्याय

तारकाओं का सूर्य-सापेक्ष उदय और वे संस्कार तथा अनुष्ठान जो हिन्दू ऐसे समय में करते हैं

तारका को दिखाई देने योग्य होने के लिए सूर्य से कितनी दूरी पर होना चाहिए

तारकाओं और बाल चंद्र के सूर्य-सापेक्ष उदय की गणना के संबंध में हमारे विचार में हिन्दुओं की वही विधि है जिसकी व्याख्या 'सिद-हिंद' नामक पुस्तक में की गयी है। वे किसी भी तारक के सूर्य से अंतर की मात्रा को 'कालांशक' कहते हैं जो सूर्य-सापेक्ष उदय के लिए आवश्यक मानी जाती है।

स्पष्ट है कि इस संबंध में तारकाओं को तीन वर्गों में विभक्त किया गया है जिनमें से पहले वर्ग में ऐसी तारकाएं आती हैं जिन्हें यूनानियों ने प्रथम तथा द्वितीय तारादीप्ति की तारकाएं माना है और दूसरे वर्ग की तारकाओं को तृतीय और चतुर्थ तारादीप्ति की तारकाएं और तीसरे वर्ग की तारकाओं को पंचम तथा षष्ट तारादीप्ति की तारकाएं माना है।

ब्रह्मगुप्त को 'खांडखाद्यक' के पाठ-संशोधन में इस प्रकार के वर्गीकरण का उल्लेख करना चाहिए था लेकिन उसने ऐसा नहीं किया। उसने अपनी बात बहुत सामान्य ढंग से कही है और केवल यह बताया है कि सभी नक्षत्रों के सूर्य-सापेक्ष उदय के लिए सूर्य से 14^{0} का अंतर आवश्यक है।

[अगस्त्य अर्थात् 'सुहैल' या 'कैनोपस' के सूर्य-सापेक्ष की गणना के लिए विधि का उल्लेख किया है; साथ ही ब्रह्मगुप्त के 'खांडखाद्यक' के पाठ-संशोधन से कुछ उद्धरण भी दिए हैं। पृ० 91]

कतिपय तारकाओं के सूर्य-सापेक्ष उदय के समय संपन्न किए जाने वाले संस्कार

'संहिता' नामक ग्रंथ में कतिपय यज्ञों और संस्कारों का उल्लेख किया गया

है जो विभिन्न तारकाओं के सूर्य-सापेक्ष उदय के समय संपन्न किए जाते है। अब हम उनका उल्लेख करेंगे, साथ ही उनका अनुवाद भी प्रस्तुत करेंगे जो असल में गेहूं कम और भूसा अधिक है क्योंकि हमने यह दायित्व स्वीकार किया है कि हम हिन्दुओं की पुस्तकों के अवतरण पूरे-पूरे और ज्यों-के-त्यों प्रस्तुत करेंगे।

[अगस्त्य, रोहिणी, स्वाति और श्रवण के सूर्य-सापेक्ष उदय तथा उन अवसरों के अनुकूल यज्ञों पर वराहमिहिर की पुस्तक के लंबे उद्धरण पृ० 92--100 पर दिए गये हैं।]

अट्ठावनवां अध्याय

समुद्र में ज्वार-भाटा किस प्रकार आता है

[यह अध्याय 'मत्स्य-पुराण' से राजा और्व की कथा के उद्धरण से प्रारंभ होता है जिसमें "समुद्र के पानी के यथावत् बने रहने का कारण" बताया गया है। राजा को देवताओं पर बड़ा क्रोध आया किंतु बाद में (देवताओं ने) उसे मना लिया और 'क्रोधाग्नि' को समुद्र में फेंकने का परामर्श दिया। अग्नि जल को सोख लेती है और उसमें ज्वार नहीं आता।

इसके बाद 'प्रजापति' की कथा आती है जिसमें उसने चंद्रमा को शाप दिया और फलस्वरूप उसके मुख पर कोढ़ हो गया। कालांतर में चंद्रमा को पश्चात्ताप हुआ और उसने प्रजापति से अनुनय-विनय की ताकि वह कलंक मिट जाए। प्रजापति ने कहा कि ऐसा तभी हो सकता है जब चंद्रमा अपनी पूजा के लिए महादेव के लिंग की मूर्ति की स्थापना करे। चंद्रमा ने ऐसा ही किया और उसने जो लिंग स्थापित किया वही सोमनाथ के नाम से अभिहित हुआ।

आगे अल-बिरूनी ने एक विरल राजनीतिक घटना का हवाला देकर सोमनाथ के मंदिर के सुल्तान महमूद द्वारा ध्वंस का उल्लेख किया है। इस हवाले में अधिक महत्व सोमनाथ के आर्थिक आधार को दिया गया है, क्योंकि वह एक प्रधान पत्तन था जिसका व्यापारी पूर्वी अफ्रीका और चीन के समुद्र तट के लोगों के साथ व्यापार के लिए प्रयोग करते थे। पृ० 101-102]

सोमनाथ की मूर्ति

'सोम' का अर्थ है चंद्रमा और 'नाथ' का अर्थ है स्वामी और इस प्रकार इस पूरे शब्द (सोमनाथ) का अर्थ हुआ चंद्रमा का स्वामी। इस मूर्ति को शाह महमूद—रहमत-उल्लाह अलैह*—ने 416 हिजरी में नष्ट कर दिया। उसने हुक्म दिया कि मूर्ति का ऊपरी भाग तोड़ दिया जाए और शेष भाग उसके निवास-

*अल्लाह उस पर अपनी रहमत करे।

स्थान गजनी को भेज दिया जाए जिसमें उसके सारे सोने के आच्छादनों, भूषणों और गुलकारीयुक्त वस्त्रों को भी शामिल किया जाए। उसके कुछ भाग को कांस्य मूर्ति चक्रस्वामिन् समेत जो थानेश्वर से लाई गयी थी नगर की रंगभूमि में फेंक दिया जाए। सोमनाथ की मूर्ति का एक और हिस्सा गजनी की मस्जिद के द्वार के सामने पड़ा हुआ है जिस पर लोग मैल पोंछने के लिए अपने पैर रगड़ते हैं।

'लिंग' महादेव के शिश्न की मूर्ति है जिसका वर्णन नीचे किया जा रहा है :

लिंग की उत्पत्ति

[यहां अल-बिरूनी ने लिंग की उत्पत्ति का संक्षेप में वर्णन किया है और वराहमिहिर की 'वृहत् संहिता' के आधार पर उसकी निर्माण-संबंधी विशिष्टियां भी दी हैं।]

सोमनाथ की मूर्ति की पूजा

सिंध देश के दक्षिण-पश्चिमी भाग में यह मूर्ति हिन्दुओं के आराधनागृहों में प्रायः मिल जाती है, लेकिन इन सब स्थानों में सबसे अधिक प्रसिद्ध सोमनाथ था। प्रतिदिन वे गंगाजल का एक लोटा और कश्मीर से फूलों की एक टोकरी लाते थे। उनका विश्वास था कि सोमनाथ का लिंग प्रत्येक बद्धमूल व्याधि को शांत करेगा और हर प्रकार के असाध्य रोग का उपचार करेगा।

सोमनाथ के विशेष रूप से इतना प्रसिद्ध होने का क़ारण यह है कि वह मल्लाहों का बंदरगाह था और उन लोगों के ठहरने की जगह थी जो जंज देश में सुफाला और चीन के बीच में यहां से वहां आते-जाते रहते थे।

ज्वार-भाटे के कारण के संबंध में सामान्य धारणा

जहां तक हिन्द महासागर में ज्वार-भाटे का प्रश्न है जिसमें ज्वार को 'भर्ण' और भाटे को 'बुहार' कहा जाता है, हम कह सकते हैं कि सामान्य हिन्दुओं की धारणा के अनुसार समुद्र में 'वड़वानल' नामक अग्नि होती है जो हमेशा धधकती रहती है। जब आग श्वास खींचती है और वह श्वास हवा उड़ा ले जाती है तो ज्वार आता है और जब आग श्वास छोड़ती है और हवा उसे उड़ा नहीं पाती तो भाटा आता है।

सोमनाथ की पवित्रता का उद्गम

इस ज्वार-भाटे के कारण ही सोमनाथ का यह नाम (अर्थात् चंद्रमा का स्वामी) पड़ा है; क्योंकि सोमनाथ का पत्थर (या लिंग) मूल रूप से समुद्रतट पर पश्चिम में सुरसुति नदी के मुहाने से तीन मील से कुछ कम दूरी पर, स्वर्ण दुर्ग

बरोई के पूर्व में स्थापित किया गया था जो वासुदेव के निवास-स्थल के रूप में प्रकट हुआ था और उस स्थान से अधिक दूर नहीं था जहां उसकी और उसके परिवार की हत्या की गयी थी और जहां उन सबका दाह-संस्कार किया गया था। हर बार जब चंद्रमा का उदय और अस्त होता है सागर का जल बाढ़ के रूप में उमड़ता है और इस स्थान को ढंक लेता है। फिर जब चंद्रमा मध्याह्न और मध्य रात्रि के याम्योत्तर वृत्त पर पहुंचता है तो भाटे के कारण पानी पीछे हट जाता है और वह स्थान फिर दिखाई देने लगता है। इस प्रकार चंद्रमा मूर्ति की सेवा तथा उसे स्नान कराने में निरंतर रत रहता था। यही कारण है कि वह स्थान चंद्रमा के लिए पुनीत समझा जाता था। जिस दुर्ग में वह मूर्ति और उसका कोष था प्राचीन नहीं था बल्कि लगभग सौ वर्ष पहले ही बनाया गया था।

उनसठवां अध्याय

सूर्यग्रहण और चंद्रग्रहण

हिन्दू खगोलशास्त्रियों को यह बात भली प्रकार ज्ञात है कि पृथ्वी की छाया से चंद्रग्रहण और चंद्रमा की छाया से सूर्यग्रहण होता है। इसी को उन्होंने अपनी गणना-विधियों का खगोलशास्त्र-संबंधी पुस्तिकाओं और अन्य ग्रंथों में आधार बनाया है।

[सूर्य और चंद्रग्रहण क्यों होते हैं, इसकी कतिपय व्याख्याओं के संबंध में वराहमिहिर की 'संहिता' से उद्धरण दिए गये हैं। वराहमिहिर का उद्धरण यह है कि "चंद्रग्रहण तब होता है जब चंद्रमा पृथ्वी की छाया में प्रवेश कर जाता है और सूर्यग्रहण तब होता है जब चंद्रमा सूर्य को ढंक कर हमसे छिपा लेता है। यही कारण है कि न तो चंद्रग्रहण कभी पश्चिम से परिक्रमा करता है और न ही सूर्यग्रहण कभी पूर्व से।" वराहमिहिर ने ग्रहण के संबंध में जनसाधारण में प्रचलित अवैज्ञानिक धारणाओं का भी उल्लेख किया है और बताया है, "लेकिन जनसाधारण हमेशा बड़े जोर-शोर से यह उद्घोष करते हैं कि (राहु का) 'शिर' ही ग्रहण का कारण है और उनका यह कथन है कि 'यदि शिर उभर कर नहीं आता और ग्रहण का कारण न बनता तो ब्राह्मणों के लिए उस समय अनिवार्य रूप से स्नान करने का विधान न किया जाता'।" (पृ० 107-109)

अल-बिरूनी ने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि वराहमिहिर ने जिसने अपनी पहले की व्याख्या से अपने विचार पहले ही हम पर प्रकट कर दिए थे और यह बता दिया था कि वह एक ऐसा व्यक्ति है 'जिसे संसार के ठीक-ठाक आकार का ज्ञान है' अब इस प्रकार की धारणाओं को क्यों दोहराया है। शायद उसने ऐसा इसलिए किया हो क्योंकि 'वह ब्राह्मणों का पक्ष लेना चाहता था जो वह स्वयं भी था और जिनसे वह स्वयं को अलग नहीं कर सकता था। इसके बावजूद उसे अधिक दोष नहीं दिया जा सकता क्योंकि कुल मिलाकर उसके विचार सत्य पर आधारित हैं···'। पृ० 110]

[इसके बाद अल-बिरूनी ने ग्रहण के संबंध में ब्रह्मगुप्त के विचार दिए हैं और ब्रह्मगुप्त-रचित 'ब्रह्मसिद्धांत' से निम्नलिखित उद्धरण दिए हैं :]

'ब्रह्मसिद्धांत' से उद्धरण

"कुछ लोगों का मत है कि ग्रहण का कारण 'शिर' नहीं है किन्तु यह विचार मूर्खतापूर्ण है क्योंकि वास्तव में वह शिर ही है जो ग्रसित करता है और संसार के जन-साधारण का यह कहना है कि ग्रसित करने वाला शिर ही है। वेद में, जो ब्रह्मा के मुख से निकली भगवद्वाणी है, कहा गया है कि शिर ही ग्रसित करता है। इसी प्रकार मनु द्वारा रचित 'स्मृति' और ब्रह्मा के पुत्र गर्ग-रचित 'संहिता' में भी यही कहा गया है। इसके विपरीत वराहमिहिर, श्रीषेण, आर्यभट्ट और विष्णुचंद्र का मत है, कि ग्रहण का कारण शिर नहीं बल्कि चंद्रमा और पृथ्वी की छाया है। यह मत सबके (सामान्यजनों के) सर्वथा प्रतिकूल और जिस मत का अभी उल्लेख किया गया है उसके प्रति द्वेषभाव से प्रेरित है। क्योंकि शिर के कारण ग्रहण नहीं लगता तो वे सब रूढ़ियां जिनका ग्रहण के समय ब्राह्मण पालन करते हैं, यथा— शरीर पर गरम तेल मलना और निर्दिष्ट पूजा-पाठ आदि सभी कर्म भ्रांतिजनक है और उनके करने से कोई पुण्य प्राप्त नहीं होगा। यदि कोई व्यक्ति इन बातों को माया-मोह बताता है तो सामान्यतः स्वीकृत सिद्धांत से अलग जा पड़ता है और इसकी अनुमति नहीं दी जा सकती···।"

[यहां भी अल-बिरूनी ने आश्चर्य व्यक्त किया है कि ब्रह्मगुप्त ने जो निश्चय ही उनके सर्वाधिक प्रतिष्ठित खगोलविज्ञानियों में एक था, इस प्रकार के अवैज्ञानिक विचार और टिप्पणियां क्यों बार-बार दुहराई है।]

ब्रह्मगुप्त का कथन है कि "सर्वसाधारण का यह विचार है।" यदि इससे उसका अभिप्राय संसार के समस्त निवासियों से है तो हम यही कह सकते है कि वह यथार्थ शोध के द्वारा या ऐतिहासिक परंपरा की सहायता से 'उन सबके' मतों को जानने में शायद ही समर्थ हो सके। इसका कारण यह है कि समस्त वासयोग्य जगत की तुलना में स्वयं भारत भी एक नगण्य देश है और धर्म तथा विधि के क्षेत्र में उन लोगों की संख्या जो हिन्दुओं के विचारों से मतभेद रखते हैं उनकी संख्या से कहीं अधिक है जो उनसे सहमत है।

ब्रह्मगुप्त के पक्ष में संभावित तर्क

या यदि ब्रह्मगुप्त का अभिप्राय 'सर्वसाधारण हिन्दुओं' से है तो हम यह मानते हैं कि उनमें अशिक्षितों की संख्या शिक्षितों से कहीं अधिक है, लेकिन हम यह भी बता दे कि दैवी ज्ञान के हमारे समस्त धर्मशास्त्रों में अशिक्षित जनसमूह को अज्ञानी, सदैव शंकालु और कृतघ्न होने का दोषी ठहराया गया है।

मेरा अपना तो यही विश्वास है कि जिस बात ने ब्रह्मगुप्त से उपर्युक्त शब्द (जिनमें अंतरात्मा के विरुद्ध पाप का भाव निहित है) कहलवाए कोई भयंकर विपत्ति रही होगी—कुछ वैसी ही जिसका सामना सुकरात को भी करना पड़ा था—जो उसकी बहुज्ञता और बुद्धि की कुशाग्रता तथा उसकी तरुणावस्था के बावजूद उस पर आ पड़ी होगी। उसने 'ब्रह्मसिद्धांत' की रचना उस समय की थी जब वह केवल तीस वर्ष का था। यदि यही उसका तर्क है तो हमें स्वीकार्य है और इसलिए हम इस विषय को यहीं समाप्त करते हैं···।

[अल-बिरूनी ने इससे कुछ पहले यह भी संकेत दिया था कि ब्रह्मगुप्त ने इस प्रकार की अवैज्ञानिक व्याख्या शायद इस कारण से प्रस्तुत की होगी क्योंकि ब्राह्मण होने के नाते वह भी उनके द्वारा प्रतिपादित सामान्य सिद्धांतों का समर्थन कर रहा था। या हो सकता है कि इस प्रकार के मूर्खतापूर्ण विचारों को दुहराकर वह उन लोगों का उपहास कर रहा हो जिन्होंने उनका समर्थन किया था।]

साठवां अध्याय

पर्वन्

'पर्वन्' शब्द की व्याख्या

वे अंतराल जिनके वीच ग्रहण पड़ने की संभावना होती है और उनके चांद्र मासों की संख्या का विशद वर्णन 'अलमजीस्ती' के छठे अध्याय में किया गया है। हिन्दू उस कालावधि को जिसके आरंभ और अंत में चंद्रग्रहण होता है 'पर्वन्' कहते हैं।

[इस विषय पर कुछ जानकारी वराहमिहिर की 'संहिता' से उद्धृत की गयी है और एक तालिका भी दी गयी है जिसमें ग्रहण-चक्र और उनमें से प्रत्येक के 'विशिष्ट गुण और मौसम वार्ता' दर्शाई गयी है। पश्चोक्त मुद्दे के वारे में अल-विरूनी का विचार है कि पर्वों के फलित-ज्योतिष-संवंधी कुलक्षणों के विषय में वराहमिहिर ने जो कुछ कहा है वह "उसके पांडित्य के अनुरूप नहीं है।"

पर्वों की गणना के संवंध में 'खांडखाद्यक' से नियम उद्धृत किए गये हैं। पृ० 115-17]

इकसठवां अध्याय

धर्म तथा खगोलशास्त्र की दृष्टि से विभिन्न काल-मानों के अधिष्ठाता और तत्संबंधी विषय

किस काल-मान के अधिष्ठाता होते हैं और किसके नहीं

विशिष्ट कालावधि या सामान्य समय का संबंध केवल स्रष्टा से होता है और वह 'उसकी' आयु का प्रतीक होता है—उसका न कोई आदि होता है और न अंत। वास्तव में समय ही उसकी नित्यता है। वे इसे प्रायः 'आत्मा' अर्थात् 'पुरुष' की संज्ञा देते हैं। लेकिन जहां तक सामान्य समय का संबंध है जिसका निर्धारण गति के माध्यम से किया जाता है उसके पृथक-पृथक अंश स्रष्टा के अतिरिक्त प्राणियों पर भी लागू होते हैं और उनका संबंध 'आत्मा' के अलावा प्राकृतिक घटनाओं से भी होता है। इसीलिए 'कल्प' का प्रयोग सदैव ब्रह्म के संबंध में किया जाता है क्योंकि यह उसी का दिन और रात है और उसका जीवन इसी से निर्धारित होता है।

प्रत्येक मन्वंतर का एक विशिष्ट अधिष्ठाता होता है जिसे 'मनु' कहते हैं। मनु का वर्णन कतिपय विशेष गुणों के साथ किया जाता है जिनका उल्लेख पिछले किसी अध्याय में किया जा चुका है। इसके विपरीत मैंने 'चतुर्युग' या 'युगों' के अधिष्ठाताओं के बारे में कभी कुछ नहीं सुना।

[अल-बिरूनी ने वर्ष और मास के नियामक के निर्धारण के संबंध में नियमों का उल्लेख किया है जो 'खांडखाद्यक' में दिए गये हैं 'जिनका वे सर्वाधिक प्रयोग करते हैं'। उसने कुछ तालिकाएं भी दी हैं जिनमें 'विष्णु-पुराण' के अनुसार ग्रहों के अधिष्ठाता दिखाए गये हैं। पृ० 119-22]

बासठवां अध्याय

साठ वर्ष-संवत्सर जिसे 'षष्ट्यब्द' भी कहा जाता है

'संवत्सर' तथा 'षष्ट्यब्द' शब्दों की व्याख्या

'संवत्सर' शब्द जिसका अर्थ 'वर्ष' होता है एक ऐसा पारिभाषिक शब्द है जो वर्षचक्र के लिए प्रयुक्त होता है जिनका निर्माण बृहस्पति और सूर्य की परिक्रमाओं के आधार पर होता है और बृहस्पति के सहसूर्य उदय को इसका प्रारंभ माना जाता है। यह साठ वर्ष में अपनी परिक्रमा पूरी करता है और इसी कारण से 'षष्ट्यब्द'—अर्थात् साठ वर्ष—कहलाता है...।

साठ वर्षों के चक्र में निहित लघुत्तर चक्र

महा युगों का प्रारंभ बृहस्पति के सहसूर्य उदय के साथ धनिष्ठा और माघ मास नक्षत्र के प्रारंभ में होता है। छोटे युगों का महा युगों में एक विशेष क्रम होता है जो समूहों में बंटे होते हैं और इन समूहों में वर्षों की कुछ विशेष संख्याएं सम्मिलित होती हैं और उनमें से प्रत्येक का एक विशिष्ट अधिष्ठाता होता है। यह विभाजन निम्नलिखित तालिका में दर्शाया गया है...।

[तालिका पृ० 125 पर दी गयी है।]

संवत्सर के अलग-अलग वर्षों के नाम

साठ वर्षों में से प्रत्येक वर्ष का अपना पृथक नाम है, और युगों के भी नाम होते हैं जो उनके अधिष्ठाताओं पर होते हैं। ये सभी नाम नीचे की तालिका में दर्शाए गये हैं।

इस तालिका का प्रयोग उसी प्रकार किया जाना चाहिए जैसे पहली तालिका का किया गया था, क्योंकि आपको समस्त काल-चक्र (साठ वर्ष) के प्रत्येक वर्ष का नाम उसकी तदनुरूपी संख्या के नीचे मिल जाएगा। यदि हम एक-एक नाम का अर्थ और उनके पूर्वानुमानों की व्याख्या करने लगें तो काम लंबा हो जाएगा। यह सब आपको 'संहिता' नाम पुस्तक में मिल जाएगा।

[तालिका पृ० 127-28 पर दी गयी है।]

तिरसठवां अध्याय

ऐसे विषय जिनका विशेष रूप से ब्राह्मणों से संबंध है और उनके लिए समस्त जीवन में क्या करना अनिवार्य है

ब्राह्मण के जीवन में पहला चरण

ब्राह्मणों का जीवन सात वर्ष की आयु बीतने के बाद चार भागों में विभक्त किया जाता है। पहला भाग आठवें वर्ष में शुरू होता है जब ब्राह्मण उसे दीक्षा देने, उसे कर्तव्य-पालन की शिक्षा देने और उन पर दृढ़ रहने और जीवन-भर उनका पालन करने का पाठ सिखाने आते हैं। उस समय वे उसकी कमर में एक कटिबंध बांधते हैं और उसे एक जोड़ी यज्ञोपवीत पहनाते हैं—यह यज्ञोपवीत एक ऐसे मजबूत धागे का होता है जिसमें नौ इकहरे धागे होते हैं जिन्हें बटा जाता है—और फिर एक तीसरा यज्ञोपवीत होता है जो कपड़े से बनाया जाता है। यह कटिबंध बाएं कंधे से दाएं कूल्हे तक जाता है। इसके साथ ही उसे एक दंड धारण करने के लिए दिया जाता है और 'दर्भ' नामक विशेष घास की एक मुद्रिका पहनाई जाती है जो वह अपने दाहिने हाथ की अनामिका में पहनता है। इस मुद्रिका को 'पवित्र' भी कहा जाता है। अनामिका में मुद्रिका के पहनने का यह उद्देश्य है कि वह उन सबके लिए एक शुभ लक्षण और वरदान सिद्ध हो जो उस हाथ से दान प्राप्त करें। इस मुद्रिका के पहनने का विधान इतना कठोर नहीं जितना यज्ञोपवीत धारण करने का होता है, क्योंकि यज्ञोपवीत तो वह किसी भी परिस्थिति में अपने से अलग नहीं कर सकता। यदि वह भोजन करते समय या शौचादि के समय उसे उतार भी दे तो वह ऐसे पाप का भाजन बनता है जिसका निराकरण किसी प्रायश्चित्त, व्रत या भिक्षा-दान के सिवाय नहीं हो सकता।

ब्राह्मण के जीवन की यह पहली अवस्था उसकी आयु के पच्चीसवें वर्ष तक या 'विष्णु-पुराण' के अनुसार अड़तालीसवें वर्ष तक रहती है। उसका कर्तव्य संयत जीवन बिताना, धरती को अपनी शय्या बनाना, वेद तथा धर्मशास्त्र और

न्याय के संबंध से उसके भाष्य का अध्ययन आरंभ करना है और यह सब उसे उसका गुरु सिखाता है जिसकी वह दिन-रात सेवा करता है। वह दिन में तीन बार स्नान करता है और प्रातःकाल तथा संध्या के समय हवन करता है। हवन के पश्चात् वह अपने गुरु की पूजा करता है। वह एक दिन व्रत रखता है और दूसरे दिन भोजन करता है, परंतु उसके लिए मांस-भक्षण वर्जित है। वह गुरु के घर में रहता है और वहां से तभी निकलता है जब उसे भिक्षा मांगनी होती है और वह दिन में पांच से अधिक घरों से भिक्षा नहीं मांगता। यह भिक्षाटन वह दोपहर को और / या संध्या के समय करता है। भिक्षा में उसे जो कुछ भी मिलता है वह उसे अपने गुरु के सामने रख देता है जिसमें से वह जो चाहे ले ले। उसके बाद जो कुछ बचता है वह उसका गुरु उसे दे देता है। इस प्रकार शिष्य अपने गुरु की जूठन खाकर पेट भरता है। इसके अलावा वह अग्नि के लिए समिधा जुटाता है जो दो प्रकार के वृक्षों—पलाश और दर्भ—की लकड़ी होती है जिसे वह हवन के लिए लाता है। इसका कारण यह है कि हिन्दू अग्नि की उपासना करते हैं और उस पर पुष्प चढ़ाते हैं। अन्य सभी जातियों में भी यह होता है। उनका हमेशा से यह विचार रहा है कि यज्ञ को देवता तभी स्वीकार करते हैं जबकि उसमें अग्नि प्रज्ज्वलित की जाए और किसी भी प्रकार की पूजा चाहे वह मूर्तिपूजा हो अथवा तारकों की पूजा, गौ-पूजा हो अथवा गर्दभ की या प्रतिमाओं की, उन्हें यज्ञ करने से हटा नहीं सकती। यही कारण है कि वश्शार इब्न बुर्द कहता है, "चूंकि वहां अग्नि है इसलिए उसकी पूजा होती है।"

ब्राह्मण के जीवन की दूसरी अवस्था

उनके जीवन की दूसरी अवस्था पच्चीसवें वर्ष से पचासवें वर्ष तक या 'विष्णु-पुराण' के अनुसार सत्तरवें वर्ष तक होती है। गुरु उसे विवाह की अनुमति दे देता है। वह विवाह करता है, घर बसाता है और संतान की इच्छा करता है लेकिन वह अपनी पत्नी के साथ मास में एक ही बार उसके मासिक धर्म से निवृत्त हो जाने के बाद संभोग करता है। उसे बारह वर्ष से अधिक आयु की स्त्री से विवाह करने की अनुमति नहीं होती। उसकी जीविका या तो उस दक्षिणा से पूरी होती है जो उसे ब्राह्मणों और क्षत्रियों को पढ़ाने से प्राप्त होती है—यह दक्षिणा उसका पारिश्रमिक नहीं वरन् उपहार होता है—या फिर उसका निर्वाह उन उपहारों से हो जाता है जो उसे किसी यज्ञादि करने के लिए या राजाओं और सामंतों से उपहार मांगने पर प्राप्त होते हैं बशर्ते कि इस संबंध में न उसका कोई विशेष आग्रह हो और न ही देने वाला अनिच्छा से दे। उन लोगों के घरों में सदा एक ब्राह्मण रहता है जो उनसे धार्मिक विधि-निषेधों का पालन कराता है और धर्म-कर्म में उनका मार्गदर्शन करता है। वह पुरोहित कहलाता है। ब्राह्मण के

लिए अंतिम शर्त यह है कि वह धरती से या पेड़-पौधों से जो कुछ प्राप्त करता है उसी से जीवन-यापन करे। वह कपड़ा या पान-सुपारी का व्यापार करके अपना भाग्य आज़मा सकता है, लेकिन उसके लिए यही श्रेयस्कर है कि वह स्वयं व्यापार न करे और उसकी ओर से वैश्य व्यापार करें क्योंकि मूल रूप से उसके लिए व्यापार इसलिए वर्जित है कि उसमें झूठ और धोखाधड़ी शामिल होती है। उसके लिए व्यापार की अनुमति केवल उसी स्थिति में होती है जब उसके लिए वह सर्वथा आवश्यक हो जाए और उसकी जीविका का अन्य कोई साधन उसके पास न रहे। अन्य जातियों की तरह ब्राह्मण को कर देना बाध्यकर नहीं है, न ही राजाओं की सेवा करना उन पर वाजिब है। इसके अलावा उसे लगातार घोड़े और गाएं रखने की भी अनुमति नहीं है; न वह पशुपालन कर सकता है और न ही सूदखोरी से धन कमा सकता है। उसके लिए नीला रंग अपवित्र माना जाता है, इसीलिए यदि उसके शरीर पर नीला रंग लग जाए तो उसके लिए स्नान करने का विधान है। अंत में, उसके लिए यज्ञ के समय सदा ढोल बजाना और उस अवसर पर निर्दिष्ट मंत्रों का पाठ करना भी अनिवार्य है।

तीसरी अवस्था

ब्राह्मण के जीवन की तीसरी अवस्था पचासवें वर्ष से लेकर पचहत्तरवें वर्ष तक या 'विष्णु-पुराण' के अनुसार नब्बेवें वर्ष तक होती है। वह व्रत रखता है, अपनी गृहस्थी का त्याग करता है और घर-बार तथा अपनी पत्नी को यदि वह वानप्रस्थ आश्रम में उसके साथ रहने के लिए तैयार नहीं होती, अपनी संतान के सुपुर्द कर देता है। वह समाज से बाहर रहता है और वही जीवन दुबारा व्यतीत करता है जो पहली अवस्था में व्यतीत कर चुका है। वह किसी चारदीवारी में नहीं रहता और न ही पेड़ की छाल के अलावा, जो उसके कटिप्रदेश को ढंक भर लेती है, कोई वस्त्र पहनता है। वह धरती पर बिना किसी बिछौने के सोता है और फल और कंद-मूल खाकर भरण-पोषण करता है। वह अपने बाल बढ़ा लेता है और उन पर तेल भी नहीं लगाता।

चौथी अवस्था

चौथी अवस्था जीवन के अंत तक रहती है। वह गेरुवे वस्त्र धारण करता है और हाथ में एक छड़ी रखता है। वह सदैव ध्यान में मग्न रहता है; वह अपने मन को मित्रता और शत्रुता से रहित कर देता है और काम, क्रोध और मोह का परित्याग कर देता है। वह किसी से भी वार्तालाप नहीं करता। जब वह किसी दैवी वरदान की प्राप्ति के लिए किसी विशिष्ट स्थान की पदयात्रा करता है तो वह मार्ग के किसी भी गांव में एक दिन से अधिक और किसी नगर में पांच दिन से

अधिक नहीं रुकता। यदि कोई उसे कुछ देता है तो वह उसमें से अगले दिन के लिए कुछ नहीं बचाता। उसका इसके सिवाय कोई काम नहीं है कि मुक्ति-मार्ग पर अग्रसर रहे जिससे वह मोक्ष-प्राप्ति कर सके जहां से लौटकर इस संसार में न आना पड़े।

ब्राह्मणों के सामान्य धर्म

ब्राह्मण को अपने समस्त जीवन में जिन सार्वभौम कर्तव्यों का पालन करना होता है वे हैं पुण्य कर्म, भिक्षादान तथा भिक्षाप्राप्ति, क्योंकि ब्राह्मण जो कुछ दान करते हैं वह उनके पितरों को पहुंच जाता है। उसके लिए निरंतर पढ़ते रहना, यज्ञ करना, जो अग्नि वह प्रज्ज्वलित करता है उसे संजोना, उस पर नैवेद्य अर्पित करना, उसकी पूजा करना और उसे बुझने न देना अनिवार्य है ताकि उसी अग्नि में मरणोपरांत उसका दाह-संस्कार किया जा सके। यह 'होम' कहलाता है।

प्रति दिन उसे तीन बार स्नान करना चाहिए: सूर्योदय की संधि के समय, सूर्यास्त की संधि के समय और उन दोनों के बीच मध्याह्न के समय। पहला स्नान तो निद्रा के कारण किया जाए क्योंकि शरीर के छिद्र इस अवधि में शिथिल पड़ जाते हैं। स्नान आकस्मिक अशुचिता से शुद्ध होने और प्रार्थना के लिए तैयारी करने के उद्देश्य से किया जाता है।

उसकी प्रार्थना में स्तुति, कीर्तन और उनकी विशिष्ट रीति के अनुसार किया गया प्रणिपात शामिल होता है अर्थात् वे अपने दोनों अंगूठों पर दंडवत् करते हैं जबकि हाथों की दोनों हथेलियां जुड़ी होती हैं और वे अपना मुख सूर्य की ओर करते हैं। इसका कारण यह है कि सूर्य दक्षिण के अलावा चाहे कहीं भी हो उनका 'किब्ला' है क्योंकि जब उनका मुख दक्षिण की ओर रहता है तो वे कोई पुण्य कर्म नहीं करते। वे दक्षिणाभिमुख केवल उसी स्थिति में होते हैं जब वे किसी बुरे अथवा अशुभ में लगे होते हैं।

वह समय जब सूर्य याम्योत्तरवृत्त (अपराह्न) से नीचे की ओर उतरता है कोई दैवी पुरस्कार प्राप्त करने के लिए अनुकूल माना जाता है। इसीलिए उस समय ब्राह्मण को शुद्ध होना चाहिए।

संध्या-काल रात्रि के भोजन और संध्या-पूजा का समय होता है। ब्राह्मण रात्रि का भोजन करके बिना स्नान किए संध्या-पूजा कर सकता है। इसीलिए पहले और दूसरे स्नान की तुलना में तीसरी बार के स्नान के विषय में किसी कठोरता का विधान नहीं है।

रात के समय का स्नान ब्राह्मण के लिए केवल सूर्य या चंद्रग्रहण के समय ही अनिवार्य है, ताकि वह उस अवसर के लिए विहित नियमों और यज्ञादि करने के लिए तैयार हो सके।

ब्राह्मण जीवनपर्यंत दिन में केवल दो बार भोजन करता है—दोपहर को और रात को। और जब भी उसे भोजन करना हो खाना शुरू करने से पहले वह उतना भोजन अलग रख देता है जो एक या दो व्यक्तियों के लिए विशेष रूप से उन अपरिचित ब्राह्मणों के लिए पर्याप्त हो जो हो सकता है शाम के समय कुछ मांगते हुए आ निकलें। उनके भरण-पोषण की उपेक्षा पाप है। इसके अतिरिक्त वह कुछ खाने-पीने की सामग्री पशु-पक्षियों और अग्नि-देवता के लिए भी अलग रख देता है। शेष बचे भोजन को वह मंत्रोच्चार करके खाता है। उसकी थाली में जो कुछ बच रहता है उसे वह घर के बाहर रख देता है और फिर उसके पास नहीं जाता क्योंकि वह उसके लिए वर्जित है और केवल उसी पथिक के लिए है जो संयोग से उधर आ निकले और उसकी मांग करे चाहे वह कोई मनुष्य हो, पक्षी हो, कुत्ता हो या कोई और चीज़ हो।

ब्राह्मण के पास पानी के लिए पात्र अवश्य होना चाहिए। यदि कोई दूसरा उसका इस्तेमाल कर ले तो वह फोड़ दिया जाता है। यही बात उसके खाने के बरतनों पर भी लागू होती है। मैंने ऐसे ब्राह्मण देखें है जो अपने रिश्तेदारों को अपने साथ ही थाली में खिलाते थे, लेकिन उनमें भी अधिकांश ऐसे थे जो ऐसा करना पसंद नहीं करते थे।

उसे उत्तर में सिंधु नदी और दक्षिण में चर्मण्वती नदी के बीच रहना पड़ता है। उसे इन दोनों में से किसी भी सीमा को लांघने की अनुमति नहीं है जिससे कि वह तुर्कों के देश में या कर्णाटक देश में प्रवेश न कर जाए। साथ ही उसे पूर्व और पश्चिम के महासागर के बीच में निवास करना चाहिए। लोगों का कहना कि उसे ऐसे किसी देश में रहने की अनुमति नहीं है जिसमें वह घास नहीं उगती जिसे वह अनामिका में पहनता है या जहां काले बालों वाले मृग नहीं चरते। यह वर्णन उस सारे देश के लिए है जो उपरिलिखित सीमाओं के अंदर स्थित है। यदि वह उन सीमाओं का अतिक्रमण करता है तो उसे पाप लगता है।

ऐसे देश में जहां घर की वह सारी जगह जो इसलिए बनाई जाती है कि लोग वहां बैठकर भोजन करें मिट्टी से नहीं लीपी जाती, बल्कि इसके विपरीत वे भोजन करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक अलग चौका तैयार करते हैं और वह इस तरह कि किसी जगह पर पानी छिड़क कर उसे गाय के गोबर से लीप देते हैं। ब्राह्मण के चौके को वर्गाकार होना चाहिए। जिन लोगों में इस प्रकार के चौके बनाने की प्रथा है वे इसका यह कारण बताते हैं : जिस स्थान पर बैठकर भोजन किया जाता है वह भोजन करने से जूठा हो जाता है। इसलिए यदि भोजन की क्रिया समाप्त हो चुकी हो तो उस स्थान को धोकर और लीप कर फिर पवित्र कर दिया जाता है। यदि जूठे स्थान को एक चिह्न विशेष से पृथक न किया जाए तो तुम समझोगे कि दूसरे स्थान भी जूठे ही हैं, क्योंकि वे एक

दूसरे से मिलते-जुलते हैं और उन्हें अलग नहीं किया जा सकता।

धर्मशास्त्र मे उनके लिए पांच सब्जियां निषिद्ध हैं : प्याज, लहसुन, एक विशेष प्रकार का कद्दू, गाजर जैसे कंद की जड़ जिसे 'ऋंचन' कहते हैं और एक और तरकारी जो उनके पोखरों के आसपास उगती है और जो 'नालि' कहलाती है।

चौंसठवां अध्याय

धार्मिक कृत्य और रीति-रिवाज जिनका ब्राह्मणों से इतर जातियां जीवन-भर पालन करती हैं

भिन्न-भिन्न जातियों के कर्तव्य-कर्म

क्षत्रिय वेदाध्ययन कर सकता है और उन्हें कंठस्थ कर सकता है, लेकिन उसकी शिक्षा नहीं दे सकता। वह अग्नि में नैवेद्य चढ़ाता है और पुराणों में दी गयी विधियों के अनुसार आचरण करता है। उन स्थानों पर जिनके बारे में हम बता चुके हैं वह भोजन के लिए चौका त्रिकोणाकार बनाता है। वह प्रजा पर शासन करता है और उसकी रक्षा करता है, क्योंकि उसकी सृष्टि इसी काम के लिए की गयी है। वह तीन धागों से बटा हुआ यज्ञोपवीत धारण करता है और एक दूसरा सूती जनेऊ पहनता है। यह जनेऊ वह बारह वर्ष पूरे होने के बाद धारण करता है।

वैश्य का काम खेती करना, ज़मीन जोतना, पशुपालन और ब्राह्मणों की आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। उसे दो धागों का एक जनेऊ पहनने का ही अधिकार है...।

शूद्र ब्राह्मण के सेवक-जैसा होता है जो उसके काम-काज की देखभाल और उसकी सेवा करता है। सर्वथा दरिद्र होते हुए भी यदि यज्ञोपवीत के बिना नहीं रहना चाहता तो वह क्षौम से बनी जनेऊ धारण कर लेता है। हर वह कार्य जो ब्राह्मण का विशेषाधिकार समझा जाता है—जैसे संध्या-पूजा करना, वेद-पाठ करना और अग्नि में होम देना—उसके लिए निषिद्ध है। यहां तक कि उदाहरण के लिए यदि किसी शूद्र या वैश्य के बारे में यह सिद्ध हो जाए कि उसने वेद का पाठ किया है तो ब्राह्मण राजा के सामने उसे अपराधी ठहराते हैं और राजा उसकी जीभ काट डालने की आज्ञा दे देता है। परंतु परमात्मा का ध्यान करना, पुण्यकर्म करना और भिक्षादान ऐसे काम हैं जो उसके लिए निषिद्ध नहीं हैं।

प्रत्येक मनुष्य जो कोई ऐसा व्यवसाय करने लगता है जो उसकी जाति के लिए वर्जित है, जैसे ब्राह्मण का व्यापार करना, शूद्र का खेती करना तो वह एक ऐसे पाप या अपराध का दोषी माना जाता है जिसे वे चोरी जैसा ही समझते है।

[अल-बिरूनी ने हिन्दुओं में प्रचलित एक कथा का वर्णन किया है कि राजा राम के काल में मनुष्य की आयु बहुत लंबी और सुनिश्चित होती थी, यहां तक कि कोई भी बच्चा अपने पिता के पहले न मरता था। लेकिन एक बार ऐसा हुआ कि एक ब्राह्मण का पुत्र अपने पिता के जीवनकाल में ही मर गया। पिता उसे राजमहल में ले गया और उसने विलाप करते हुए कहा कि "देश में कहीं कुछ विकार आ गया है···।" तब राम ने उस विकार का कारण जानने का प्रयास किया और अंत में लोगों ने एक चांडाल की ओर संकेत किया जो बड़े परिश्रम से भगवत्-पूजा और घोर तपस्या कर रहा था। राजा घोड़े पर सवार होकर उसके पास पहुंचा। उसने देखा कि वह गंगा के किनारे नीचे की ओर सिर किए किसी चीज पर लटक रहा है। राजा ने अपना धनुष झुकाया और बाण चलाकर उसकी अंतड़ियां निकाल डालीं। इसके बाद उसने कहा, "मैंने तुझे उस सत्कर्म के लिए मारा है जिसे करने का तुझे अधिकार नहीं है।" जब राजा लौटकर राजमहल पहुंचा तो उसने देखा कि ब्राह्मण का पुत्र जीवित हो उठा है।]

चांडाल के अतिरिक्त सभी मनुष्य, जहां तक वे हिन्दू नहीं हैं, म्लेच्छ अर्थात् अपवित्र कहे जाते हैं। इनमें वे सब आ जाते हैं जो मनुष्यों का वध करते हैं, पशुओं की हत्या करते हैं और गौ-मांस खाते हैं।

सभी प्राणियों के समान होने के संबंध में दार्शनिक मत

इन सब बातों के मूल में वर्गों अथवा जातियों का अंतर है जिनमें एक वर्ग या जाति के लोग दूसरे सभी लोगों को मूर्ख समझते हैं। इसके विपरीत सभी मनुष्य परस्पर समान हैं। वासुदेव का ऐसे व्यक्ति होने के संबंध में कथन है जो मोक्ष चाहता है, "बुद्धिमान व्यक्ति के विचार में ब्राह्मण और चांडाल, मित्र और शत्रु, विश्वासपात्र और विश्वासघाती, यहां तक कि सांप और नेवला भी समान हैं। यदि एक ओर बुद्धिमान की दृष्टि में सभी चीजें समान हैं तो दूसरी ओर अज्ञानी की दृष्टि से वे उतनी ही अलग और भिन्न होती हैं।"

पैंसठवां अध्याय

यज्ञ

अश्वमेध

वेद के अधिकांश भाग में यज्ञों की चर्चा है और उसमें प्रत्येक यज्ञ का वर्णन किया गया है। यज्ञों का विस्तार भिन्न-भिन्न है इसीलिए उनमें से कुछ तो ऐसे हैं जिन्हें केवल चक्रवर्ती राजा ही कर सकता है जैसे 'अश्वमेध'। इसमें एक घोड़ी[37] देश में कहीं भी चरने के लिए खुली छोड़ दी जाती है जिसका कोई रास्ता नहीं रोकता। सैनिक उसके पीछे-पीछे चलते हैं, उसे हाँकते रहते हैं और उसके आगे उद्घोप करते हैं, "यह संसार की सम्राट है और जो ऐसा नहीं मानता वह सामने आए!" ब्राह्मण उसके पीछे चलते हैं और जहाँ-जहाँ वह लीद करती है वे हवन करते हैं। जब वह इस प्रकार संसार के समस्त भागों में घूम लेती है तो वह ब्राह्मणों का तथा उस व्यक्ति का भोजन बन जाती है जो उसका मालिक होता है।

इन यज्ञों की अवधि भी भिन्न-भिन्न होती है जिससे केवल वही कुछ यज्ञों को कर सकता है जो दीर्घायु होता है और ऐसी लंबी आयु हमारे इस युग में होती नहीं है। यही कारण है कि इनमें से अधिकांश यज्ञ समाप्त हो गये हैं और केवल कुछ ही शेष हैं जो आज भी किए जाते हैं।

सामान्य यज्ञ

हिन्दुओं के मतानुसार अग्नि सर्वभक्षी होती है। इसीलिए कोई भी अपवित्र वस्तु—जैसे जल—इसमें मिल जाती है तो वह अपवित्र हो जाती है। यही कारण है कि यदि अग्नि और जल गैर-हिन्दुओं के हाथ में हो तो उन्हें हिन्दू अपने लिए जायज नहीं समझते क्योंकि उनके स्पर्श से वे भी भ्रष्ट हो जाएंगे।

अग्नि पर जो भी कुछ चढ़ाया जाता है वह देवताओं को पहुंच जाता है, क्योंकि आग उन्हीं के मुंह से निकलती है। ब्राह्मण जो कुछ अग्नि पर चढ़ाते हैं वह है तेल तथा अन्य खाद्यान्न—गेहूं, जौ और चावल—जिन्हें वह अग्नि में डालते हैं।

इसके अतिरिक्त यदि वे अपनी ओर से कोई चढ़ावा देते हैं तो वेद के निर्दिष्ट मंत्रों का पाठ करते हैं। लेकिन यदि वे किसी अन्य व्यक्ति की ओर से कुछ चढ़ाते हैं तो कोई मंत्र नहीं पढ़ते···।

[अग्नि के कुष्ट रोग से पीड़ित होने की कथा 'विष्णु-धर्म' से ली गयी है। पृ० 140-41]

छियासठवां अध्याय

तीर्थस्थानों के दर्शन और तीर्थयात्रा

हिन्दुओं के लिए तीर्थयात्रा अनिवार्य नहीं, वैकल्पिक है और एक पुण्य-कर्म है। कोई भी मनुष्य किसी पुण्यस्थल पर विचरण के लिए घर से निकलता है, किसी पावन मूर्ति के दर्शन करने या कुछ पवित्र नदियों में स्नान करने जाता है। वहां जाकर वह उन स्थानों में पूजा करता है, मूर्ति को पूजता है, उसपर चढ़ावे चढ़ाता है, अनेक भजन गाता है, प्रार्थना करता है, व्रत रखता है, और ब्राह्मणों, पुजारियों तथा अन्य लोगों को भिक्षा देता है। वह अपने सिर तथा दाढ़ी के बाल मुंड़ा देता है और घर लौट आता है।

बहुत पुण्य और पावन सरोवर मेरु के इर्द-गिर्द ठंडे पर्वतों में स्थित हैं···।

पवित्र सरोवरों का निर्माण

हमने हिन्दुओं के पुराणों से इस विषय में पहले ही बहुत कुछ उद्धृत कर दिया है कि द्वीपों में गंगा जैसी कई नदियां हैं। प्रत्येक ऐसे स्थान में जिसके साथ कोई विशेष पवित्रता जुड़ी हुई है हिन्दू स्नान के लिए सरोवर का निर्माण करते हैं। इसमें उन्होंने बहुत उच्च कोटि की कला प्रदर्शित की है जिसे हमारे लोग (मुसलमान) जब उन्हें देखते हैं तो चकित रह जाते हैं और उनसे मिलती-जुलती किसी चीज़ का बनाना तो दूर, उनका वर्णन तक नहीं कर पाते। वे इन सरोवरों का निर्माण करते समय भारी-भारी और बड़े पत्थरों का इस्तेमाल करते हैं जिन्हें तीखे और मजबूत लोहे से इस तरह जोड़ा जाता है कि वे अनेक कगारों जैसी सीढ़ियां बन जाते हैं और ये पैड़ियां सरोवर के चारों ओर कद्दे-आदम ऊंचाई तक बनाई जाती हैं। दो पैड़ियों के बीच पत्थरों की सतह पर वे सीढ़ियां बनाते हैं जो शिखरों की तरह ऊपर को उठी हुई होती हैं। इस प्रकार पहली सीढ़ियां या कगार एक प्रकार से सड़कों का काम करती हैं (जो तालाब के इर्द-गिर्द जाती हैं) और कलश एक प्रकार की सीढ़ियां हैं (जिनसे ऊपर-नीचे आया जा सकता है)। यदि अनेक लोग तालाब के ऊपर चढ़ते और दूसरे उतरते हैं तो वे एक-दूसरे से मिल

नहीं पाते और न ही कभी सड़क रुकती है, क्योंकि कगार अनेक हैं और चढ़नेवाला व्यक्ति उस कगार पर जाने की बजाय जहां से लोग नीचे उतर रहे हैं मुड़कर किसी और कगार पर जा सकता है। यह एक ऐसी व्यवस्था है जिससे भीड़ कभी इतनी नहीं बढ़ती कि कष्टकर सिद्ध हो।

अलग-अलग पुण्य सरोवर

मुल्तान में एक तालाब है जिसमें यदि रोका न जाए तो हिन्दू वहां स्नान करके ही पूजा करते हैं। [थानेश्वर स्थित सरोवर के संबंध में जिसे बहुत पवित्र माना जाता है वराहमिहिर की 'संहिता' के उद्धरण दिए गये हैं।]

विभिन्न प्राणियों में असमानता और देशभक्ति का उद्गम; शौनक की कथा

ये सरोवर अपनी पवित्रता के लिए विशेष रूप से इसलिए प्रसिद्ध हो जाते हैं क्योंकि उनपर कोई महत्वपूर्ण घटना घटी है या किसी धर्मग्रंथ या पुराणों में कोई ऐसा अवतरण मौजूद है जिसमें उनका हवाला दिया गया है। हम शौनक के शब्द पहले ही उद्धृत कर चुके हैं। शुक्र ने ब्रह्मा के आदेश पर ये शब्द उससे कहे थे जो मूल ब्रह्मा को ही संबोधित थे। उस पाठ में राजा बलि का भी उल्लेख हुआ है और यह बताया गया है कि वह उस समय तक क्या करेगा जब तक कि नारायण उसे पाताल में न ले जाए। उसी पाठ में यह अवतरण भी आता है : "मैं उसके साथ ऐसा इसलिए करता हूं कि मनुष्यों में समानता जो वह प्राप्त करना चाहता है समाप्त हो जाएगी, मनुष्य अपनी जीवन-परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न होंगे और इसी भिन्नता या असमानता पर संसार की व्यवस्था टिकेगी। इसके अलावा लोग उसे न पूजकर मेरी पूजा करेंगे और मुझ पर विश्वास करने लगेंगे। सभ्य जनों में परस्पर सहायता-भाव तभी उत्पन्न होता है जब उनमें थोड़ा-बहुत फर्क होता है और जिसके परिणामस्वरूप एक को दूसरे की आवश्यकता पड़ती है। इसी सिद्धांत के अनुसार परमात्मा ने ऐसे संसार की सृष्टि की है जिसमें अनेक भेद विद्यमान हैं। इस प्रकार प्रत्येक देश दूसरे से भिन्न है—यदि एक शीतल है तो दूसरा ऊष्ण; एक की मिट्टी, जल और वायु अच्छी है तो दूसरे की मिट्टी खारी है, जल गंदा और दुर्गंधयुक्त है और वायु अस्वास्थ्यकर। इसके 'अतिरिक्त' कुछ और अंतर भी हैं : कुछ मामलों में सभी प्रकार के असंख्य लाभ हैं तो दूसरों में उनकी संख्या बहुत कम है। कुछ भाग ऐसे हैं जहां प्राकृतिक विपत्तियां समय-समय पर आती रहती हैं; तो कुछ ऐसे हैं जहां विपत्ति का नाम-निशान भी नहीं। यही सब कारण सभ्य लोगों को ऐसे स्थान सावधानी से चुनने के लिए प्रेरित करते हैं जहां वे नगरों का निर्माण कर सकें।

"जो चीज़ लोगों से ये काम करवाती है वे हैं उनके रीति-रिवाज। लेकिन

धार्मिक आदेश उनसे कहीं अधिक शक्तिशाली होते हैं और उनका प्रभाव मनुष्य की प्रकृति पर रीति-रिवाजों की अपेक्षा कहीं अधिक पड़ता है। रीति-रिवाज अपनाने या उनका परित्याग करने से पहले उनके मूल की खोज की जाती है, उनकी जांच-परख की जाती है जबकि धार्मिक आदेशों के आधार को स्पर्श ही नहीं किया जाता, उनकी कोई खोज-बीन नहीं की जाती बल्कि अधिकांश लोग केवल 'आस्था' के आधार पर उनका पालन करते हैं। वे उन आदेशों पर तर्क-वितर्क नहीं करते उसी प्रकार जैसे किसी बंजर प्रदेश के निवासी इसलिए उस पर तर्क नहीं करते क्योंकि वे उसी में उत्पन्न हुए हैं और उससे इतर कुछ नहीं जानते। वे उस प्रदेश को अपनी मातृभूमि मानते हैं और उसे छोड़ना उनके लिए मुश्किल होता है। यदि भौतिक अंतरों के अतिरिक्त नियम-व्यवस्था की दृष्टि से भी एक-दूसरे में फर्क हो तो भी रहने वालों के हृदय में उसके प्रति इतना लगाव होता है कि उसे दूर करना संभव नहीं है।"

बनारस साधु-संन्यासियों का शरण-स्थल

हिन्दुओं के कुछ स्थान ऐसे हैं जो उनसे सम्बद्ध नियमों और धर्म के कारण पूज्य बन जाते हैं जैसे बनारस (वाराणसी)। साधु-संन्यासी वहां आते हैं और वहीं रह पड़ते हैं ठीक उसी तरह जैसे काबे के रहने वाले हमेशा के लिए मक्का में रह जाते हैं। वे मृत्युपर्यंत वहीं रहना चाहते हैं, ताकि मरने के बाद उन्हें वहां रहने का पुण्य प्राप्त हो। उनकी यह धारणा है कि हत्यारा अपने अपराध के लिए उत्तर-दायी होता है और उसे अपने अपराध के अनुरूप दंड दिया जाता है। वह तभी बच सकता है जब वह बनारस शहर में चला जाए जहां उसे क्षमा मिल जाती है।

इसी प्रकार का दूसरा स्थान है थानेश्वर, जिसे कुरुक्षेत्र अर्थात् कुरु का देश भी कहा जाता है जो एक किसान, एक धर्मपरायण, पुण्यात्मा था जो दैवी शक्ति की सहायता से चमत्कार किया करता था। इसी कारण उस प्रदेश का उसी के नाम पर यह नाम पड़ा और उसी के कारण उसे पूजा जाता है। इसके अलावा थानेश्वर वह स्थान है जहां महाभारत के युद्धों में और दुष्टों के विनाश के लिए किए गये युद्धों में वासुदेव ने पराक्रम प्रदर्शित किया था। इसी कारण ये लोग इस स्थान की यात्रा करते हैं।

माहुर भी एक पुण्य स्थान है जहां ब्राह्मणों की भरमार है। उसे भी इसीलिए पूजा जाता है क्योंकि वासुदेव का जन्म और लालन-पालन इसी के आसपास 'नंदगोला' नामक स्थान में हुआ था।

आजकल हिन्दू कश्मीर की भी यात्रा करते हैं। इनमें अंतिम मुल्तान है जहां वे उस समय तीर्थयात्रा के लिए जाते थे जब उसका मूर्ति-मंदिर नष्ट नहीं हुआ था।

सड़सठवां अध्याय

दान तथा मनुष्य द्वारा अर्जित धन के व्यय का ढंग

उनके लिए यह अनिवार्य है कि प्रतिदिन जितना दान देना संभव हो दें। वे अपने धन को एक वर्ष क्या एक मास तक भी अपने पास नहीं रखते, क्योंकि वह एक ऐसे अज्ञात भविष्य के लिए संजोकर रखने जैसा है जिसके बारे में मनुष्य को यह नहीं मालूम कि वह वहां तक पहुंच भी पाएगा या नहीं।

जहां तक फसलों या पशुओं से उसकी कमाई का संबंध है उसे सबसे पहले उस ज़मीन या घास के मैदान का कर देश के राजा को देना अनिवार्य है। इसके अलावा वह अपनी आमदनी का छठा भाग राजा को उस संरक्षण के बदले अदा करता है जो राजा अपने प्रजाजनों, उनकी संपत्ति तथा उनके परिवारों को प्रदान करता है। इसी प्रकार का बंधन सामान्य जनता के लिए भी होता है, लेकिन वे लोग हमेशा झूठ बोलते हैं और अपनी संपत्ति के बारे में मिथ्या घोषणा करते हैं। व्यापारी लोग भी इसी कारण से कुछ कर अदा करते हैं। केवल ब्राह्मण ही ऐसे हैं जो इन सभी करों से मुक्त हैं।

जहां तक उस धन के खर्च करने के तरीके का संबंध है जो इन सभी करों का भुगतान करने के बाद बच जाता है तो उसके संबंध में लोगों की अलग-अलग राय है। कुछ लोग तो उस आय का नवां भाग दान के लिए नियत कर देते हैं लेकिन वे इसे तीन भागों में बांट देते है: इनमें से एक को तो मन से चिंतामुक्त करने के लिए आरक्षित किया जाता है। दूसरा व्यापार में लगाया जाता है ताकि लाभ मिले और तीसरे भाग का एक-तिहाई (अर्थात् कुल का नवां हिस्सा) दान पर खर्च किया जाता है जबकि दूसरे तिहाई हिस्से उसी नियम के अनुसार खर्च किए जाते हैं।

कुछ ऐसे हैं जो इस आमदनी को चार भागों में बांटते हैं। एक-चौथाई तो आम खर्चों के लिए अलग रख दिया जाता है, दूसरा उदारचेताओं के सत्कार्यों के लिए, तीसरा दान के लिए और चौथा आरक्षित रखने के लिए अर्थात् उतना ही

जो तीन वर्षों के सामान्य खर्चों को पूरा करने के लिए पर्याप्त हो। यदि वह चौथाई भाग जिसे आरक्षित करना है इस राशि से बढ़ जाए तो केवल इतनी ही राशि आरक्षित की जाती है और बाकी राशि दान पर खर्च कर दी जाती है।

सूदखोरी या प्रतिशतता लेना वर्जित है। ऐसा करके जो व्यक्ति पाप करता है उसका परिमाण उस राशि के अनुरूप होता है जिसके द्वारा उसकी मूल पूंजी बढ़ी हो। केवल शूद्र को ही ब्याज लेने की अनुमति है, लेकिन वह भी तभी तक—जब तक कि उससे अर्जित लाभ पूंजी के पचासवें भाग से अधिक न हो (अर्थात् उसे दो प्रतिशत से अधिक ब्याज नहीं लेना चाहिए)।

अड़सठवां अध्याय

खान-पान के संबंध में विधि-निषेध

मूलतः तो हिन्दुओं के लिए किसी भी प्रकार का वध उसी प्रकार वर्जित था जिस प्रकार वह ईसाइयों और मानिकियों के लिए वर्जित था। लेकिन लोगों को मांस खाने की इच्छा भी होती ही है और जो भी आदेश उनकी इस इच्छा के प्रतिकूल होता है वह उसकी अवहेलना करते हैं। यही कारण है कि यहां जिस नियम का उल्लेख किया गया है वह विशेष रूप से केवल ब्राह्मणों पर ही लागू होता है क्योंकि वही धर्म के रक्षक होते हैं और यह नियम उन्हें अपनी वासनाओं के आगे झुकने से बाज़ रखता है।

पशुओं की सूची जिनका मांस खाना वैध या अवैध

ऐसी स्थिति में पशुओं का गला घोंटकर मारने की अनुमति दे दी गयी है किंतु कुछ विशेष पशुओं की ही, अन्य पशुओं का वध वर्जित है। ऐसे पशुओं का मांस जिनके वध की अनुमति दी गयी है ऐसी स्थिति में निषिद्ध कर दिया गया है यदि उनकी अचानक मृत्यु हो गयी हो। जिन पशुओं के वध की अनुमति दी गयी है वे हैं भेड़, बकरी, हिरन, खरगोश, गैंडा, भैंस, मछली, जल-थल के पक्षी जैसे अबाबील, धवर फाख्ता, तीतर, फाख्ता, मोर और अन्य पशु जो न तो मनुष्य के लिए घृणित हैं और न ही अनिष्टकर।

जिन पशुओं की हत्या वर्जित है वे हैं गाय, घोड़ा, खच्चर, गधा, ऊंट, हाथी, पालतू मुरगा-मुरगी, कौवा, तोता, बुलबुल तथा सभी प्रकार के अंडे और मदिरा। मदिरा की शूद्र के लिए अनुमति है। वह उसे पी सकता है लेकिन उसे बेचने का वह उसी प्रकार साहस नहीं कर सकता जिस प्रकार मांस बेचने का।

गो-मांस क्यों वर्जित था

कुछ हिन्दुओं का कथन है कि भरत के पहले से युग में गो-मांस की अनुमति थी और उस युग में ऐसे कई यज्ञ हुआ करते थे जो गो-वध के बिना अधूरे रहते

थे। लेकिन इसके बाद उसको मनुष्य की दुर्बलता के कारण निषिद्ध कर दिया गया क्योंकि वे इतने दुर्बल थे कि अपने कर्तव्यों का पालन नहीं कर सकते थे और न ही वे वेद के आदेशों का पालन करते थे जो मूलतः एक ही था। किन्तु कालांतर में उसे चार भागों में विभक्त कर दिया गया ताकि मनुष्य के लिए उसको पढ़ने में सुभीता हो। लेकिन इस सिद्धांत का बहुत कम प्रमाणीकरण मिलता है क्योंकि गो-मांस के भक्षण का निषेध न तो कोई हलका-फुलका उपाय ही है और न उसे कम कठोर कहा जा सकता है बल्कि इसके विपरीत यह पहले के नियम की अपेक्षा कहीं अधिक कठोर और बंधनकारी है।

कुछ अन्य हिन्दुओं ने मुझे बताया कि वे गो-मांस-भक्षण के कारण बीमार पड़ जाते थे। इसका कारण यह है कि उनके देश की जलवायु तो गरम है किन्तु उनके शरीर के आंतरिक अंग ठंडे हैं और परिणामस्वरूप उनके शरीर की नैसर्गिक ऊष्मा घट जाती है और पाचन शक्ति इतनी कमज़ोर पड़ जाती है कि उन्हें उसे पूरा करने के लिए भोजन के उपरांत पान-सुपारी चबानी पड़ती है। पान के पत्ते की गरमी शरीर की ऊष्मा को बढ़ाती है, पान में लगा चूना हर नम या गीली चीज़ को सुखा देता है और सुपारी दांतों, मसूड़ों और पेट को मजबूत करती है। ऐसी स्थिति में उन्होंने गो-मांस निषिद्ध कर दिया क्योंकि वह मूलतः गरिष्ठ और ठंडा होता है।

जहां तक मेरा संबंध है, इस प्रश्न के मूल के संबंध में मेरे मन में अनिश्चय है और मैं इन दो भिन्न मतों के बीच कौन-सा सही है, यह बताने में संकोच अनुभव करता हूं।

(पांडुलिपि में रिक्ति)

जहां तक आर्थिक कारण का संबंध है हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि गाय एक ऐसी पशु है जो मनुष्य के कई काम करती है—यात्रा के समय वह मनुष्य का भार वहन करती है, खेती में जुताई-बुवाई में काम देती है और घर-गृहस्थी में दूध तथा उससे बनी वस्तुएं देती है। इसके अलावा मनुष्य इसके गोबर का इस्तेमाल करता है और सर्दी के मौसम में तो उसकी सांस तक काम आती है। इसी कारण से गो-मांस-भक्षण निषिद्ध कर दिया गया था जैसा कि अलहज्जाज ने किया था जब लोगों ने उससे शिकायत की थी कि बेबिलोनिया दिन-प्रतिदिन मरुस्थल बनता जा रहा है…।

उनहत्तरवां अध्याय

विवाह, मासिक धर्म, भ्रूण तथा प्रसूति

विवाह की आवश्यकता

कोई भी राष्ट्र बिना व्यवस्थित विवाहित जीवन के शेष नहीं रह सकता क्योंकि यही एक ऐसी प्रथा है जो उन मनोवेगों के उत्पात को रोकती है जिसे सुसंस्कृत लोग घृणा से देखते हैं और वह उन सब कारणों को भी समाप्त करती है जो पशु को ऐसे उन्माद की ओर प्रेरित करती है जिसका परिणाम हानि के सिवा कुछ नहीं। यदि पशुओं के जोड़ों के जीवन पर विचार किया जाए और यह देखा जाए कि जोड़े का एक सदस्य किस प्रकार दूसरे की सहायता करता है और किस प्रकार उसी प्रजाति के अन्य प्राणियों की वासना उनसे दूर रखी जाती है तो आप यह घोषणा किए बिना नहीं रह सकते कि विवाह एक आवश्यक प्रथा है। इसी के विपरीत यदि मनुष्य अनियंत्रित संभोग या वेश्यावृत्ति की ओर प्रवृत्त हो तो वह एक लज्जाजनक आचरण होगा जिससे वे पशुओं की तुलना में निम्नतर हो जाएंगे जबकि शेष पशु हर दृष्टि से मनुष्य से कहीं नीचे हैं।

विवाह के नियम

हर देश के विवाह-संबंधी अपने-अपने रिवाज होते हैं; विशेष रूप से उस देश के जहां के निवासी अपने धर्म तथा नियमों को दैवी मानते हैं। हिन्दुओं में बहुत ही छोटी आयु में विवाह हो जाता है, इसलिए माता-पिता ही अपने पुत्रों के विवाह की व्यवस्था करते हैं। उस अवसर पर ब्राह्मण यज्ञ के अनुष्ठान कराते हैं। और वे तथा अन्य ब्राह्मण भिक्षा-दान भी लेते हैं। विवाह के समय खुशियां मनाने के लिए गाजे-बाजे लाए जाते हैं। दूल्हा-दुल्हिन के बीच किसी प्रकार के उपहार के लिए कुछ निश्चय नहीं होता। दूल्हा केवल एक उपहार जो उचित समझता है अपनी पत्नी को देता है और एक विवाह-उपहार पेशगी उसे देता है जिसे वह साधिकार वापस नहीं मांग सकता, अलबत्ता यदि पत्नी चाहे तो स्वेच्छा से उसे लौटा सकती है। पति और पत्नी का विछोह मृत्यु होने पर ही हो सकता है क्योंकि

उनके यहां विवाह-विच्छेद की कोई परंपरा नहीं है।

पुरुष एक से लेकर चार स्त्रियों से विवाह कर सकता है। उसे चार से अधिक पत्नी रखने की अनुमति नहीं है लेकिन अगर उनमें से उसकी एक पत्नी मर जाए तो उसे एक और पत्नी रखकर वैध संख्या पूरी करने का अधिकार है। लेकिन इससे आगे वह नहीं जा सकता।

विधवा

यदि किसी पत्नी का पति मर जाए तो वह दूसरे पुरुष से शादी नहीं कर सकती। उसे दो में से एक विकल्प प्राप्त है—चाहे तो आजीवन विधवा रहे या सती हो जाए; और यह बाद की स्थिति इसलिए श्रेयस्कर मानी जाती है क्योंकि वहैसियत विधवा के जब तक वह जीवित रहती है उसके साथ दुर्व्यवहार होता रहता है। जहां तक राजाओं की पत्नियों का संबंध है वे तो सती हो जाने की ही अभ्यस्त हैं चाहे वे ऐसा चाहती हों या नहीं, क्योंकि ऐसा करने के पीछे उनकी यही इच्छा रहती है कि उनमें से एक भी संयोग से कोई ऐसा आचरण न कर बैठे जो उसके यशस्वी पति की प्रतिष्ठा के प्रतिकूल हों। इस संदर्भ में वे केवल उन स्त्रियों को अपवादस्वरूप छोड़ देते हैं जो वयोवृद्ध हों और जिनकी संतान हो। इसका कारण यह है कि पुत्र अपनी माता के संरक्षण के लिए उत्तरदायी होता है।

किन परिस्थितियों में विवाह निषिद्ध होता है

उनके विवाह-संबंधी नियम के अनुसार किसी संबंधी से विवाह करने की अपेक्षा अपरिचित से विवाह करना वेहतर माना जाता है। स्त्री की अपने पति से रिश्तेदारी जितनी दूर की होगी उतनी ही अच्छी मानी जाती है। किसी ऐसी स्त्री से विवाह करना सर्वथा निषिद्ध है जो वंशानुक्रम में ऊपर से नीचे अर्थात् पोती या परपोती हो और नीचे से ऊपर अर्थात् मां, दादी या परदादी हो। सगोत्र संबंधियों के साथ भी विवाह करना निषिद्ध है जैसे वहन, चचेरी/ममेरी वहन, मामी या बूआ और उनकी पुत्रियों से। ऐसा करने की तभी अनुमति दी जा सकती है जब जो संबंधी एक-दूसरे से विवाह करना चाहते हैं उनमें कम-से-कम पांच लगातार पीढ़ियों का अंतर हो। ऐसी स्थिति में इस निषेध पर आग्रह नहीं किया जाता लेकिन इसके बावजूद इस प्रकार का विवाह उनमें पसंद नहीं किया जाता।

पत्नियों की संख्या

कुछ हिन्दुओं का विचार है कि पत्नियों की संख्या जाति पर निर्भर होती है और तदनुसार ब्राह्मण चार, क्षत्रिय तीन, वैश्य दो और शूद्र एक पत्नी रख सकता

है। हरेक मनुष्य चाहे उसकी कोई जाति हो अपनी जाति की या अपनी जाति से निम्नतर एक या अधिक जातियों की स्त्री से विवाह कर सकता है लेकिन किसी भी व्यक्ति को उससे श्रेष्ठतर जाति की स्त्री से विवाह करने की अनुमति नहीं दी जाती।

बच्चा अपनी मां की जाति का माना जाता है, पिता की जाति का नहीं। इसीलिए उदाहरण के लिए यदि किसी ब्राह्मण की पत्नी ब्राह्मण है तो उसका बच्चा भी ब्राह्मण होगा, यदि वह शूद्र है तो उसकी संतान भी शूद्र होगी। लेकिन हमारे युग में ब्राह्मण अपनी जाति से भिन्न जाति की स्त्री से कभी विवाह नहीं करते हालांकि उनको ऐसा करने की अनुमति है।

रजःस्राव की अवधि

मासिक धर्म की जो दीर्घतम अवधि देखी गयी है वह सोलह दिन है किन्तु वास्तव में रजःस्राव पहले चार दिन तक रहता है और तब पति को अपनी पत्नी से संभोग करने बल्कि घर में उसके समीप जाने की भी अनुमति नहीं होती, क्योंकि इस दौरान वह अपवित्र होती है। चार दिन बीत जाने के बाद जब वह स्नान कर लेती है तो वह फिर पवित्र हो जाती है और अपने पति को उससे सहवास की अनुमति होती है चाहे तब तक रक्त-स्राव बिलकुल समाप्त न हुआ हो। ऐसा मानने का कारण यह है कि उस रक्त को रजोस्राव का रक्त नहीं माना जाता बल्कि उसे वही तत्व माना जाता है जिसमें भ्रूण होता है।

गर्भ और प्रसव

ब्राह्मण का यह कर्तव्य है कि यदि वह संतानोत्पत्ति के लिए अपनी पत्नी से संभोग करता है तो वह 'गर्भाधान' नामक यज्ञ करे किन्तु वह ऐसा नहीं करता क्योंकि उस यज्ञ के लिए पत्नी की उपस्थिति आवश्यक है और इसीलिए वह ऐसा करने में लज्जा का अनुभव करता है। परिणामस्वरूप वह यज्ञ को स्थगित करता है और उसे आगामी संस्कार 'सीमंतोन्नयनम्' के साथ मिला देता है जो गर्भ के चौथे मास में होता है। जब पत्नी बच्चे को जन्म दे चुकी होती है तो एक तीसरा यज्ञ किया जाता है जो बच्चे के जन्म और उस क्षण के बीच होता है जब मां बच्चे का पोषण आरंभ करती है। यह यज्ञ 'जातकर्मन्' कहलाता है।

प्रसूति के दिन बीत जाने के बाद बच्चे का नाम-संस्करण किया जाता है। नाम रखने के अवसर पर जो यज्ञ किया जाता है वह 'नाम-कर्मण्' कहलाता है।

जब तक स्त्री प्रसवावस्था में होती है वह किसी बरतन को नहीं छूती और न उसके घर में कुछ खाया जाता है, न ही ब्राह्मण वहां चूल्हा जलाता है। ये दिन ब्राह्मण के लिए आठ, क्षत्रिय के लिए बारह, वैश्य के लिए पंद्रह और शूद्र के लिए

तीस होते हैं। जहां तक निम्न जाति के लोगों का संबंध है—जिनकी गिनती किसी भी जाति में नहीं होती—उनके लिए कोई सीमा निश्चित नहीं की जाती।

बच्चे को दूध पिलाने की अवधि तीन वर्ष है किन्तु इस संबंध में कोई बाध्यता नहीं है। बालक के प्रथम मुंडन के अवसर पर किया जाने वाला यज्ञ तीसरे वर्ष में और कानों का छेदन सातवें और आठवें वर्ष में होता है।

वेश्यावृत्ति के कारण

वेश्यावृत्ति के संबंध में लोगों का विचार है कि वह उनके लिए जायज है। यही कारण है कि जब काबुल पर मुसलमानों की विजय हुई और काबुल के इस्पाहबाद ने इस्लाम धर्म स्वीकार किया तो उसने यह शर्त रखी कि न उसे गो-मांस खाने पर बाध्य किया जाए और न ही समलैंगिक मैथुन के लिए। इससे यह सिद्ध होता है कि उसे इन दोनों बातों से समान घृणा थी। वस्तुत: बात ऐसी नहीं है जैसी लोग समझते हैं बल्कि ऐसी है कि हिन्दू वेश्यावृत्ति के लिए कठोर दंड नहीं देते। लेकिन इसका दोष देश को नहीं दिया जा सकता, इसके दोषी स्वयं राजा हैं। यदि ऐसा न होता तो ब्राह्मण या पुरोहित अपने मंदिरों में नाचने-गाने तथा मनोरंजन करने वाली स्त्रियों को न रहने देते। राजा उनको केवल आर्थिक दृष्टि से अपने नगरों के लिए आकर्षण और अपनी प्रजा के लिए आमोद-प्रमोद का साधन बनाते हैं। इस व्यापार से उन्हें कर और जुर्माने के रूप में जो आय होती है उससे वे अपना वह खर्च पूरा करते हैं जो उन्हें सेना पर करना होता है।

इसी प्रकार बुईद राजा अजदउद्दौला भी किया करता था लेकिन उसका इसके अलावा एक और भी उद्देश्य था और वह यह कि अपनी प्रजा की अपने अविवाहित सैनिकों की कामवासना से रक्षा करना।

सत्तरवां अध्याय

मुकद्दमे

विधि

न्यायाधीश वादी से अभियुक्त व्यक्ति के विरुद्ध एक ऐसी जानी-मानी लिपि में जो इस प्रकार के प्रलेखों के लिए उपयुक्त समझी जाती है एक प्रलेख लिखवाता है जिसमें उसके मुकद्दमे की यथार्थता का सुप्रतिपादित प्रमाण दिया गया हो। यदि कोई लिखित दस्तावेज मौजूद न हो तो मुकद्दमे का निपटारा बिना लिखित दस्तावेज के गवाहों के माध्यम से ही कर दिया जाता है।

गवाहों की संख्या

गवाह चार से कम नहीं होने चाहिए, अलबत्ता इससे अधिक हो सकते हैं। न्यायाधीश मुकद्दमा तभी स्वीकार करता है जबकि किसी गवाह के अभिसाक्ष्य की यथार्थता पूर्णतः सिद्ध और सुनिश्चित हो जाए और तब वह केवल साक्षी के अभिसाक्ष्य के आधार पर उस प्रश्न पर निर्णय देता है। परंतु वह इयास इब्न मुआविया की तरह चोरी-छिपे भेद निकालने, केवल संकेत मात्र अथवा सबके सामने किए गये व्यवहार के आधार पर प्रस्तुत तर्कों से या एक बात के बारे में सच्चाई सिद्ध होने पर उसी के सादृश्य पर दूसरी बात को सिद्ध मानने और सच्चाई की तलाश करने में हर प्रकार की युक्तियों को स्वीकार नहीं करता।

यदि वादी अपना दावा सिद्ध नहीं कर पाता तो प्रतिवादी को शपथ लेनी पड़ती है किन्तु वह यह कहकर वादी से भी शपथ ले सकता है, "तू ही शपथ ले कि तेरा दावा सच्चा है और मैं तुझे वही चीज दे दूंगा जिसके लिए तूने दावा किया है।"

विभिन्न प्रकार की शपथ और अग्नि-परीक्षाएं

दावा की गयी वस्तु के मूल्य के अनुसार शपथ के अनेक प्रकार हैं। यदि उस वस्तु का कोई विशेष महत्त्व न हो जिसका दावा किया गया है और वादी इस बात

पर सहमत हो जाए कि अभियुक्त व्यक्ति शपथ लेकर उसके दावे का खंडन कर दे तो अभियुक्त पांच विद्वान ब्राह्मणों के समक्ष इन शब्दों में शपथ लेता है : "यदि मैं झूठ बोलूं तो उसे अपने दावे की अठगुनी रकम के बराबर अपनी संपत्ति हर्जाने के रूप में दूंगा।"

[कुछ अन्य प्रकार की शपथों और अग्नि-परीक्षाओं का वर्णन किया गया है। इनमें ये पद्धतियां शामिल हैं, (i) अभियुक्त से जहर का प्याला पीने के लिए कहना, (ii) उसे नदी में धकेल देना, और (iii) उसके हाथ पर जलता हुआ लोहा रख देना। यदि वह दोषी नहीं है तो इन सभी स्थितियों में सुरक्षित रहेगा। पृ० 159-60]

इकहत्तरवां अध्याय

﹁ड-विधान तथा प्रायश्चित्त

इस संबंध में हिन्दुओं के आचार-विचार ईसाइयों से मिलते-जुलते हैं क्योंकि वे ईसाइयों के आचार-विचार की भांति भलाई करने और बुराई से बचने के सिद्धांत पर आधारित हैं, जैसे—कैसी भी स्थिति क्यों न हो कभी हत्या न करो, जिसने तुम्हारा कोट उतारा है उसे अपनी कमीज़ भी दे दो, जिसने तुम्हारे गाल पर तमाचा मारा है उसके सामने अपना दूसरा गाल भी कर दो, अपने शत्रु को आशीर्वाद दो और उसके लिए ईश्वर से प्रार्थना करो। मैं अपनी जान की कसम खाकर कह सकता हूं कि यह एक भव्य दर्शन है लेकिन इस संसार के सभी लोग दार्शनिक नहीं होते। उनमें अधिकांश अज्ञानी और पथभ्रष्ट हैं जिन्हें केवल तलवार और कोड़े की सहायता से ही सन्मार्ग पर लाया जा सकता है।

ब्राह्मण ही मूलतः देश के शासक होते थे

भारत का विकास भी इसी प्रकार हुआ है। हिन्दुओं का कथन है कि मूलतः शासन और युद्ध-संबंधी कार्य ब्राह्मणों के हाथ में थे लेकिन चूंकि वे अपने धर्मशास्त्र के सिद्धांतों के अनुसार शासन करते थे जो प्रजा के अनिष्टकर और दुष्ट तत्वों के मुकाबिले में नहीं चल पाया और देश की व्यवस्था बिगड़ गयी। यहां तक कि धार्मिक कार्यों पर भी उनका नियंत्रण शिथिल होने लगा। यही कारण था कि उन्हें अपने आराध्य देवता के सामने अपमानित होना पड़ा। इसी के फलस्वरूप ब्रह्मा ने उन्हें वही कार्य सौंप दिए जो आज भी उनके पास हैं। दूसरी ओर, शासन तथा युद्ध का कार्य ब्रह्मा ने क्षत्रियों के सुपुर्द कर दिया। तभी से ब्राह्मण मांग कर और भिक्षा लेकर जीवन-निर्वाह करते हैं और दंड-संहिता पर राजाओं का नियंत्रण है, न कि विद्वानों का।

हत्या-विषयक नियम

हत्या के संबंध में नियम यह है : यदि हत्यारा ब्राह्मण है और जिसकी हत्या

हुई है वह किसी और जाति का है तो उसे उपवास, प्रार्थना और भिक्षा-दान करके हत्या का प्रायश्चित्त करना होता है।

यदि जिस व्यक्ति की हत्या हुई है वह ब्राह्मण हो तो हत्यारे ब्राह्मण को अगले जन्म में उसका उत्तर देना पड़ेगा क्योंकि उसको प्रायश्चित्त करने की अनुमति नहीं है इसलिए कि प्रायश्चित्त करने से पापी का पाप धुल जाता है जबकि नियमानुसार ब्राह्मण द्वारा किए गये किसी भी महापाप का मार्जन नहीं हो सकता। महापाप ये हैं : ब्राह्मण की हत्या जो 'वज्र ब्रह्म हत्या' कहलाती है; इसके अतिरिक्त गो-हत्या, मद्यपान, व्यभिचार—विशेष रूप से अपने पिता की और गुरु की पत्नी के साथ किया गया व्यभिचार। किन्तु राजा इनमें से किसी भी अपराध के लिए ब्राह्मण या क्षत्रिय को नहीं मारते बल्कि उसकी संपत्ति का हरण करके उसे अपने देश से निर्वासित कर देते हैं।

यदि ब्राह्मण और क्षत्रिय से इतर जाति का कोई व्यक्ति उसी जाति के किसी व्यक्ति की हत्या कर देता है तो उसे प्रायश्चित्त करना पड़ता है लेकिन इसके साथ ही राजा भी दूसरों के लिए उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए उसे दंड देते हैं।

चोरी का नियम

चोरी के नियम में यह निर्देश दिया गया है कि चोर का दंड चुराई हुई वस्तु के मूल्य के अनुरूप होना चाहिए। तदनुसार कभी-कभी तो अत्यंत कठोर अथवा मध्य स्तर का दंड आवश्यक होता है तो कभी अपराधी को सुधारने के लिए उस पर जुर्माना लगाना और कभी उसे सार्वजनिक रूप से लज्जित करना और उसका उपहास करना-भर पर्याप्त होता है। यदि वस्तु मूल्यवान हो तो राजा ब्राह्मण को अंधा कर देते हैं और उसका बायां हाथ तथा दायां पैर या दायां हाथ और बायां पैर काटकर उसे विकलांग कर देते हैं जबकि वे क्षत्रिय को विकलांग तो करते हैं किन्तु उसे अंधा नहीं करते और अन्य जातियों के चोरों का वध कर देते हैं।

पर-पुरुषगामिनी का दंड

पर-पुरुषगामिनी को पति के घर से बाहर निकाल कर देश-निकाला दे दिया जाता है।

हिन्दू युद्धबंदियों के साथ स्वदेश लौटने पर किस प्रकार का व्यवहार किया जाता है

हिन्दुओं से मैंने प्रायः यह सुना है कि जब (मुस्लिम देशों से) हिन्दू दास भाग कर अपने देश और धर्म में वापस आते हैं तो हिन्दू उन्हें प्रायश्चित्त करने के लिए उपवास रखने का आदेश देते हैं, फिर वे उन्हें गाय के गोबर, मूत्र और दूध में इतने दिनों तक दबाए रखते हैं कि उनका खमीर उठ आता है। फिर वे उन्हें

खींचकर उस गंदगी में से बाहर निकालते हैं और फिर वही गंदगी और उससे भी बदतर खाने को देते हैं।

मैंने इस कथन की सच्चाई के बारे में ब्राह्मणों से पूछताछ की लेकिन उन्होंने इसकी पुष्टि नहीं की और कहा कि ऐसे व्यक्ति के लिए किसी भी प्रकार का प्रायश्चित्त संभव नहीं है और उसे जीवन की उन परिस्थितियों में लौटने की कभी अनुमति नहीं दी जाती जिनमें वह बंदी बनाकर ले जाए जाने से पहले जीवन-यापन करता था। और यह संभव कैसे हो सकता है? यदि कोई ब्राह्मण किसी शूद्र के घर में कई दिन तक भोजन करे तो उसे जाति-बहिष्कृत कर दिया जाता है और उसे दुबारा जाति में शामिल नहीं किसा जाता।

बहत्तरवां अध्याय

दाय एवं मृत व्यक्ति का उस पर अधिकार

दाय भाग

उनके दाय भाग की प्रमुख विशेषता यह है कि पुत्री से इतर अन्य स्त्रियों का दाय पर कोई अधिकार नहीं होता। 'मनु-स्मृति' के एक अवतरण के अनुसार पुत्री को पुत्र के हिस्से का एक चौथाई भाग मिलता है। यदि उसका विवाह नहीं हुआ है तो उसके हिस्से का धन उसके विवाह के होने तक उस पर खर्च किया जाता है और उसी में से उसके लिए दहेज भी जुटाया जाता है। तदनंतर पिता के घर से उसकी कोई आय नहीं होती।

यदि कोई विधवा सती नहीं होती बल्कि जीवित रहना चाहती है तो उसके पति के वारिस को उसके आजीवन खाना-कपड़े की व्यवस्था करनी होती है।

मृत व्यक्ति का ऋण उसके वारिस को चुकाना पड़ता है चाहे वह उसे अपने हिस्से में से चुकाए या अपनी निजी संपत्ति में से। इस बात का कोई विचार नहीं किया जाता कि मृत व्यक्ति ने कोई संपत्ति छोड़ी है या नहीं। इसी प्रकार कोई भी स्थिति क्यों न हो, उसे विधवा के लिए उपरिलिखित खर्च उठाने पड़ते हैं।

जहां तक पुरुष-वारिसों के लिए नियम का संबंध है स्पष्ट है कि पूर्वजों अर्थात् पिता और पितामह की अपेक्षा वंशजों अर्थात् पुत्र तथा पौत्र का दाय पर अधिक निकट का अधिकार होता है। इसके अलावा जहां तक वंशजों तथा पूर्वजों में ऐसे संबंधियों का प्रश्न है जो एक-एक ही होते हैं जिसका संबंध निकटतर हो उसी का दाय पर अधिक अधिकार होगा। इस प्रकार पौत्र की तुलना में पुत्र और पितामह की अपेक्षा पिता का अधिकार अधिक होता है।

सगोत्र संबंधियों का, जैसे उदाहरण के लिए भाइयों का अधिकार कम होता है और उन्हें दाय-भाग तभी मिलता है जबकि कोई ऐसा वारिस न मौजूद हो जिसका ज्यादा अधिकार बनता है। इसलिए यह ज़ाहिर है कि पुत्री के पुत्र का अधिकार बहन के पुत्र की तुलना में ज्यादा होता है और भाई के पुत्र का दावा इन दोनों से अधिक होता है।

यदि एक ही कोटि के अनेक दावेदार हों जैसे उदाहरण के लिए पुत्र का भाई तो उन सभी को समान हिस्सा मिलता है। नपुंसक[83] (या हिजड़ा) को पुरुष ही माना जाता है।

यदि मृत व्यक्ति ने कोई वारिस न छोड़ा हो तो उसकी दाय राजा के कोष में चली जाती है। ऐसा केवल उस स्थिति में नहीं होता जबकि मृत व्यक्ति ब्राह्मण रहा हो। ऐसी स्थिति में राजा को उस दाय में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है, अलबत्ता उसे केवल भिक्षा-दान पर ही खर्च किया जाता है।

मृत व्यक्ति के प्रति वारिस के कर्तव्य

मृत व्यक्ति की मृत्यु के बाद पहले वर्ष उसके वारिस का यह कर्तव्य है कि वह सोलह भोज दे जिनमें हरेक अतिथि को भोजन के अलावा भिक्षा भी दी जाए अर्थात् मृत्यु के पंद्रहवें और सोलहवें दिन; इसके अतिरिक्त पूरे वर्ष मास में एक बार भोज दिया जाए।

छठे मास दिए जाने वाले भोज में अधिक व्यंजन होने चाहिए तथा उसमें दूसरे भोजनों की अपेक्षा अधिक उदारता से अतिथियों को आमंत्रित किया जाना चाहिए। साथ ही, वर्ष के अंतिम दिन से एक दिन पहले एक भोज जो दिवंगत तथा उसके पितरों के लिए दिया जाता है और अंततः वर्ष के अंतिम दिन। वर्ष की समाप्ति के साथ दिवंगत के प्रति कर्तव्य संपन्न हो जाते हैं।

यदि वारिस पुत्र हो तो उसे वर्ष भर मातमी लिबास धारण करना चाहिए; यदि वह वैध संतान हो और कुलीन हो तो उसे चाहिए कि वह शोक मनाए और स्त्री-संभोग न करे। इसके अलावा आपको यह भी ज्ञात होना चाहिए कि शोक-वर्ष के पहले भाग में एक दिन वारिसों के लिए भोजन करना वर्जित है।

उपरि-उल्लिखित सोलह भोजों में भिक्षादान के अलावा वारिसों को अपने मकान के प्रवेश-द्वार के ऊपर एक प्रकार का टांड-सा बनाना चाहिए जो दीवार के बाहर को निकला हुआ हो जिस पर उन्हें प्रति दिन बनाई हुई खाद्य वस्तुओं से भरी थाली और पानी का लोटा मृत्यु के बाद दसवें दिन तक रखना चाहिए। ऐसा शायद इस विश्वास के कारण किया जाता है कि दिवंगत की आत्मा को अभी तक शांति नहीं मिली है बल्कि अभी तक वह भूखी-प्यासी उसके घर के इर्द-गिर्द भटक रही है।

प्लेटो का समान मत

'फ़ाइडो' में प्लेटो ने भी इससे मिलता-जुलता मत व्यक्त किया है जिसमें उसने आत्मा की कब्रों के इर्द-गिर्द चक्कर लगाने की बात कही है और इसका कारण शायद यह है कि आत्मा में शरीर से निकल जाने के बाद भी उससे लगाव का

कुछ-न-कुछ अंश बना रहता है...।

अंत में उल्लिखित दिनों में से दसवें दिन वारिस दिवंगत के नाम पर प्रचुर मात्रा में भोजन और ठंडा पानी देता है। ग्यारहवें दिन वारिस एक व्यक्ति के लिए पर्याप्त भोजन और एक 'दिरहम' ब्राह्मण के घर भेजता है और वह ऐसा शोक-वर्ष के सभी दिन बिना किसी व्यवधान के करता रहता है।

तिहत्तरवां अध्याय

मृत और जीवित लोगों के शरीरों के साथ व्यवहार (अर्थात् शव-संस्कार एवं आत्महत्या के बारे में)

शव-संस्कार की आदिम प्रथाएं

बहुत प्राचीन काल में मृतकों के शरीर बिना किसी चीज से ढंके मैदानों में खुले फेंक दिए जाते थे। इसी प्रकार रोगियों को भी मैदानों में और पहाड़ों पर खुला रखा जाता था और वहीं छोड दिया जाता था। यदि वहीं उनकी मृत्यु हो जाती थी तो उनका वही हश्र होता था जिसका अभी उल्लेख किया गया है। लेकिन यदि वे रोगमुक्त हो जाते थे तो अपने-अपने घरों को लौट आते थे।

तत्पश्चात् एक ऐसे नियामक का प्रादुर्भाव हुआ जिसने लोगों को आदेश दिया कि वे अपने मुर्दों को हवा में खुला छोड़ दें। परिणामस्वरूप उन्होंने छतदार इमारतें बनाईं जिनकी दीवारें छड़ों की बनाई गयी थीं जिनमें से होकर हवा आती थी जो मुर्दों पर से गुज़रती थी। ये इमारतें कुछ वैसी ही होती थीं जैसी ज़रतुश्ती लोगों की मीनारनुमा कब्रें।

जब वे एक लंबे समय तक इस प्रथा का पालन कर चुके तो नारायण ने उनके लिए यह विधान किया कि वे अपने मृतक को अग्नि के सुपुर्द करें और तभी से वे उन्हें जलाते आ रहे हैं ताकि दाह-क्रिया से उनके शरीर का कुछ भी बचा न रहे और हर प्रकार की अपवित्रता, गंदगी और गंध तत्काल नष्ट हो जाए और उसके शरीर का लेशमात्र भी शेष न रहे।

[समकक्ष यूनानी प्रथाओं का उल्लेख किया गया है। "यूनानियों के यहां जलाने तथा गाड़ने की दोनों प्रथाएं थीं।"]

···इसी प्रकार हिन्दू भी अपने बारे में बताते हैं। मनुष्य में कोई ऐसा तत्व है और जो कुछ वह है उसी के कारण है। जब शरीर के मिश्रित तत्व विघटन हो जाते हैं और दहन के कारण बिखर जाते हैं तो वह तत्व मुक्त हो जाता है।

अग्नि तथा सूर्य-किरण परमात्मा तक पहुंचने के निकटतम मार्ग

इस (अमरात्मा की परमात्मा के पास) वापसी के संबंध में हिन्दुओं का विचार है कि आंशिक रूप से तो यह वापसी सूर्य की किरणों से प्रवर्तित होती है, अर्थात् आत्मा स्वयं को उनसे संलग्न करती है तथा उनके साथ ही ऊपर की ओर जाती है और आंशिक रूप से अग्नि की ज्वाला से, जो इसे (परमात्मा तक) ले जाती है। कुछ हिन्दू यह प्रार्थना करते थे कि परमात्मा स्वयं आत्मा के उस तक पहुंचने का मार्ग एक सीधी रेखा के रूप में बनाए क्योंकि वही निकटतम मार्ग है और ऊपर जाने के लिए अग्नि या किरण से इतर कोई मार्ग नहीं है।

गज्ज तुर्कों की प्रणाली भी इससे मिलती-जुलती है जिसका पालन वे डूबे हुए व्यक्ति के संबंध में करते हैं, जैसे—वे शव को नदी में एक अरथी पर रख देते हैं और उसके पैर से एक रस्सी बांधकर नीचे लटका देते हैं और उस रस्सी का सिरा पानी में फेंक देते हैं। इस रस्सी से मृतक की आत्मा उसे पुनर्जीवन के लिए ऊपर उठाती है…।

लोगों का कहना है कि बुद्ध ने यह आदेश दिया था कि मृतकों के शरीर बहते हुए पानी में छोड़ दिए जाएं। इसीलिए उनके अनुयायी—शामानी—अपने मुर्दों को पानी में बहा देते हैं।

शव-संस्कार की हिन्दू विधि

हिन्दुओं की प्रथा के अनुसार मृतक के शरीर का उसके वारिसों पर यह अधिकार होता है कि वे उसे स्नान कराएं, संलेपन करें, कफन में लपेटें और जितनी भी चंदन की लकड़ी तथा अन्य लकड़ी उन्हें मिल सके उससे उसका दहन करें। उसकी जली हुई अस्थियों का कुछ भाग गंगा में बहा दिया जाता है ताकि गंगा उनके (अस्थियों) ऊपर से उसी प्रकार गुजरे जिस प्रकार वह सगर की संतान की अस्थियों के ऊपर से गुजरी थी, ताकि उन्हें नरक से निकाल कर स्वर्ग में ले जाया जा सके। शेष अस्थियां किसी भी बहते हुए नाले में बहा दी जाती हैं। जिस स्थान पर दाह-संस्कार किया गया है वहां वे एक स्मारक बनवा देते हैं जो संगेमील के आकार-प्रकार का होता है और उस पर चिरोड़ी से पलस्तर कर दिया जाता है।

तीन वर्ष से कम आयु के बच्चों के शव जलाए नहीं जाते।

जो अपने मृत संबंधियों के प्रति इन सारे कर्तव्यों का निर्वाह करते हैं वे दाह-संस्कार के बाद दो दिन तक स्नान करते और कपड़े धोते हैं क्योंकि वे मुर्दे को स्पर्श करने से अपवित्र हो जाते हैं।

जिन लोगों में अपने मृतक को जलाने की सामर्थ्य नहीं होती वे उन्हें या तो किसी मैदान में डाल देते हैं या बहते पानी में छोड़ देते हैं।

आत्म-हत्या की विधियां

जहां तक जीवित व्यक्ति के शरीर के संबंध में अधिकार का प्रश्न है हिन्दू उसके दहन के बारे में सोच भी नहीं सकते। ऐसा कुछ अपवादों में ही होता है जैसे—विधवा के संबंध में जो अपने पति की चिता पर ही जलकर उसके साथ मरना चाहती हो या उन लोगों के संबंध में जो अपने जीवन से ऊब चुके हैं, जो अपने शरीर के किसी असाध्य रोग या किसी ऐसे शारीरिक दोष जिसको दूर नहीं किया जा सकता या वृद्धावस्था और अशक्तता के कारण दुखी हैं, लेकिन कोई भी प्रतिष्ठित व्यक्ति ऐसा नहीं करते। ऐसा केवल वैश्य और शूद्र ही करते हैं और वह भी ऐसे समय में जिसके दौरान मनुष्य के अगले जन्म में उससे बेहतर शरीर और परिस्थिति को प्राप्त करने के लिए उपयुक्ततम माना जाता है जिसमें वह जन्मा तथा जिया था। ब्राह्मणों और क्षत्रियों का आत्मदाह एक विशेष नियम के अनुसार निषिद्ध कर दिया गया है। इसलिए यदि इन दोनों वर्णों के लोग आत्मवध करना ही चाहते हैं तो वे किसी ग्रहण के समय किसी अन्य तरीके से ऐसा करते हैं या वे किसी को पारिश्रमिक देकर कहते हैं कि वह उन्हें गंगा में डुबो दे और उन्हें तब तक पानी में डुबोए रखे जब तक कि वे दम न तोड़ दें।

प्रयाग वृक्ष

यमुना और गंगा के संगम पर प्रयाग[39] नाम का एक वृक्ष है जो वट वृक्ष की जाति का है। इस वृक्ष की यह विशेषता है कि इसकी शाखाओं से दो प्रकार की टहनियां निकलती हैं, कुछ ऊपर की ओर उठी रहती हैं—जो अन्य वृक्षों में होता है—और कुछ नीचे की ओर जड़ों की तरह चली जाती हैं लेकिन उनमें पत्ते नहीं होते। यदि ऐसी कोई टहनी ज़मीन में प्रवेश कर जाए तो वह उस शाखा के लिए आधार-स्तंभ बन जाती है जिससे वह निकलती है। प्रकृति ने यह विधान जान-बूझकर किया है क्योंकि इस वृक्ष की शाखाएं दूर-दूर तक फैल जाती हैं और उन्हें सहारे की आवश्यकता पड़ती है। ब्राह्मण और क्षत्रिय यहीं आकर आत्महत्या करने के अभ्यस्त हो चुके हैं। वे पेड़ पर चढ़ जाते हैं और वहां से गंगा में कूद जाते हैं।

चौहत्तरवां अध्याय

व्रत तथा उसके विभिन्न प्रकार

व्रत रखना हिन्दुओं के लिए स्वैच्छिक तो है ही, कर्त्तव्यातिरिक्त भी होता है। व्रत का अर्थ है कुछ समय के लिए खाने से परहेज करना जिसकी अवधि तथा रखने की विधि दोनों भिन्न हैं।

व्रत की विभिन्न पद्धतियां

साधारण मध्यम श्रेणी की पद्धति जिससे व्रत की सभी शर्तें पूरी हो जाती हैं, यह है: मनुष्य एक दिन निश्चित कर लेता है जिस दिन उसे व्रत रखना है और उस सत्ता का स्मरण करता है जिसे वह व्रत के जरिए प्रसन्न करना चाहता है और जिसके लिए वह व्रत रखने वाला है चाहे वह सत्ता ईश्वर हो, या कोई देवता हो, या कोई अन्य प्राणी हो। इसके बाद वह व्रत की तैयारी करता है और व्रत के एक दिन पहले दोपहर के समय अपना भोजन बनाकर करता है, दातुन करके अपने दांत मांजता है और अपना चित्त अगले दिन के व्रत पर स्थिर कर देता है। उसी क्षण से वह भोजन का त्याग कर देता है। व्रत के दिन प्रातःकाल वह फिर दांत मांजता है, स्नान करता है और अपने दिन के अनुष्ठान पूरे करता है। वह हाथ में पानी लेकर उसे चारों दिशाओं में छिड़कता है, अपने मुख से उस देवता का नामोच्चार करता है जिसके लिए उसने व्रत रखा है और उसी स्थिति में व्रत के दिन से तीसरे दिन तक रहता है। सूर्योदय हो जाने के बाद वह चाहे तो उसी क्षण व्रत खोल सकता है और यदि उसकी इच्छा अन्यथा हो तो उस दिन दोपहर तक उसे टाल भी सकता है।

इस प्रकार का व्रत 'उपवास' कहलाता है जिसका अर्थ है भूखे रहना, जबकि एक दोपहर से दूसरी दोपहर तक भोजन न करना उपवास नहीं, 'एकनक्त' कहलाता है।

एक और व्रत जो 'कृच्छ' कहलाता है, यह है: कोई आदमी किसी दिन दोपहर को भोजन करता है और फिर अगले दिन शाम को खाता है। तीसरे दिन वह

उसके अलावा कुछ नहीं खाता जो संयोग से और उसके मांगे बिना उसे दे दिया गया हो। चौथे दिन वह उपवास करता है।

एक तीसरे प्रकार का व्रत जो 'पराक' कहलाता है, यह है : कोई मनुष्य तीन दिन लगातार अपना भोजन दोपहर को करता है। फिर अगले तीन दिनों के दौरान वह अपने खाने का समय बदल कर शाम कर देता है। उसके बाद वह लगातार तीन दिन तक निराहार रहता है।

एक और व्रत जो 'चांद्रायण' कहलाता है, यह है : मनुष्य पूर्णिमा के दिन व्रत रखता है; दूसरे दिन वह केवल एक ग्रास खाता है, उससे अगले दिन इससे दुगुनी मात्रा ग्रहण करता है, चौथे दिन उसकी तिगुनी और इसी प्रकार यह प्रक्रिया अमावस तक चलती रहती है। उस दिन वह व्रत रखेगा, दूसरे दिन उसका भोजन फिर घटकर एक ग्रास रह जाएगा और तब तक जारी रहेगा जब तक पूर्णिमा न हो जाए।

इसके अतिरिक्त एक और प्रकार जो 'मासवास' (या 'मासोपवास') कहलाता है, यह है : कोई मनुष्य महीना-भर बिना किसी व्यवधान के व्रत रखता है और उसे तोड़ता नहीं···।

यदि कोई व्यक्ति चैत्र मास के सभी दिन व्रत रखता है तो वह कुलीन संतान के अतिरिक्त धन-संपत्ति और सुख-समृद्धि प्राप्त करेगा। यदि वह वैसाख में व्रत रखता है तो वह अपने कुल पर शासन करेगा···। यदि वह ज्येष्ठ मास में व्रत रखेगा तो स्त्रियां उस पर मोहित होंगी। यदि वह आषाढ़ में व्रत रखेगा तो उसे धन-संपत्ति प्राप्त होगी। यदि श्रावण में व्रत रखेगा तो उसे बुद्धि प्राप्त होगी। यदि वह भाद्रपद में व्रत रखेगा तो उसे धन, शौर्य, संपत्ति और पशुधन प्राप्त होगा। यदि वह आश्वयुज में व्रत रखता है तो वह सर्वदा अपने शत्रुओं पर विजय करेगा। यदि वह कार्तिक में व्रत रखेगा तो···उसकी हर इच्छा पूरी होगी। यदि वह मार्गशीर्ष में व्रत रखेगा तो वह अत्यंत सुन्दर तथा उर्वर देश में जन्म लेगा। यदि वह पौष में व्रत रखेगा तो उसकी दूर-दूर तक कीर्ति फैलेगी। यदि वह माघ में व्रत रखेगा तो उसे अपार संपत्ति मिलेगी। यदि वह फाल्गुन में व्रत रखेगा तो वह सभी के प्रेम का पात्र बनेगा।

परंतु वह व्यक्ति जो वर्ष के सभी महीनों में व्रत रखता है और केवल बारह बार व्रत खोलता है वह 10,000 वर्ष तक स्वर्ग में निवास करेगा और वहां से कुलीन, श्रेष्ठ और प्रतिष्ठित परिवार के सदस्य के रूप में दुबारा जन्म लेगा···।

पचहत्तरवां अध्याय

व्रत के दिनों का निर्धारण

मास के प्रत्येक पक्ष का आठवां और ग्यारहवां दिन व्रत का होता है

पाठकों को सामान्यतः यह ज्ञात होना चाहिए कि अधिमास को छोड़कर जिसकी अशुभ मानकर उपेक्षा की गयी है प्रत्येक मास के शुक्ल पक्ष का आठवां और ग्यारहवां दिन व्रत का होता है।

ग्यारहवें दिन को वासुदेव के लिए विशेष रूप से पुण्य माना जाता है क्योंकि माहुर पर अधिकार कर लेने के बाद जिसके निवासी किसी समय हर मास में एक दिन इंद्र की पूजा किया करते थे उसी ने उन्हें यह पूजा ग्यारहवें दिन करने के लिए प्रेरित किया ताकि वह उसी के नाम की की जाए···। यही कारण है कि वे पूर्णतः स्वच्छता का पालन करते हुए उस दिन व्रत रखते हैं, रात-भर जागते हैं—क्योंकि वे ऐसा करना अनिवार्य मानते हैं, यद्यपि वास्तव में यह अनिवार्य नहीं है···।

[यहां वर्ष-भर के कुछ एक-दिवसीय व्रतों का उल्लेख किया है। इनमें से कुछ ये हैं :]

चैत्र का छठा दिन सूर्य के लिए पुण्य व्रत-दिवस है···।

श्रावण मास में पूर्णिमा का दिन सोमनाथ के लिए पुण्य व्रत-दिवस है···।

उसी मास का आठवां दिन भगवती के लिए पुण्य व्रत-दिवस है। इसमें चंद्रमा के उदय होने पर व्रत खोला जाता है।

भाद्रपद का पांचवां दिन सूर्य के लिए पुण्य व्रत-दिवस है जो 'पट' कहलाता है···।

जब कार्तिक मास में चंद्रमा रेवती में स्थित होता है जो उसका अंतिम नक्षत्र है तो उसे वासुदेव के जागरण की स्मृति में व्रत-दिवस माना जाता है। इसे 'देवोत्थिनी' अर्थात् देवता का शय्या से उठना कहते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य लोगों ने यह शर्त भी रखी है कि यह दिन शुक्ल पक्ष का ग्यारहवां दिन

होना चाहिए…।

पौष मास के छठे दिन सूर्य के सम्मान में व्रत रखा जाता है।

माघ का तीसरा दिन पुरुषों के लिए नहीं, स्त्रियों के लिए व्रत रखने का दिन है। यह गौरी तृतीया कहलाता है और पूरे एक दिन और रात का होता है। दूसरे दिन सवेरे वे अपने पतियों के रिश्तेदारों को उपहार देती हैं।

छिहत्तरवां अध्याय

त्योहार एवं आमोद-प्रमोद के दिन

चैत्र की द्वितीया

यात्रा का अर्थ है शुभ परिस्थितियों में एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना। एक भोज भी होता है जो 'यात्रा' कहलाता है। हिन्दुओं के अधिकतर त्योहार[40] स्त्रियां और बच्चे मनाते हैं। चैत्र मास की द्वितीया कश्मीरियों का एक पर्व है जिसे 'अग्दस' (?) कहते हैं और यह उनके राजा मुत्तै द्वारा तुर्कों पर प्राप्त विजय के उपलक्ष्य में मनाया जाता है। उनके वृतांत के अनुसार, उसने समस्त संसार पर शासन किया था। लेकिन ठीक यही बात वे अपने अधिकांश राजाओं के बारे में कहते हैं। एक बात और, यह कि उन्होंने असावधानी से उसका जो काल बताया है वह हमारे काल से बहुत पहले का नहीं है और इसी कारण से उनके झूठ का पता चल जाता है। निश्चय ही यह कोई असंभव बात नहीं कि एक हिन्दू ने (एक विशाल साम्राज्य पर) राज्य किया हो जैसा कि यूनानियों, रोमियों, बेबीलोन-वासियों और ईरानियों ने किया है लेकिन उनके शासन-काल हमारे काल से बहुत पीछे न होने के कारण प्रसिद्ध हैं। (इसलिए यदि ऐसा हुआ भी होता तो हमें उसका पता होता।) शायद उपरिलिखित राजा ने समस्त भारत पर राज्य किया हो और उनको न तो भारत के अलावा किसी और देश का ज्ञान है और न ही अपने सिवा किसी अन्य जाति का।

चैत्र एकादशी

ग्यारहवीं तारीख को एक पर्व होता है जो 'हिंडोली चैत्र' कहलाता है जिस पर वे वासुदेव के देवगृह या मंदिर में एकत्रित होकर उसकी मूर्ति को आगे-पीछे उसी प्रकार झुलाते हैं जिस प्रकार उसे शैशवावस्था में हिंडोले में झुलाया जाता होगा। यही क्रिया वे अपने घरों में दिन-भर करते हैं और आनंद मनाते हैं।

पूर्णिमा

चैत्र की पूर्णिमा को 'बहंद' (वसंत) का उत्सव होता है जो स्त्रियों का त्योहार है। उस दिन वे अपने आभूषण धारण करती हैं और अपने पतियों से उपहार मांगती हैं।

चैत्र की बाईसवीं

बाईसवीं को 'चैत्र-चषति' का त्योहार होता है। यह आमोद-प्रमोद का दिन होता है जो भगवती के लिए पुण्य होता है। इस दिन लोग स्नान किया करते हैं और दान देते हैं।

वैशाख तृतीया

वैशाख तृतीया स्त्रियों का पर्व है जो गौरी-तृतीया कहलाता है। यह हिमवंत पर्वत की पुत्री, महादेव की भार्या गौरी के लिए पुण्य है। इस दिन वे स्नान करती हैं और बढ़िया वस्त्र पहनती हैं। वे गौरी की मूर्ति की पूजा करती हैं और उसके सामने दीप जलाती हैं। वे उस पर सुगंधित द्रव्य-चढ़ाती हैं, निराहार रहती हैं और झूलों में झूलती हैं। दूसरे दिन वे दान देती हैं और उसके बाद भोजन करती हैं।

वैशाख मास की दसवीं तिथि को सभी ब्राह्मण जिन्हें राजा आमंत्रित करते हैं खुले मैदानों में जाते हैं और वहां पूर्णिमा के पहले पांच दिन तक हवन के लिए महाग्नि प्रज्ज्वलित करते हैं। वे सोलह भिन्न स्थानों पर और चार भिन्न समूहों में आग जलाते हैं। प्रत्येक समूह में एक-एक ब्राह्मण यज्ञ करता है। इस प्रकार जैसे चार वेद होते हैं वैसे ही चार याज्ञिक होते हैं। सोलहवीं तिथि को वे लौटकर अपने घर आते हैं।

महा-विषुव

इसी मास में महा-विषुव होता है जिसे वसंत कहते हैं। वे गणना करके इस दिन का निर्धारण करते हैं और इसी दिन ब्राह्मणों को आमंत्रित किया जाता है।

ज्येष्ठ प्रथमा

ज्येष्ठ की पहली तिथि या अमावस्या के दिन वे त्योहार मनाते हैं और सभी बीजों के प्रथम फलों को पानी में फेंक देते हैं ताकि सुफल प्राप्त हो।

ज्येष्ठ पूर्णिमा

इस मास की पूर्णिमा के दिन स्त्रियों का त्योहार पड़ता है जो 'रूप-पंच' (?) कहलाता है।

आषाढ़

आषाढ़ मास के सभी दिन दान-पुण्य में लगाए जाते हैं। इसे 'आहारी' भी कहते हैं। इस अवसर पर घर में नये वर्तन लाए जाते है।

श्रावण पंचदशी

श्रावण की पूर्णिमा के दिन वे ब्राह्मणों को भोज देते हैं।

आश्वयुज अष्टमी

आश्वयुज की अष्टमी को जब चंद्रमा अपने उन्नीसवें नक्षत्र मूल में स्थित होता है गन्ने का चूसना आरंभ होता है। यह पर्व महादेव की बहिन[41] महानवमी के लिए पुण्य होता है जब वे शर्करा तथा अन्य सभी वस्तुओं के प्रथम फल उसकी मूर्ति पर चढ़ाते हैं जो भगवती कहलाती है। वे उस पर से उतारकर बहुत-सा दान देते हैं और मेमनों का वध करते हैं। जिसके पास चढ़ावे के लिए कुछ नहीं होता वह मूर्ति के सामने एक बार भी बैठे बिना सीधे खड़ा रहता है और कभी-कभी तो जो भी उसके सामने पड़ जाता है उस पर टूट पड़ता है और उसे मार डालता है···।

भाद्रपद, अमावस्या

भाद्रपद मास में जब चंद्रमा दसवें नक्षत्र माघा में स्थित होता है वे एक त्योहार मनाते हैं जिसे वे 'पितृ पक्ष'[42] अर्थात् पितरों का अर्धमास कहते है क्योंकि चंद्रमा का इस नक्षत्र में प्रवेश अमावस्या के समय के आसपास ही होता है। इन पंद्रह दिनों में वे अपने पितरों के नाम पर दान देते हैं।

भाद्रपद तृतीया

भाद्रपद की तृतीया को स्त्रियों का त्योहार 'हरवली' (?) पड़ता है। उनके यहां यह प्रथा है कि वे बहुत पहले टोकरियों में सभी प्रकार के बीज बोती हैं और जब उगने लगते हैं तो उस दिन उन टोकरियों को प्रदर्शित करती हैं। वे उन पर गुलाब और अन्य सुगंधियां छिड़कती हैं और रात-भर एक-दूसरे के साथ खेल खेलती हैं। दूसरे दिन सवेरे वे उन टोकरियों को तालाब पर लाती है, उन्हें धोती हैं, स्वयं स्नान करती हैं और दान देती है।

भाद्रपद षष्ठी

इस मास की छठी तिथि को जो 'गैहाट' (?) कहलाती है लोग उन लोगों को भोजन देते हैं जो कारावास में हैं।

भाद्रपद अष्टमी

आठवीं तिथि को जब चंद्रिका का आधा विकास हो चुका होता है वे एक पर्व मनाते हैं जो 'ध्रुव गृह' (?) कहलाता है; वे स्नान करते हैं और पौष्टिक अन्न खाते हैं ताकि उनकी स्वस्थ संतान पैदा हो। स्त्रियां इस त्योहार को उस समय मनाती हैं जब वे गर्भवती होती हैं और उन्हें संतान की इच्छा होती है…।

भाद्रपद षष्ठदशी

जब चंद्रमा अपने चौथे नक्षत्र रोहिणी में स्थित होता है तो वे उस समय को 'गुणालहीद' (?) कहते हैं और तीन दिन तक त्योहार मनाते हैं और एक-दूसरे के साथ खेलते हुए वासुदेव का जन्मोत्सव मनाते हैं…।

कार्तिक प्रथमा

कार्तिक प्रथमा या अमावस्या का दिन जब सूर्य तुला राशि में जाता है 'दीवाली'[43] कहलाता है। इस दिन लोग स्नान करते हैं, बढ़िया कपड़े पहनते हैं, एक-दूसरे को पान-सुपारी भेंट देते हैं, घोड़े पर सवार होकर दान देने मंदिर जाते हैं, और एक-दूसरे के साथ दोपहर तक हर्षोल्लास के साथ खेलते हैं। रात्रि के वे हर समय स्थान पर अनेक दीप जलाते हैं ताकि वातावरण सर्वथा स्वच्छ हो जाए। इस पर्व का कारण यह है कि वासुदेव की पत्नी लक्ष्मी विरोचन के पुत्र बलि को—जो सातवें लोक में बंदी है—वर्ष में एक बार इसी दिन बंधन-मुक्त करती है और उसे संसार में विचरण करने की आज्ञा देती है। इसी कारण इस पर्व को 'बलिराज्य' कहा जाता है…।

इसी मास में जब पूर्णचंद्र अपनी आदर्शावस्था में होता है वे कृष्ण पक्ष के सभी दिनों में अपनी पत्नियों का साज-सिंगार करते और जेवनार देते हैं…।

मार्गशीर्ष पंचदशी

इसी मास की पूर्णिमा के दिन स्त्रियों का एक त्योहार आता है।

पौष मास के अधिकांश दिनों में वे 'पुहवल (?), अर्थात् एक मिठाई जिसे वे खाती हैं, भारी मात्रा में बनाती हैं।

पौष अष्टमी

पौष मास के शुक्ल पक्ष के आठवें दिन जो 'अष्टक' कहलाता है वे ब्राह्मणों को एकत्र करते हैं, बथुए से, जिसे अरबी भाषा में 'सरमक' कहा जाता है, तैयार किया हुआ भोजन बनाकर उन्हें देते और उनका आतिथ्य करते हैं।

कृष्ण पक्ष के आठवें दिन जिसे 'साकार्तम' कहते हैं वे शलजम खाते हैं।

माघ तृतीया

माघ की तृतीया को जिसे 'माहतृज' (माघ-तृतीया ?) कहते हैं स्त्रियों का त्योहार होता है और वह गौरी के लिए पुण्य होता है । वे अपनों में सबसे अधिक प्रतिष्ठित लोगों के घरों में गौरी की मूर्ति के सामने एकत्र होती हैं, उसको अनेक प्रकार के बहुमूल्य वस्त्र, रमणीय सुगंधियां और स्वादिष्ट व्यंजन अर्पित करती हैं। प्रत्येक मिलन-स्थल पर वे 108 घड़े पानी भरकर रखती हैं और जब पानी ठंडा हो जाता है वे उससे रात्रि के चारों पहरों में चार बार स्नान करती हैं। दूसरे दिन वे दान करती हैं, भोज देती हैं और अतिथियों का स्वागत करती हैं। स्त्रियों का ठंडे पानी से स्नान करना इस मास के सभी दिनों में एक आम बात है···।

फाल्गुन पंचदशी

फाल्गुन की पूर्णिमा भी स्त्रियों का पर्व है जो 'ओडस' या 'ढोला'[44] (अर्थात् 'डोला') कहलाता है। इस दिन वे उन स्थानों पर आग जलाती हैं जो 'चमाह' त्योहार के दिन दहन-स्थल से नीचे होते हैं और वे उस आग को गांव के बाहर फेंक देती हैं।

फाल्गुन षष्ठदशी

दूसरी रात्रि को अर्थात् सोलहवीं को जो 'शिवरात्रि'[45] कहलाती है वे रात-भर महादेव की पूजा करती हैं; रात-भर जागती रहती हैं और लेटती तक नहीं और उस पर धूप और फूल चढ़ाती हैं।

फाल्गुन त्रिविंशति

तेईसवीं तिथि को जो 'पुयत्तन' (?) कहलाती है, वे शक्कर और घी के साथ भात खाती हैं।

मुलतान का त्योहार

मुलतान के हिन्दुओं का एक त्योहार 'संवपुर यात्रा' कहलाता है जिसे वे सूर्य के सम्मान में मनाते हैं और उसकी पूजा करते हैं···।

सतहत्तरवां अध्याय

विशेष रूप से पुण्य दिवस, शुभाशुभ समय तथा स्वर्ग-प्राप्ति के लिए विशेष रूप से अनुकूल समय

हिन्दुओं में प्रत्येक दिन के प्रति उसके गुण-विशेष के कारण न्यूनाधिक श्रद्धा-भाव होता है। ये गुण वे हैं जो उन्होंने उन दिनों में आरोपित किए हैं। उदाहरण के लिए, रविवार को वे इसलिए विशेष महत्ता देते हैं क्योंकि यह सूर्य का दिन है और इसी से सप्ताह का आरंभ होता है, उसी प्रकार जैसे इस्लाम में शुक्रवार का विशेष महत्व है।

अमावस्या और पूर्णिमा

इन्हीं विशिष्ट दिनों में अमावस्या और पूर्णिमा की भी गणना होती है जो युति (अमावस्या) और वियुति (पूर्णिमा) के दिन है, क्योंकि उन्हीं से चंद्र-कला के क्षय और वृद्धि की सीमाएं प्रदर्शित होती हैं। इस क्षय और वृद्धि के संबंध में हिन्दुओं के विश्वास के अनुसार ब्राह्मण स्वर्ग प्राप्त करने के लिए अग्नि में निरंतर होम करते रहते हैं। अमावस्या से पूर्णिमा तक की समस्त अवधि में चांदनी में वे जो वस्तुएं अग्नि में होम करते हैं उनमें देवताओं का अंश एकत्रित होता रहता है। उसके बाद पूर्णिमा से अमावस्या तक देवताओं का वह भाग वितरित करते हैं और अमावस्या के आते-आते उनके अंश में से कुछ भी शेष नहीं रहता। हम यह पहले ही बता चुके हैं कि अमावस्या और पूर्णिमा पितरों के नक्तंदिव का मध्याह्न और मध्य रात्रि का समय होता है। इसीलिए इन दो दिनों तक निरंतर जो दान किया जाता है वह सर्वदा पितरों के सम्मान में ही किया जाता है।

चार दिन जिनको चार युगों का आरंभ हुआ था

चार अन्य दिनों को भी पुण्य माना जाता है क्योंकि हिन्दुओं के मतानुसार

इन्हीं दिनों से वर्तमान चतुर्युग में से प्रत्येक का आरंभ हुआ था।

वैशाख तृतीया जो 'क्षैरीता' (?) कहलाती है और इसी दिन 'कृत-युग' का आरंभ हुआ था।

कार्तिक नवमी, त्रेता-युग का आरंभ।
माघ पंचदशी, द्वापर-युग का आरंभ।
आश्वयुज त्रयोदशी, कलि-युग का आरंभ।

मेरा यह मत है कि ये चारों दिन पर्व के हैं और युगों के लिए पुण्य हैं। इन्हें दान देने या कुछ धार्मिक अनुष्ठान या संस्कार करने के प्रयोजन से नियत किया गया है जैसा कि ईसाइयों के वर्ष में स्मरणोत्सव नियत किए गये हैं। लेकिन हमारी यह मान्यता कदापि नहीं है कि चारों युगों का आरंभ उन्हीं दिनों हुआ होगा जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है।

[अल-बिरूनी ने चार युगों के प्रारंभ के वास्तविक दिन के निर्धारण के लिए किए गये परिकलन के आधार की आलोचना की है। उसका विचार है कि इस प्रकार ठीक-ठीक निर्धारण "अत्यंत कृत्रिम निर्वचन की सहायता से ही" किया जा सकता था।]

पुण्य काल

जो समय पुण्य प्राप्त करने के लिए विशेष रूप से अनुकूल हैं उन्हें 'पुण्यकाल' कहा जाता है'''।

इसमें संदेह नहीं कि पिछले अध्याय में जिन पर्वों का उल्लेख किया गया है उनमें से अधिकांश इसी प्रकार के दिन हैं क्योंकि उनका प्रयोजन दान-पुण्य करना तथा भोज देना है। यदि लोगों को ऐसा करने से किसी पुण्य की प्राप्ति की आशा न होती तो वे उस आमोद-प्रमोद और आनंदोत्सव को कदापि मान्यता न देते जो इन दिनों की विशेषताएं हैं।

इसके बावजूद कि पुण्य काल का स्वरूप वही होता है जैसा कि यहां बताया गया है कुछ दिन शुभ और कुछ अशुभ माने गये हैं।

संक्रांति

उन दिनों को शुभ माना जाता है जब ग्रह विशेषत: सूर्य एक राशि से दूसरी राशि की ओर प्रस्थान करता है। ऐसे समय को संक्रांति कहा जाता है। इनमें सर्वाधिक शुभ विषुवों और अयनों के दिन हैं और इनमें भी सबसे अधिक मांगलिक महाविषुव का दिन है। उसे 'विखू' या 'शिषु' (विषुव) कहते हैं क्योंकि 'ष' और 'ख' ध्वनियां एक-दूसरे में परिवर्तित हो सकती हैं और वे वर्ण-विपर्यय के द्वारा अपना स्थान भी बदल सकती हैं।

लेकिन चूंकि किसी ग्रह के नयी राशि में प्रवेश में एक क्षण से अधिक नहीं लगता और उस दौरान लोगों के लिए घी तथा अन्न के साथ 'सांत' (?) नामक नैवेद्य अग्नि को अर्पित करना आवश्यक है, इसलिए हिन्दुओं ने इन समयों को बहुत अधिक विस्तार दे दिया है और उनका प्रारंभ उस क्षण से मानते हैं जब सूर्य के पिंड का पूर्वी छोर राशि के पहले भाग को स्पर्श करता है; उस क्षण को जब सूर्य का मध्य भाग राशि के पहले भाग में पहुंचता है 'मध्य' मानते है जो खगोलशास्त्र में (ग्रह के एक राशि से दूसरी राशि में) प्रस्थान का समय माना गया है और उस क्षण को 'अंतिम' मानते हैं जब सूर्य के पिंड का पश्चिमी किनारा राशि के पहले भाग का स्पर्श करता है। सूर्य के संबंध में यह प्रक्रिया लगभग दो घंटे तक रहती है।

[संक्रांति के क्षण की गणना की दो भिन्न विधियां बताई गयी हैं। पृ० 188-91]

ग्रहणों के समय

···इसके अतिरिक्त सबसे अधिक शुभ समय है सूर्यग्रहण और चंद्रग्रहण। उनके विश्वास के अनुसार उस समय पृथ्वी की सभी नदियों-समुद्रों का पानी गंगा-जल की भांति पवित्र हो जाता है। वे इन समयों की पवित्रता के संबंध में ऐसी अतिशयोक्ति से काम लेते हैं कि उनमें से बहुत-से ऐसे समय मरने की इच्छा से जो उन्हें स्वर्ग-सुख दिलाने की आशा बंधाता हो, आत्महत्या कर लेते हैं। लेकिन ऐसा केवल वैश्य और शूद्र ही करते हैं, ब्राह्मणों और क्षत्रियों के लिए ऐसा करना वर्जित है और इसीलिए वे आत्महत्या नहीं करते (देखें, पृ० 259)।

पर्वन् और योग

इसके अलावा पर्वन् के समय भी शुभ होते हैं अर्थात् वे समय जिनमें ग्रहण होता है। और यदि ऐसे समय में ग्रहण न भी हो तो भी उसे बहुत शुभ माना जाता है।

'योग' के समय भी ग्रहण की ही भांति शुभ माने जाते हैं। हमने इनके लिए एक विशेष अध्याय (उनासीवां अध्याय) नियत किया है···।

भूकंप के समय

जिन समयों को अशुभ माना जाता है, और जिनमें किसी भी प्रकार का गुण नहीं होता वे हैं भूकंप के समय। उस समय हिन्दू शुभ शकुन की प्राप्ति और अनिष्ट के निराकरण के लिए अपने घर के बरतनों को जमीन पर पटक कर तोड़ डालते हैं। इसी प्रकार के अनिष्टकारी समयों का वर्णन 'संहिता' में दिया गया है

और वे हैं—भूमि-स्खलन, तारों का टूटना, आकाश में लालिमा का दिखाई देना, बिजली के गिरने से पृथ्वी का दहन, धूमकेतुओं का दीख पड़ना, ऐसी घटनाओं का घटित होना जो प्रकृति और परंपरा दोनों के प्रतिकूल हों, गांवों में वन्य पशुओं का घुस आना, बेमौसम बरसात होना, पेड़ों में बिन मौसम पत्तों का आना, वर्ष के मौसम की प्रकृति का दूसरे वर्ष में अंतरित होना और इसी प्रकार की अन्य घटनाएं···।

अठहत्तरवां अध्याय

करण

'करण' की व्याख्या

हम चांद्र दिवसों के बारे में जिन्हें 'तिथि' कहते हैं पहले ही बता चुके हैं और यह स्पष्ट कर चुके हैं कि प्रत्येक चांद्र दिवस व्यावहारिक दिवस से छोटा होता है क्योंकि चांद्र मास में तीस चांद्र दिवस होते हैं किंतु व्यावहारिक दिन केवल साढ़े उनतीस से कुछ ही अधिक होते हैं।

जिस प्रकार हिन्दू इन 'तिथियों' को अहोरात्र कहते हैं उसी प्रकार वे तिथि के पूर्वार्ध को दिन और उत्तरार्ध को रात कहते हैं। इन अर्धांशों में से प्रत्येक का अलग-अलग नाम है और वे सब (अर्थात् चांद्र मास के चांद्र दिवसों के सभी अर्धांश) 'करण' कहलाते हैं।

['करण' को जानने का नियम पृ० 195 पर दिया गया है।]

'भुक्ति' की व्याख्या

'बुह्त' शब्द भारतीय मूल का है। भारतीय भाषा में इसे 'भुक्ति' (ग्रह की दैनिक गति) कहते हैं। यदि अभिप्राय शुद्ध भुक्ति से हो तो वह 'भुक्ति स्फुट' कहलाता है। यदि माध्यम गति अभिप्रेत हो तो वह 'भुक्ति मध्यमा' कहलाती है और यदि 'बुह्त' अभिप्रेत हो जो समान होता है तो उसे 'भुक्त्यांतर' अर्थात् दो भुक्तियों के बीच का अंतर कहते हैं।

मास के अर्धांश के चांद्र दिवसों के नाम

मास के चांद्र दिवसों के विशेष नाम होते हैं जिन्हें हमने नीचे के आरेख में दर्शाया है। यदि आपको उस चांद्र दिवस का पता हो जिसमें आप हैं तो आपको दिन की संख्या के पार्श्व में उसका नाम और उसके सामने 'करण' मिलेगा जिसमें आप हैं। यदि वर्तमान दिवस का बीता हुआ भाग आधे दिन से कम हो तो 'करण' दैनिक होता है और यदि उसका जो भाग बीत चुका है वह आधे दिन से

अधिक हो तो वह रात्रिक होता है।

[आरेख पृ० 197 पर दिया गया है।]

'करणों' की तालिका, उनके गुण तथा शकुन

हिन्दुओं ने जैसी कि उनकी प्रथा है कुछ करणों में गुणों का आरोपण किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने कुछ नियम भी बनाए हैं जिनमें यह दर्शाया गया है कि प्रत्येक 'करण' के दौरान क्या किया जाए और क्या न किया जाए। ये नियम ज्योतिष-विषयक शकुनों (शुभ अथवा अशुभ दिन आदि) के संग्रह के समान हैं। यदि हम यहां 'करणों' का दूसरा आरेख दें तो उससे हमारा अभीष्ट केवल उन बातों की पुष्टि करना होगा जो हम पहले ही कह चुके हैं और एक ऐसे विषय की पुनरावृत्ति करना होगा जो हमें अभी तक अज्ञात है क्योंकि मनुष्य बार-बार दोहराकर ही सीख पाता है।

[आरेख दिया गया है जिसमें चार मिश्रित तथा सात चल 'करणों' के शकुन दर्शाए गये हैं।

अल-बिरूनी ने बताया है कि अलकिंदी और कुछ अन्य अरब लेखकों ने 'करणों' की भारतीय प्रणाली को अपनाया है लेकिन वे उसे भली प्रकार समझ नहीं पाए थे। यद्यपि उन्होंने उसमें थोड़ा-बहुत संशोधन किया है "किंतु जो असल बात थी वह बिलकुल बदल गयी है।" इसलिए हिन्दुओं और अलकिंदी दोनों की प्रणालियों की अलग-अलग विवेचना की जानी चाहिए। पृ० 198-203]

उनासीवां अध्याय

योग

कुछ ऐसे योग हैं जिन्हें हिन्दू अत्यंत अशुभ मानते हैं और जिनमें वे हर प्रकार के कार्य से बचते हैं। ऐसे अनेक योग हैं। हम यहां उनमें से कुछ का उल्लेख करेंगे।

'व्यतिपात' और 'वैधृत' की व्याख्या

दो ऐसे योग हैं जिनके विषय में सभी हिन्दुओं में मतैक्य है : जैसे—

(1) जिस क्षण सूर्य और चंद्रमा मिलकर दो वृत्तों पर स्थित होते हैं और जो ऐसा लगता है मानो एक-दूसरे को अर्थात् वृत्त-द्वय में से प्रत्येक को पकड़ रहे हैं जिसके दिक्पात (दोनों में से किसी भी अयन पर) उसी दिशा में समान होते हैं। इस योग को 'व्यतिपात' कहते हैं।

(2) जिस क्षण सूर्य और चंद्रमा दो समान वृत्तों पर अर्थात् वृत्त-द्वय में से प्रत्येक पर मिलकर अवस्थित होते हैं जिनके दिक्पात (दोनों में से किसी भी अयन पर) भिन्न दिशाओं में समान होते हैं। इसे "वैधृत" कहते हैं।

['व्यतिपात' और 'वैधृत' की गणना के लिए भिन्न-भिन्न प्रणालियां दर्शाई गयी हैं जिनका उल्लेख पुलिश और 'करणतिलक' के लेखक ने किया है। अल-बिरूनी ने दो पुस्तकों का भी निर्देश किया है जो उसने इस विषय पर लिखी थीं जिसमें 'अरबी खांडखाद्यक' भी शामिल है जिसकी 'रचना' उसने सयववाल[46] नामक कश्मीरी के लिए की थी। योगों के नाम और उनके गुण दर्शाने वाली एक तालिका भी पृ० 204-10 पर दी गयी है।]

अस्सीवां अध्याय

हिन्दू फलित-ज्योतिषशास्त्र के मूल सिद्धांत तथा फलित-ज्योतिष-संबंधी उनकी गणना-पद्धतियों का संक्षिप्त विवरण

भारतीय ज्योतिष के विषय में मुसलमानों में अज्ञान

इन (मुस्लिम) देशों में हमारे समधर्मी फलित-ज्योतिष की हिन्दू पद्धतियों से परिचित नहीं हैं और न ही उन्हें इस विषय पर कभी किसी पुस्तक के अध्ययन का अवसर प्राप्त हुआ है। परिणामतः वे समझते हैं कि हिन्दू फलित-ज्योतिष और उनका फलित-ज्योतिष अभिन्न हैं और विभिन्न प्रकार की बातों का स्रोत भारतीय बता देते हैं जबकि उनमें से कोई एक बात भी हमने हिन्दुओं में नहीं देखी। जैसा कि हमने अपनी इसी पुस्तक के पूर्ववर्ती भाग में हरेक विषय के बारे में कुछ-न-कुछ बताया है, हम उनके ज्योतिष-संबंधी सिद्धांतों के बारे में उतना बताएंगे जिससे कि पाठक उसी प्रकार के प्रश्नों पर उनसे चर्चा कर सके। यदि हमें इस विषय को विस्तृत रूप से प्रतिपादित करना हो तो उसमें काफी समय लगेगा चाहे हम केवल उनके प्रमुख सिद्धान्तों का ही वर्णन करें और तद्विषयक विवरणों का स्पर्श ही न करें।

सबसे पहले तो पाठक को यह ज्ञान होना चाहिए कि उनके अधिकांश पूर्वानुमानों के मात्र साधन हैं पक्षियों की उड़ान और रूपाकृतिविज्ञान; वे ऐहिक जगत के कार्य-व्यापार के संबंध में तारकों के सेकंडों (एवमेव) से निष्कर्ष नहीं निकालते जो कि उन्हें निकालने चाहिए जबकि ये घटनाएं खगोल से संबंधित हैं।

ग्रह

ग्रहों की संख्या सात होने के बारे में उनमें और हममें कोई मतभेद नहीं है। वे उन्हें 'ग्रह' कहते हैं। उनमें से कुछ तो सर्वथा शुभ होते हैं जैसे बृहस्पति, शुक्र और चंद्रमा जो 'सौम्य ग्रह' कहलाते हैं। अन्य तीन सर्वथा अशुभ हैं जैसे शनि, मंगल

और सूर्य जो 'क्रूर ग्रह' कहलाते हैं। बाद के ग्रहों में वे राहु को भी शामिल कर लेते हैं जबकि वास्तव में वह तारक है ही नहीं। एक ग्रह का स्वभाव परिवर्तनीय है और उस ग्रह के स्वभाव पर निर्भर है जिसके साथ वह मिला हुआ है चाहे वह शुभ हो या अशुभ। यह बुध है, किंतु वह एकाकी होने पर शुभ है।

[सात ग्रहों के नाम मनुष्यों के लिंग और चरित्र, उनके द्वारा बताए गये तत्व और मौसम आदि के संबंध में उनसे प्राप्त विभिन्न प्रकार की जानकारी दर्शाने वाली तालिका दी गयी है। साथ ही उस तालिका के बारे में कुछ व्याख्यात्मक टिप्पणियां दी गयी हैं। प्रत्येक राशि के विशिष्ट लक्षणों को दर्शानेवाली तालिका पृ० 213-19 पर दी गयी है।]

फलित-ज्योतिष के कतिपय पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

ग्रह की ऊंचाई या उन्नतांश को भारतीय भाषा में 'उच्चस्थ' कहते हैं और इसका विशिष्ट अंश 'परमोच्चस्थ' कहलाता है। ग्रह की गहराई या निम्न स्थान 'नीचस्थ' और उसका विशिष्ट अंश 'परमनीचस्थ' कहलाता है। 'मूल त्रिकोण' का बहुत भारी प्रभाव होता है जिसे किसी ग्रह पर उस समय आरोपित किया जाता है जब वह अपने दो घरों में से एक में स्थित होता है…।

वे त्रिकोणीय अवस्थिति का संबंध तत्वों और मूल स्वभावों के साथ स्थापित नहीं करते जैसी कि हमारे यहां प्रथा है, बल्कि जैसा कि तालिका में दर्शाया गया है वे उनका स्रोत सामान्यत: दिग्बिंदुओं को मानते हैं।

वे घूमने वाली राशि को 'चर राशि' अर्थात् चलती हुई, खड़ी को 'स्थिर राशि' अर्थात् ठहरी हुई और दुहरे पिंडवाली राशि को 'द्विस्वभाव' अर्थात् संयुक्त कहते हैं।

भवन

जिस प्रकार हमने राशियों की तालिका दी है उसी प्रकार आगे हम भवनों की तालिका भी देंगे जिसमें उनमें से प्रत्येक के गुण दर्शाए जाएंगे। वे अपने पृथ्वी से ऊपर के अर्धांश को 'छत्र' और पृथ्वी के नीचे के अर्धांश को 'नौ' अर्थात् पोत कहते हैं। इसके अतिरिक्त वह अर्धांश जो ऊपर चढ़ता हुआ आकाश के मध्य तक पहुंचता है और दूसरा अर्धांश जो पृथ्वी के तल तक नीचे आता है 'धनु' कहलाता है। कार्डिनो को वे केंद्र कहते हैं और उनके बाद आने वाले भवनों को 'पणफर' और प्रवृत्त भवनों को अपोक्लीम कहते हैं।

[तालिका पृ० 221-22 पर दी गयी है।]

अब तक जो विवरण दिया गया है वह वास्तव में हिन्दू फलित-ज्योतिष के दिग्बिंदु हैं जैसे ग्रह, राशियां और भवन। जिसे यह मालूम है कि उनमें से प्रत्येक

का क्या अर्थ है या वह किस बात की पूर्व-सूचना देता है वह प्रवीण विशेषज्ञ और इस कला के निष्णात होने की पदवी का पात्र है।

[इसके बाद अल-बिरूनी ने 'गौण भागों में राशियों के विभाजन', ग्रहों की 'मैत्री तथा शत्रुता' के विषय में भारतीय फलित-ज्योतिषियों के विचारों, 'प्रत्येक ग्रह की चार शक्तियों', 'जीवन-वर्ष जो विभिन्न ग्रह प्रदान करते हैं' और 'इन वर्षों के तीन प्रकार' आदि का वर्णन किया है। पृ० 222-31]

हिन्दू फलित-ज्योतिषियों की ज्ञान की खोज की विशिष्ट पद्धतियाँ

पूर्ववर्ती पृष्ठों में दिए गये विवरण से पाठकों को यह पता चल गया होगा कि हिन्दू मानव-जीवन की अवधि किस प्रकार जानी जाती है। वे यह बात ग्रहों की अवस्थिति से जान जाते हैं जो वे (ग्रह) उत्पत्ति (अर्थात् जन्म के क्षण) से धारण करते हैं और जीवन के प्रत्येक समय-विशेष में विभिन्न ग्रहों के वर्ष किस प्रकार उस पर विभक्त होते हैं। इन्हीं बातों में हिन्दू ज्योतिषी जन्मपत्रियों को फलित-ज्योतिष-संबंधी कुछ पद्धतियां मिला देते हैं जिन्हें दूसरी जातियां महत्त्व नहीं देतीं···।

धूमकेतु

मैंने इन बातों का इसलिए उल्लेख किया है कि मैं पाठकों को अपने लोगों की और हिन्दुओं की फलित-ज्योतिष संबंधी पद्धतियां बता सकूं। आकाशी तथा ब्रह्मांडीय घटनाओं के बारे में उनके सिद्धान्त और पद्धतियां बहुत लंबी और साथ ही सूक्ष्म हैं। चूंकि हमने स्वयं को उनकी जन्मपत्रियों के फलित-ज्योतिष में जीवन-काल के निर्धारण-सिद्धांत के वर्णन तक सीमित किया है इसलिए हम विज्ञान के इस क्षेत्र में अपनी बात धूमकेतुओं की प्रजातियों तक ही सीमित रखेंगे और यह बात उनमें से ऐसे लोगों के कथनों के अनुसार होगी जिनके बारे में यह धारणा है कि वे अपना विषय भली प्रकार जानते हैं। धूमकेतुओं का सादृश्य आगे चलकर अन्य दूरस्थ विषयों पर भी घटाया जाएगा।

कालिय के सिर को 'राहु' और उसकी पूंछ को 'केतु' कहते हैं। हिन्दू उस पूंछ का तो यदा-कदा ही उल्लेख करते हैं, वे केवल सिर का ही प्रयोग करते हैं। सामान्य रूप से आकाश में जितने भी धूमकेतु दिखाई देते हैं 'केतु' ही कहलाते हैं।

[विभिन्न प्रकार के धूमकेतुओं, उनके पूर्वानुमानों आदि के संबंध में वराह-मिहिर की पुस्तक 'संहिता' से उद्धरण दिए गये हैं। एक तालिका भी दी गयी है जिसमें धूमकेतुओं के नाम, उनमें से प्रत्येक के तारकों की संख्या, वे दिशाएं जहां से वे दिखाई देते हैं और उनके पूर्वानुमान आदि दिए गये हैं।

अल-विरूनी ने जो एक ऐसा कर्तव्यनिष्ठ विद्वान है यह जान लिया कि वह जिस पांडुलिपि का उपयोग कर रहा है वह सदोप है और इसीलिए कुछ खानों में कहीं-कहीं प्रविष्टियाँ खाली छोड़ दी गयी हैं। पृ० 234-38]

वराहमिहिर की 'संहिता' से कुछ और उद्धरण

लेखक (वराहमिहिर) ने धूमकेतुओं को तीन वर्गों में विभक्त किया था : 'उच्च' जो तारकों के निकट प्रकट होते हैं; 'प्रवहमान' जो पृथ्वी के निकट होते हैं; 'मध्यम' जो वातावरण में रहते हैं और उसने 'उच्च' तथा 'मध्यम' वर्गों में से प्रत्येक का उल्लेख हमारी तालिका में अलग से किया है···।

यहूदियों का धूमकेतुओं के संबंध में वही मत है जो हमारा कावे के पत्थर के वारे में है (अर्थात् वे सब पत्थर हैं जो आकाश से नीचे गिर पड़े हैं)। वराहमिहिर की इसी पुस्तक के अनुसार धूमकेतु ऐसे प्राणी हैं जिन्हें उनके गुणों के कारण ऊपर आकाश में पहुंचा दिया गया है और जिनके आकाश में निवास की अवधि पूरी हो चुकी है और वे पृथ्वी पर लौट कर आ रहे हैं।

[एक तालिका जिसमें इन तीन प्रकार के धूमकेतुओं के वारे में जानकारी दर्शाई गयी है पृ० 241-44 पर दी गयी है।]

धूमकेतुओं और उनके शकुनों के विपय में हिन्दुओं का यही सिद्धान्त है।

मौसम-विज्ञान

हिन्दुओं में ऐसे विद्वान विरले ही हैं जो धूमकेतुओं तथा आकाश की अन्य घटनाओं की प्रकृति के संबंध में उसी प्रकार यथातथ्य वैज्ञानिक अनुसंधान करते हैं जिस प्रकार प्राचीन काल में यूनानी किया करते थे, लेकिन इन विपयों में वे अपने को धर्मशास्त्रियों के सिद्धांतों के प्रभाव से वचा नहीं पाते···।

उदाहरण के लिए, आकाश-संबंधी घटनाओं के विषय में उनका कहना है कि मेघ-नाद ऐरावत अर्थात् राजा इंद्र के वाहन हाथी का उस समय का गर्जन है जब वह मानसरोवर में पानी पीकर मस्त हो जाता है और कर्कश स्वर में गरजता है।

इंद्रधनुप (शब्दश: कुज़ह—बादलों के प्रबंधक—का धनुप) इंद्र का चाप है जैसे कि हमारे सामान्य जन इसे रुस्तम का चाप समझते हैं।

निष्कर्प

हमारा विचार है कि हमने जो कुछ इस पुस्तक में वर्णित किया है वह ऐसे किसी भी व्यक्ति के लिए पर्याप्त होगा जो हिन्दुओं के साथ वार्तालाप करना चाहता है और उनकी अपनी सभ्यता के आधार पर धर्म, विज्ञान या साहित्य-विपयक प्रश्नों पर उनसे विचार-विमर्श करना चाहता है। अतः हम इस पुस्तक को

यहीं समाप्त करते हैं जिसकी लंबाई और चौड़ाई से पाठक ऊब गये होंगे। अल्लाह हर उस बात के लिए जो हमने इसमें लिखी है अगर सच न हो तो हमें माफ करे ! हम उससे ऐसी सहायता की याचना करते हैं जिससे हम उन बातों का दृढ़ता से पालन कर सकें जिनसे उसे संतोष होता है। हम उससे दुआ करते हैं कि वह हमें मिथ्या और व्यर्थ चीजों को समझने की अंतर्दृष्टि प्रदान करे ताकि हम उसकी छान-फटक करके गेहूं और भूसे को अलग-अलग कर सकें। सभी प्रकार के मंगल का वही स्रोत है और वही अपने बंदों के प्रति कृपालु है। अलहम्द-ओ-लिल्लाहि-ओ-रब्ब-उल-आलिमीन-ओ-वस्सलात-उन्नबी-ओ-मुहम्मद-ओ-अलजमईन।*

*तारीफ उस अल्लाह की जो सभी लोकों का मालिक है और पैगंबर मुहम्मद साहब और उनके समस्त परिवार पर उसकी कृपा हो।

टिप्पणियां

1. अबू-सहल अब्दुल-मुनइम इब्न-ए-अली इब्न-ए-नूह अतिफलिसी (पृ० 2)।[1]

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि अल-बिरूनी ने इस व्यक्ति के जीवन का कोई ब्योरा नहीं दिया जो स्पष्ट ही एक महत्वपूर्ण व्यक्ति था जिसके सुझाव पर और जिसे प्रसन्न करने के लिए उसने भारत-संबंधी इस महान कृति की रचना की थी। उसके नाम के पहले जुड़े सम्मान-शब्द 'उस्ताद' के आधार पर, जो सामान्यतः उच्च सिविल पदाधिकारियों के नाम के साथ प्रयुक्त किया जाता है सेनापतियों के साथ नहीं, सखाउ का विचार है कि वह सुल्तान महमूद के दरबार में कोई उच्च अधिकारी रहा होगा और शायद ईरानी मूल का होगा।

2. मोतजिला संप्रदाय (पृ० 3)। इस्लाम धर्म में एक प्राचीन धार्मिक तथा दार्शनिक आंदोलन। इस चिंताधारा का संस्थापक वासिल इब्न अता (मृत्यु 748) था।

मोतजिलियों ने पूर्व-निधारित सिद्धांतों का अनुगमन करने के बजाय इच्छा-स्वातंत्र्य पर बल दिया और कहा कि अल्लाह के जो दिव्य गुण हैं उन्हें अल्लाह के सहवर्ती गुण नहीं मानना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से अल्लाह की वहदत (ऐक्य) का विचार ही नष्ट हो जायेगा। उनका कुरान की 'रचना' के धर्म-सिद्धांत पर भी विश्वास था। इस आंदोलन को अल-मा'मून की खिलाफ़त (813-33) के दौरान विशेष महत्व प्राप्त हुआ और इसका प्रभाव-क्षेत्र भी विस्तृत हुआ।

इसके सिद्धांत यूनानी दर्शन से प्रभावित थे और उन पर घोर वाद-विवाद हुए और उसके पक्ष-विपक्ष में प्रचुर साहित्य लिखा गया। अल-बिरूनी चाहता था कि भारत पर लिखी उसकी पुस्तक इस प्रकार के विवादों से मुक्त हो।

1. यह और बाद की पृष्ठ-संख्या के निर्देश जो कोष्ठकों में दिए गये हैं प्रस्तुत संक्षिप्त संस्करण की पृष्ठ-संख्या दर्शाते हैं।

3. अबुल अब्बास अलईरान शहरी (पृ० 3)। धर्मों के इतिहास पर लिखी पुस्तक का लेखक जिसमें हिन्दू धर्म तथा बौद्ध धर्म का भी थोड़ा-बहुत वर्णन है। यह उन गिने-चुने उदाहरणों में से एक है जिनमें अल-बिरूनी ने भारतीय संस्कृति पर किसी प्राचीन मुस्लिम लेखक की कृति का उल्लेख किया है और उसके विचारों से सहमति व्यक्त की है। वैसे भारतीय समाज और धर्म के संबंध में अल-बिरूनी का अनुशीलन पूर्णतः देशी स्रोतों या व्यक्तिगत जानकारी और प्रेक्षण पर आधारित है।

कुछ प्राचीन अरब भूगोलवेत्ताओं के अनुसार ईरानशहर से अभिप्राय समस्त सासानी साम्राज्य था किंतु यहां इससे अभिप्रेत एक छोटा क्षेत्र या नगर है।

4. जरकान (पृ० 3)। अल-बिरूनी ने उसके संबंध में इसके सिवाय कोई विवरण नहीं दिया कि वह बौद्ध धर्म पर लिखे एक निबंध का लेखक था जिसका ईरान-शहरी (ऊपर सं० 3) ने अपनी पुस्तक में समावेश किया था। जरकान के वृत्तांत की प्रामाणिकता के बारे में अल-बिरूनी की कुछ बहुत अच्छी राय नहीं थी लेकिन सखाउ का कहना है कि बौद्ध धर्म के बारे में अल-बिरूनी ने जो भी जानकारी दी है उसका आधार जरकान की पुस्तक ही है।

5. सांख्य (पृ० 4)। यह एक विचारधारा का नाम है जिसके प्रवर्तक कपिल मुनि थे। (प्रकृति और पुरुष के बीच) कठोर द्वैत और आधारतभूत अनीश्वरवाद इसकी प्रमुख विशेषताएं हैं। सांख्यदर्शन के संबंध में अल-बिरूनी के विचार जानने के लिए पृ० 23-24 देखिए।

अल-बिरूनी ने सांख्य को कपिल द्वारा रचित पुस्तक बताया है (पृ० 64)। उसने इस पुस्तक का अरबी भाषा में अनुवाद किया था और धर्म तथा दर्शन के संदर्भ में इसके उद्धरण भी दिए हैं। सखाउ ने इसके तादात्म्य की चर्चा करते हुए 'तथाकथित सांख्य प्रवचनम्' ('कपिल का सांख्य सूक्त')' और दो अन्य ग्रंथों ईश्वर कृष्ण का 'सांख्य करिका' (कदाचित चौथी शताब्दी ईसवी) और गौड़पाद के भाष्य (नीचे की 17A टिप्पणी देखें) की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। उसका मत है कि यद्यपि इन ग्रंथों में समानताएं हैं किंतु वे अभिन्न नहीं हैं।

यह भी कहा जा सकता है कि सांख्य दर्शन का प्राचीनतम प्रलेख 'षष्टितंत्र' है जिसकी रचना वार्षगण्य ने पहली या दूसरी शताब्दी ईसवी में की थी। सांख्य दर्शन में द्विज तथा एक बार जन्मे दोनों को मोक्ष मिलता है जबकि 'पूर्वमीमांसा' और 'वेदांत' केवल द्विज को ही मोक्ष का पात्र मानते हैं।

6. पातंजल (पतंजलि ?) (पृ० 4)। सखाउ ने लिखा है कि अरबी पाठ में सामान्यत: किताब-ए-बातंजल मिलता है (अरबी लिपि में 'प' के लिए कोई अक्षर नहीं है और उसके लिए 'ब' का प्रयोग किया जाता है)। जिसे पतंजलि (लेखक) की पुस्तक' या 'पतंजलि या पातंजल' (नामक) पुस्तक के रूप में अनूदित किया जा सकता है या केवल एक स्थान पर अल-बिरूनी ने 'साहिब-ए-किताब-ए-बातंजल' या पतंजलि नामक ग्रंथ का लेखक लिखा है जहां पतंजल से अभिप्राय लेखक का नाम न होकर पुस्तक का नाम है। किंतु दो अन्य स्थलों पर 'पातंजल' शब्द लेखक के नाम का ही बोध कराता है (पृ० 39, 64)। इसीलिए सखाउ ने यह संकेत दिया है कि लेखक के नाम को ही शायद उसकी पुस्तक का शीर्षक मान लिया गया हो। शब्द के उच्चारण के संबंध में सखाउ का विचार है कि अरबी पाठ में उसे 'आ' से लिया गया है लेकिन इस विषय को लेकर लिप्यंतरण में एकरूपता नहीं मिलती। इसीलिए उसने संस्कृत के अनुसार उसे पतंजलि ही लिखा है।

'सांख्य' की ही भांति जिसका ऊपर उल्लेख हो चुका है यह भी उन पुस्तकों में से एक है जिनका अल-बिरूनी ने अरबी में अनुवाद किया था और जिससे धर्म तथा दर्शन-संबंधी विषयों में उसने प्रचुर उद्धरण दिए हैं (पृ० 64)।

पतंजलि 'योगसूत्र' का भी लेखक था जिसे चौथी ईसवी सदी का ग्रंथ माना जाता है। किंतु सखाउ ने यह स्पष्ट कर दिया है कि "अल-बिरूनी का पतंजलि' 'योग सूत्रकार पतंजलि' से सर्वथा भिन्न है।"

7. 'गीता' (पृ० 12) भी जो 'भारत' नामक ग्रंथ का ही एक भाग है, उपर्युक्त दो पुस्तकों की ही भांति एक पुस्तक है जिससे अल-बिरूनी ने धर्म और दर्शन-संबंधी विषयों पर व्यापक रूप से उद्धरण प्रस्तुत किए हैं। यह ध्यातव्य है कि उसने इसे 'भारत' का एक भाग बताया है न कि 'महाभारत' का।

सखाउ ने अल-बिरूनी द्वारा प्रयुक्त पाठ और वर्तमान 'भगवद्गीता' में अंतर की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। उसका विचार है कि पाठ की अल-बिरूनी द्वारा लिखित प्रति 'अधिक प्राचीन' तथा विस्तृत है और उसने इस बात पर आश्चर्य व्यक्त किया है कि उस प्रति का कुछ पता नहीं लग पाया है (अल-बिरूनी द्वारा प्रयुक्त मूल संस्कृत पाठ के प्रश्न पर नीचे टिप्पणी सं० 12 का अंतिम पैरा देखें)।

सखाउ का यह भी मत है कि शायद अल-बिरूनी ने 'गीता' के पाठ का प्रयोग न करके उसकी टीका का प्रयोग किया हो।

8. जबरिया संप्रदाय (पृ० 13)। यह शब्द 'जब्र' (अत्याचार, हठ) से व्युत्पन्न है। इस विचारधारा के अनुयायियों ने ईश्वर के सर्वशक्तिमान होने पर

वल दिया है और मोतज़िलियों के इच्छा-स्वातंत्र्य के सिद्धांत का खंडन किया है।

9. अबुलफत्ह अलबुस्ती (पृ० 16)। सुल्तान महमूद और मसूद के दरबार का प्रसिद्ध कवि। वह बुस्त (अफगानिस्तान) का रहने वाला था और उससे पहले सामानियों के शासन-काल में उनकी सेवा में रह चुका था। उसकी 1039 में मृत्यु हुई थी।

10. बुद्धोदन (पृ० 18) और श्रमण। सखाउ का यह मत स्वीकार्य नहीं है कि शब्द बुद्धोदन गौतम बुद्ध के पिता शुद्धोदन का अशुद्ध पाठ रहा होगा क्योंकि वह जिस प्रसंग में आया है उसके अनुकूल नहीं जान पड़ता। इसी प्रकार उसका यह मत कि ईरानशहरी के ग्रंथ में (देखिए उपर्युक्त टिप्पणी सं० 3), जिसे इस विषय में अल-विरूनी ने स्पष्टत: प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है-शायद बुद्धोदन न होकर शुद्धोदन रहा है (अरबी में दोनों शब्द समान लगते हैं), और शब्द शुद्धोदन 'शौद्धोदनि, अर्थात् बुद्धोदन या बुद्ध का पुत्र होगा' अधिक समीचीन है। वस्तुत: अन्यत्र (पृ० 183) अल-विरूनी ने स्वयं इस शब्द को 'शुद्धोदन का पुत्र बुद्धोदन' लिखा है। संभवत: सखाउ की दृष्टि इस हवाले पर न पड़ी हो।

अरबी भाषा में 'शमनियन' शब्द का प्रयोग बौद्धों के लिए किया जाता है। यह शब्द संस्कृत के प्राकृत रूप 'श्रमण' से व्युत्पन्न है। अल-विरूनी ने उन्हें 'मुहम्मिर' (पृ० 183) या रक्तपटधारी कहा है जिससे स्पष्ट अभिप्राय बौद्धों के गेरुवा रंग के वस्त्र से है।

11. 'विष्णु-पुराण' (पृ० 29) पुराणों में से एक का नाम है (देखिए नीचे टिप्पणी सं० 16 A)। यह छह भागों में विभक्त है जिनमें से पांच में ब्रह्मांड से संबंधित विषयों पर चर्चा की गयी है। छठे भाग में जो इस ग्रंथ का मूल है युवा कृष्ण की क्रीड़ा तथा अन्य कृत्यों का वर्णन है जिन्हें इसमें विष्णु का अवतार दिखाया गया है।

12. 'विष्णु-धर्म' (पृ० 37)। अल-विरूनी ने इस ग्रंथ का हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य-विषयक अध्याय (बारहवें) में उल्लेख किया है और यह बताया है कि इनका अभिप्राय है: 'भगवान का धर्म, जिसे इस संदर्भ में नारायण माना गया है।'

सखाउ इस ग्रंथ को पहचानने में असफल रहा और उसने लिखा है कि "यह एक प्रकार का पुराण है जो उन पौराणिक कथाओं और विश्वासों से भरा हुआ है जो पौराणिक कथाओं की विशेषताएं हैं"; साथ ही उसका यह भी कहना है कि

अल-बिरूनी ने इसे अपनी पुराणों की सूची में (पृ० 63) शामिल नहीं किया है। उसने लिखा है कि शौनक-कथाएं जिनको अल-बिरूनी ने प्रायः उद्धृत किया है (पृ० 239) कदाचित 'विष्णु धर्म' से ही ली गयी होंगी। उसने कहा है कि यह ग्रंथ वही होगा जो 'विष्णु-धर्मोत्तर पुराण' कहा जाता है और जिसमें "ब्रह्मगुप्त के ब्रह्मसिद्धांतों का समावेश किया गया बताया जाता है।" अल-बिरूनी के पास इस ग्रंथ की एक प्रति थी और सखाउ का विचार है कि उसके (अल-बिरूनी) पास "शायद इस वृहत ग्रंथ का एक भाग रहा होगा।"

संस्कृत पाठों की प्रामाणिकता के संबंध में जिनका अल-बिरूनी ने उपयोग किया था सामान्य चर्चा के लिए और उसके द्वारा उद्धृत कुछ ग्रंथों की पहचान के लिए देखिए डॉ० जे० गोंडा की 'संस्कृत पाठों से अल-बिरूनी द्वारा दी गयी टिप्पणियां', [अल-बिरूनी कमेमोरेशन वाल्यूम, पृ० 111-18]। डॉ० गोंडा ने लिखा है कि इन उद्धरणों की शुद्धता सामान्यतः प्रमाणित हो चुकी है क्योंकि उन्हीं पाठों की अन्य कई प्रतियां मिल चुकी हैं और पौराणिक गाथाओं को अधिक अच्छे ढंग से समझा जा चुका है। इस ग्रंथ-विशेष की पहचान के संबंध में सखाउ के अनुमान की अन्य लेखकों ने पुष्टि कर दी है।

13. 'अंत्यज' और चार वर्ण (पृ० 48)। वर्ण-व्यवस्था से संबंधित यह भाग और विभिन्न वर्णों के सदस्यों द्वारा मनाए जाने वाले विभिन्न संस्कार और प्रथाओं से संबंधित भाग (ग्यारहवां, तिरेसठवां तथा चौसठवां अध्याय) कई प्रकार से अल-बिरूनी के भारत संबंधी विवरण के अत्यंत महत्वपूर्ण भाग हैं। जितनी विस्तृत और प्रत्यक्ष जानकारी पूर्व-मध्यकालीन भारत में प्रचलित वर्ण-प्रथा के बारे में इस पुस्तक में उपलब्ध है अन्य किसी अ-भारतीय ग्रंथ में नहीं मिलती।

बी० पी० मजूमदार ['सोशियो-इकॉनामिक हिस्टरी ऑफ़ इंडिया' (1030-1194 ई०), 1960, पृ० 79] का विचार है कि अल-बिरूनी ने जिस स्थिति का वर्णन किया है वह उस युग में हिन्दू समाज में वस्तुतः प्रचलित स्थिति न होकर वह रही होगी जो प्राचीन धर्मग्रंथों में उपलब्ध होगी। उसका कथन है कि ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारंभ में जातियों की भरमार थी और कुछ मिश्रित जातियां भी थीं।

वास्तव में अल-बिरूनी के वृत्तांत में वस्तुस्थिति की कुछ झलकियां भी मिल जाती हैं। उदाहरण के लिए 'बाद की दो जातियों' (वैश्य और शूद्र) के संबंध में उसने लिखा है कि यद्यपि उनमें आपस में बहुत अधिक मतभेद है फिर भी "वे एक ही गांव और कस्बे में साथ-साथ रहते हैं, एक ही मकान में आपस में मिल-जुल कर रहते हैं।" इससे भी यह आभास मिलता है कि उनमें किसी-न-किसी हद

तक अंतर्जातीय विवाह भी होते होंगे।

अंत्यजों के बारे में प्रो० मजूमदार लिखते हैं कि प्रारंभिक 'स्मृति-ग्रंथों' की रचना के समय अछूतों को अंत्यज कहा जाता था। उनका यह भी कहना है कि उनके उपवर्गों की संख्या भी भिन्न थी—कुछ ने उसे 7 और दूसरों ने 12 बताया है। अल-बिरूनी ने उन्हें 'शूद्रों के बाद' स्थान दिया है और कहा है कि "उन्हें किसी जाति में शामिल नहीं किया जाता था बल्कि उन्हें किसी शिल्प या व्यवसाय के सदस्य माना जाता था।" उसने उनकी एक सूची भी दी है जिसमें उन्हें "धोबी, चमार, बाजीगर, टोकरीसाज, सिपरसाज, नाविक, मछुआरा, बहेलिया और जुलाहा" बताया है। प्रो० मजूमदार ने उन्हें रजक, चर्मकार, नट या शैलूषिक, बुरूड, नाविक, कैवर्त भिल्ल, कुविदक नाम दिए हैं और कहा है कि उन्हें प्रारंभिक स्मृति-ग्रंथों में तो चांडाल या अंत्यज माना गया है किंतु मनु ने उन्हें शूद्र माना है।

14. क़रामतियन (पृ० 55)। यह एक सुसंगठित उग्रवादी संप्रदाय था जिसका पहले तो इस्माईली आंदोलन से संबंध रहा था किंतु इसके मूल का कोई पता नहीं चला। इसने कुछ धर्म सिद्धांतों की गूढ़ व्याख्या पर बल दिया था और इसमें कुछ साम्यवादी प्रवृत्तियां भी निहित थीं। इसके अनुयायियों ने जिन्हें कुछ आधुनिक लेखकों ने 'इस्लाम के बोलशेविक' की संज्ञा दी है, धार्मिक सहिष्णुता पर बल दिया, मजदूरों और शिल्पियों को अलग-अलग संघों में संगठित किया और संपत्ति तथा पत्नियों पर सभी के समान अधिकार की वकालत की।

हमदान करमत जो कि एक इराकी किसान था इस संप्रदाय का संस्थापक था और उसके अनुयायी करमती कहलाए। उन्होंने फारस की खाड़ी के पश्चिमी तट पर (899 में) एक राज्य स्थापित किया जो अब्बासी खिलाफत के लिए निरंतर कष्ट का कारण बना रहा। 930 में उन्होंने मक्का नामक पुण्य नगर पर आक्रमण किया और उसे घेर लिया और वे वहां से 'संग-ए-असवद' नामक पुनीत पत्थर उठाकर ले गये जिसे 20 वर्ष के बाद फातिमी खलीफा अल मंसूर (946-52) के आदेश से वापस किया गया।

कालांतर में उन्होंने उत्तरी सिंध के अधिकांश भाग पर अपना राज्य स्थापित कर लिया। उन्हें सुलतान महमूद ने परास्त किया और उनका दमन कर दिया (जिसका अल-बिरूनी ने यहां उल्लेख किया है)। लेकिन उसकी मृत्यु के बाद उन्होंने अपना खोया हुआ राज्य फिर से जीत लिया और 1175 में सुल्तान मुईजउद्दीन गोरी (1173-1206) ने उन्हें फिर दबा दिया।

15. वराहमिहिर (पृ० 56)। छठी शताब्दी ईसवी का विख्यात भारतीय खगोल-विज्ञानी और 'पंचसिद्धांतिका' तथा 'बृहत्संहिता' नामक प्रसिद्ध ग्रंथों का

लेखक। अल-बिरूनी ने इन दोनों ग्रंथों का अनेक बार हवाला दिया है। पश्चोक्त पुस्तक फलित-ज्योतिष पर है किंतु उसमें वास्तुकला, प्रतिमा-विज्ञान, उद्यानकर्म, कामशास्त्र आदि अन्य अनेक विषयों की जानकारी भी मिल जाती है। एच० कर्न ने 'बिब्लियोथिका इंडिका' सीरीज (1864-1865) में इसका संपादन किया था और जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, लंदन, न्यू सीरीज, वाल्यूम IV-VII में इसका अंग्रेजी में अनुवाद भी किया था।

16. वसुक्र, कश्मीरी, जिसने वेद को लिपिबद्ध किया था (पृ० 61)। वेद के 10वीं-11वीं शताब्दी के आस-पास लिपिबद्ध किए जाने का यह निर्देश बहुत महत्वपूर्ण है। यह बड़े खेद का विषय है कि इस ग्रंथ की एक प्रति भी शेष नहीं रह पाई।

16 A. पुराण (पृ० 63)। पुराण शब्द का अर्थ है प्राचीन। साहित्य की विधा की दृष्टि मे ये प्राचीन धार्मिक कविताएं हैं तथा साथ ही आख्यानों और धार्मिक शिक्षाओं का संग्रह हैं। विषय की दृष्टि से ये मूलतः उद्गम ग्रंथ थे जो उनके पांच लक्षणों से स्पष्ट है, यथा—सृष्टि, पुनर्सृष्टि, देवताओं तथा ऋषि-मुनियों की वंशावली, चार मूल युग और राजाओं की वंशावली। उनके पाठों का जो वर्तमान रूप है उसमें ए० एल० बाशम के मतानुसार ['दि वंडर दैट वाज इंडिया', पेपरबैक संस्करण, 1967, पृ० 301] गुप्त काल (319-550 ई०) से बाद का कोई वर्णन नहीं मिलता किंतु उनमें आख्यान-संबंधी सामग्री बहुत प्राचीन है।

अल-बिरूनी ने 18 पुराणों के नामों की सूची दी है और उसी रूप में दी है जैसे उसने उन्हें सुना और लिखा था। एक और भिन्न सूची भी दी है और उसमें भी 18 नाम हैं जो उसे 'विष्णु-पुराण' से पढ़कर सुनाए गये थे। उसने कहा है कि इसमें से मैंने 'मत्स्य', 'आदित्य' और 'वायु-पुराण' के केवल कुछ अंश देखे हैं।

17. स्मृति (पृ० 63)। 'स्मृति-ग्रंथों' के अंतर्गत धार्मिक साहित्य की वह श्रेणी आती है जिसमें नियम-पुस्तकें होती हैं। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध 'मनु-स्मृति' है जो अंतिम रूप में दूसरी या तीसरी शताब्दी ईसवी में लिखी गयी थी। किंतु यहां अल-बिरूनी ने जिस स्मृति का उल्लेख किया है वह एक और विशिष्ट पुस्तक है जिसमें 'विधि-निषेध' का वर्णन है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि स्मृति-ग्रंथों की जो सूची अल-बिरूनी ने दी है वह एक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। उसमें कुछ लघु स्मृतियों के नाम भी दिए गये हैं जैसे 'अत्रि', 'हरित' और 'दक्ष'। इससे हमें उनके संकलन की निम्नतम समय-सीमा निर्धारित करने में सहायता मिलती है। उसने लिखित और शंख

(पृ० 63 पर सं० 14 और 15) को दो भिन्न पुस्तकें बताया है, जबकि वे एक ही—शंख-लिखित—हैं।

17 A. गौड़ मुनि (पृ० 64)। अल-बिरूनी ने गौड़पाद का नाम लिखते समय यह स्पष्ट रूप से नहीं बताया कि वह शंकराचार्य के गुरू थे, अलबत्ता सखाउ का यह मत है कि यहां जिस गौड़ मुनि का उल्लेख हुआ है उसे गौड़पाद माना जा सकता है। आश्चर्य की बात है कि अल-बिरूनी ने वहां शंकराचार्य का कोई हवाला क्यों नहीं दिया।

18. 'न्यायभाप', कपिल द्वारा रचित (पृ० 64)। सखाउ ने कहा है कि अरबी पाठ में इस शब्द के लिप्यंतरण के बारे में वह आश्वस्त नहीं है क्योंकि वहां वह—'नायभाप' दिखाई देता है। उसने यह भी कहा है कि पुस्तक की विषयवस्तु का गौतम के न्याय दर्शन से कोई संबंध नहीं है बल्कि वह जैमिनी के मीमांसा-दर्शन से अधिक मिलती-जुलती है क्योंकि उसका नाम कुछ ही बाद में उसने दिया है।

'न्याय' हिन्दू दर्शन की छह परंपरागत शाखाओं में से एक है जिसका प्रमुख प्रलेख अक्षपाद गौतम-लिखित—'न्यायसूत्र' (चौथी सदी ई०) है। इसकी टीका 16वीं शती में एक अन्य विद्वान ने लिखी थी और यह टीका 'न्यायभाष्य' कहलाती है। इस भाष्य का लेखक अज्ञात है किंतु अल-बिरूनी ने लिखा है कि वह कपिल ने लिखी थी।

19. 'मीमांसा' (पृ० 64)। जैमिनी ऋषि द्वारा प्रवर्तित दर्शन। इसका मूल उद्देश्य वेद की व्याख्या करना था जिसे इस दर्शन में आदियुगीन और अलौकिक माना जाता था। वेदों से गृहीत इस 'मीमांसा दर्शन' की दो धाराएं हैं, एक को 'पूर्वमीमांसा' कहते हैं जिसमें वैदिक कर्मकांड का निरूपण किया गया है और दूसरी को 'उत्तरमीमांसा'; इसमें (इसे वेदांत भी कहते हैं) वैदिक साहित्य के आध्यात्मिक पक्ष पर चर्चा की गयी है।

यहां अल-बिरूनी ने 'पूर्व-मीमांसा' का उल्लेख किया है। जैमिनीय 'पूर्व-मीमांसा सूत्र' का रचना-काल चौथी-पांचवीं शताब्दी ईसवी है।

20. 'लोकायत' (एवमेव) नामक पुस्तक (पृ० 64)। सखाउ का मत है कि लोकायत-दर्शन बृहस्पति द्वारा संस्थापित किया गया था जो 'बृहस्पति सूत्रम्' का रचयिता था। इसके अनुयायी भौतिकवादी चिंतक थे जिनका भौतिक शरीर और उनकी आवश्यकताओं से इतर किसी अहं अथवा सत्ता में विश्वास नहीं था। उनका मत था कि केवल प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमाण अथवा ज्ञान का एकमात्र साधन है। अल-बिरूनी ने इस शब्द का प्रयोग किसी पुस्तक के नाम के रूप में जो किया है उससे लगता है कि उसका अभिप्राय किसी ऐसी पुस्तक से रहा होगा इसी दर्शन के

लेखक ने लिखी होगी।

20A. 'अगस्त्य मत' नामक पुस्तक (पृ० 64)। ऐसी दो पुस्तकें हैं जिनके नाम के साथ अगस्त्य उपसर्ग जुड़ा हुआ है। पहली है 'अगस्त्य-सुतिवेष्ण-संवाद' जो रामभक्ति शाखा का ग्रंथ है। दूसरी पुस्तक है 'अगस्त्य-सूत्र' और 'देवी-भागवत', जो दोनों शाक्त संप्रदाय के प्रमुख ग्रंथ हैं। शाक्त संप्रदाय के लोग देवी के उपासक हैं और उसी की भक्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने में विश्वास रखते हैं। इन ग्रंथों की रचना पूर्व-मध्यकाल के उत्तरार्ध में हुई मानी जाती है। यह स्पष्ट नहीं हो पाया है कि अल-बिरूनी ने यहां जिस ग्रंथ का उल्लेख किया है वह उन्हीं दो में से एक है अथवा कोई और है।

21. पाणिनि (पृ० 66)। यह चौथी शताब्दी ईसा-पूर्व के एक विख्यात भारतीय वैयाकरण का नाम है जिसने महान् संस्कृत व्याकरण-ग्रंथ 'अष्टाध्यायी' की रचना की थी।

22. अबुल असवद अदुअली (पृ० 67)। साहित्यिक परंपरा के अनुसार यह अरबी व्याकरण का जन्मदाता था। उसकी मृत्यु 681 में हुई थी।

23. 'सिंदहिंद' (पृ० 74)। अल-बिरूनी ने लिखा है कि भारतीय गणित-ज्योतिष पर रचित प्रत्येक मानक ग्रंथ को 'सिद्धांत' की संज्ञा देते हैं। इसी प्रकार के एक ग्रंथ 'ब्रह्मसिद्धांत' का, जिसकी रचना ब्रह्मगुप्त ने की थी (देखें, नीचे टिप्पणी 25), खलीफा मंसूर के आदेश पर अल-फजरी ने अरबी में अनुवाद किया था (754-75) और इसका नाम 'सिंदहिंद' रखा था। भारतीय गणित-ज्योतिष से अरबों को परिचित कराने वाला यह प्राचीनतम ग्रंथ है।

24. पौलिश और पुलिश (पृ० 74)। अल-बिरूनी ने इन दो नामों का दो भिन्न व्यक्तियों के लिए प्रयोग किया है। पूर्वोक्त यूनानी था और उसने गणित-ज्योतिष पर एक पुस्तक—'पौलिश सिद्धांत'—की रचना की थी। इसे प्राचीन खगोल-विज्ञानी पॉल ऑफ अलैक्जांड्रिया से अभिन्न माना जाता है और पश्चोक्त उसी ग्रंथ का टीकाकार था।

25. ब्रह्मगुप्त (पृ० 74)। यह एक प्रसिद्ध भारतीय खगोलविज्ञानी और गणितज्ञ था जो 7वीं शताब्दी ईसवी में हुआ था। खगोलविज्ञान पर उसके प्रसिद्ध ग्रंथ 'ब्रह्मसिद्धांत' के कुछ अंशों का अल-बिरूनी ने अरबी भाषा में अनुवाद किया था (पृ० 74) और उसने उस पुस्तक के विषय के बारे में भी विवरण

(पृ० 74-75) दिया है। उसने ब्रह्मगुप्त के एक और ग्रंथ 'खांडखाद्यक' का भी उल्लेख किया है जो अरबों में 'अल-अरकंद' के नाम से जाना जाता था (पृ० 198)। इस ग्रंथ पर एक टीका भी लिखी गयी थी जिसका शीर्षक था 'खांडखाद्यक-टिप्प' जिसे अल-बिरूनी ने बलभद्र रचित ग्रंथ माना है। यहां यह बात भी स्मरणीय है कि अल-बिरूनी ने एक अन्य पुस्तक का भी हवाला दिया है जिसकी उसने सयववाल (?) नामक एक कश्मीरी के लिए रचना की थी और जिसका शीर्षक उसने 'अरबी खांडखाद्यक' (पृ० 275) रखा था।

अल-बिरूनी ने ब्रह्मगुप्त की 'उसकी बहुज्ञता और बुद्धि की कुशाग्रता' के लिए प्रशंसा की है और उसे उनके (हिन्दुओं के) खगोल-विज्ञानियों में सबसे अधिक 'प्रतिष्ठित खगोलज्ञ' कहा है, किन्तु साथ ही उसने उसकी कुछ वैज्ञानिक सत्यों के संबंध में समझौता करने पर आलोचना भी की है जिनके बारे में उसका दृढ़ विश्वास था कि उसने ऐसा अशिक्षित पुरोहितों को तुष्ट करने के लिए किया होगा। अल-बिरूनी का यह भी कहना है कि ब्रह्मगुप्त को ऐसा शायद इसलिए करना पड़ा होगा कि उस पर कुछ भारी दबाव रहा होगा और वह सुकरात के साथ हुई घटना से बचना चाहता था (पृ० 224)। उसने उसकी एक और प्रतिष्ठित खगोलज्ञ आर्यभट्ट के लिए 'अपमानजनक' शब्दों के प्रयोग पर भी भर्त्सना की है। (पृ० 179-80)।

26. आर्यभट्ट (पृ० 76)। 5वीं सदी ईसवी का प्रसिद्ध भारतीय खगोलज्ञ और गणितज्ञ। गणित का एक विशिष्ट विषय के रूप में निरूपण करनेवाला वह पहला व्यक्ति था और इस क्षेत्र में उसका सबसे महत्वपूर्ण योगदान दशमलव के स्थान के मूल्य-संबंधी पद्धति पर आधारित अंकन-पद्धति है। उसके प्रख्यात ग्रंथ 'आर्यभट्टीय' की रचना 499 ई० में हुई थी। एच० कर्न ने (लीडन, 1874) अपनी टीका सहित इसका संपादन किया है और उसके बाद पं० बलदेव मिश्र ने इस पर संस्कृत और हिन्दी में टीका लिखी है (जिसे बिहार रिसर्च सोसाइटी, पटना ने 1966 में प्रकाशित किया है)। अल-बिरूनी ने लिखा है कि उसने उसका कोई ग्रंथ नहीं देखा था। अलबत्ता वह उसे ब्रह्मगुप्त द्वारा दिए गये उद्धरणों के माध्यम से जानता था।

आर्यभट्ट का विचार था कि पृथ्वी एक ग्रह है और वह अपनी धुरी पर घूमती है। उसने ग्रहणों से संबंधित परंपरागत व्याख्या की आलोचना की और यह स्पष्ट किया कि 'चंद्रग्रहण' तब होता है जब वह पृथ्वी की छाया में प्रवेश करता है और सूर्यग्रहण तब होता है जब चंद्रमा सूर्य को ढंककर हमसे छिपा लेता है (पृ० 222)। उसके इन विचारों के कारण ब्रह्मगुप्त ने उसकी तीव्र आलोचना की है [पृ० 179, 223]।

यह बात स्मरणीय है कि अल-बिरूनी ने आर्यभट्ट नामक दो भिन्न व्यक्तियों का उल्लेख किया है। उसने उन्हें 'ज्येष्ठ आर्यभट्ट' और 'कुसुमपुरा का आर्यभट्ट' कहा है जो ज्येष्ठ आर्यभट्ट का ही अनुयायी था (पृ० 122, 178)। पश्चोक्त अल नत्फ (?) नामक पुस्तक का लेखक था, उसने एक और पुस्तक की भी रचना की थी जिसकी बलभद्र ने टीका लिखी थी।

27. चरक (पृ० 78)। वह 'चरक-संहिता' का रचयिता था और कुषाण शासक कनिष्क (पहली शताब्दी ईसवी) का राजवैद्य था। चरक का ग्रंथ प्राचीन भारतीय आयुर्विज्ञान पर लिखे मूल ग्रंथों में माना जाता है।

अल-बिरूनी ने उसके इस ग्रंथ के अरबी अनुवाद का हवाला दिया है और उससे उद्धरण भी दिए हैं जो बारमकी कुल के एक राजा के लिए किया गया था (पृ० 78)।

28. बरमिसिडीज (पृ० 78)। खालिद इब्न बरमक का वंशज जो खलीफा मंसूर का प्रतापी और प्रभावशाली वजीर था। खालिद बल्ख में एक बौद्ध मठ के मठाधीश (बरमक) का पुत्र था। उसके वंशजों का जो बरमकी या बरमिसिडीज कहलाते थे मंसूर और मेहदी (775-85) की खिलाफत के दौरान बड़ा प्रताप था; वे हारून रशीद की खिलाफत के काल में मारे गये (786-809)। बरमिसिडीज ज्ञान-विज्ञान के महान् संरक्षक थे और उनके वर्चस्व काल में अब्बासियों के दरबार में ईरानी तथा भारतीय संस्कृति का प्रभाव विशेष रूप से बढ़ गया था।

29. कलील और दिम्ना (पृ० 79)। यह संस्कृत ग्रंथ के फारसी अनुवाद का, जो पहले ही किया गया था अरबी अनुवाद है। मूल संस्कृत और फारसी अनुवाद दोनों ही अब दुर्लभ हैं और इब्न-अल-मुकफ्फा (मृत्यु 757) द्वारा अनूदित अरबी संस्करण पर ही विभिन्न भाषाओं के अन्य अनेक अनुवाद आधारित हैं। यह ग्रंथ शिक्षात्मक कथाओं का संग्रह है जिनका उद्देश्य राजाओं को नीतिशास्त्र और राज्यतंत्र-विषयक शिक्षा देना था।

संस्कृत मूल की, जो नष्ट हो गया था, कुछ सामग्री 'पंचतंत्र' में विस्तृत रूप में उपलब्ध है।

30. अब्दुल्ला अल मुक़फ़्फ़ा (पृ० 79)। वह एक जरतुश्ती था जिसने इस्लाम स्वीकार कर लिया था; 757 में उसकी संदिग्ध रूढ़िवादिता के कारण उसे अग्नि-दंड दिया गया था।

30A. पूर्वदेश का उदुनपुर (पृ० 86)। उदुनपुर को औदंतपुरी 'विहार' माना जा सकता है जो पूर्वमध्यकाल (600-1200) में बिहार के प्रमुख विश्व-

विद्यालयों में से एक था। इसकी स्थापना 725 के आस-पास हुई थी और यह आधुनिक बिहार शरीफ कस्बे (नालंदा जिला) की सीमा पर पहाड़ी पर स्थित था। योगेन्द्र मिश्र का लेख 'दि औदंतपुरी विहार' (रामकृष्ण मिशन पटना की पत्रिका का वार्षिक अंक, 1984, पृ० 93-114) देखें। यह प्राचीनतर तथा अधिक प्रसिद्ध नालंदा विहार से भिन्न है जो उसी के निकट स्थित है।

31. कन्नौज और बाड़ी (पृ० 100)। यह प्रसिद्ध राजधानी कन्नौज के पतन और ध्वंस और राजधानी के बाड़ी नामक स्थान पर स्थानांतरण के बारे में बहुत मूल्यवान जानकारी है। बाड़ी नगर गंगा के पूर्वी किनारे पर स्थित था। यह स्थानांतरण महमूद के कन्नौज पर आक्रमण (1018) के समय हुआ था।

आर० एस० त्रिपाठी (हिस्टरी ऑफ कन्नौज, 1964 का संस्करण, पृ० 285, 287) ने इस जानकारी का हवाला दिया है किंतु इस पर कोई टिप्पणी नहीं की। प्रो० वाई० मिश्रा (दि हिन्दू शाहीज ऑफ अफगानिस्तान एंड दि पंजाब, 865-1026 ई०, पटना, 1972, पृ० 197 और टिप्पणी) ने विचार व्यक्त किया है कि बाड़ी (जिसे उन्होंने वाड़ी पढ़ा है) स्कंधवारी प्रतिहार राजा का शिविर मात्र था और महमूद की लूटमार के बाद उसमें से कुछ भी शेष नहीं रहा था। किंतु यह ध्यान देने की बात है कि अल-बिरूनी ने जिसने आक्रमण का वृत्तांत लगभग बारह वर्ष के बाद लिखा था बाड़ी के लिए 'नगर' और 'कस्बे' शब्दों का प्रयोग किया है।

32. फरसख (पृ० 100)। यह दूरी मापने का एक माप है जो चार मील के बराबर होता है।

33. याकूब और अल-फ़ज़री (पृ० 144)। याकूब इब्न तारिक और मुहम्मद इब्न इब्राहीम अल-फजरी भारतीय खगोलशास्त्रीय ग्रंथों को मुस्लिम जगत से परिचित कराने वाले पहले लेखक थे। इनमें से पूर्वोक्त 8वीं सदी ईसवी के उत्तरार्ध में हुआ था और उसने खगोलशास्त्र तथा गणित-भूगोल पर एक पुस्तक लिखी थी जिसके अल-बिरूनी ने उद्धरण दिए हैं और साथ ही भारतीय खगोलशास्त्र की कतिपय संकल्पनाओं को गलत समझने और संस्कृत के कुछ शब्दों को अशुद्ध रूप में लिप्यंतरित करने के लिए उसकी आलोचना भी की है। पश्चोक्त ने 'ब्रह्मसिद्धांत' (ऊपर सं० 25) का अनुवाद किया था और सखाउ का मत है कि उसी ने ब्रह्मगुप्त की दूसरी पुस्तक 'खंडखाद्यक' का भी अनुवाद किया था जिसे अरब 'अल-अरकंद' के नाम से जानते थे।

34. राम और रामायण (पृ० 147)। सी० बुल्के ('अल-बिरूनी एंड दि राम-कथा', ए० सी० वी०, पृ० 77-83) ने विचार व्यक्त किया है कि यद्यपि अल-बिरूनी ने भारतीय धार्मिक साहित्य से संबंधित अध्याय में रामायण का कोई उल्लेख नहीं किया है (बारहवां अध्याय), 'राम और रामायण की कथा' के संबंध में दिए गये हवालों (पृ० 56, 58, 107-8, 146-147, 182) से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उसे इस महाकाव्य के बारे में काफी जानकारी थी।

35. मुहम्मद इब्न जकरिया अलरजी (पृ० 151)। अबू बक्र मुहम्मद इब्न जकरिया अल-रजी (जिसे अंग्रेजी में राजेज कहते हैं; 865-925) बगदाद के अस्पताल का प्रधान वैद्य था। उसने आयुर्विज्ञान पर अनेक पुस्तकें लिखी हैं जिनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध 'हावी' है।

36. ब्राह्मण राजा सामंत-भीमपाल (पृ० 200)। सखाउ ने इस अध्याय (उनचासवां) के दो भागों की प्रकृति और विषयवस्तु में असमानता पर टिप्पणी की है और यह मत व्यक्त किया है कि इसका पूर्व-भाग जो संवत्सरों से संबंधित है 'विष्णुधर्म' से लिया गया है, (ऊपर टिप्पणी 12 देखिए)। जहां तक उसके पश्च भाग का संबंध है ऐतिहासिक स्वरूप की जानकारी (काबुल का शाही वंश) के विषय में अल-बिरूनी ने किसी लिखित स्रोत का उल्लेख नहीं किया है। यह अल-बिरूनी के स्वभाव के विपरीत है क्योंकि यदि उसने कोई पुस्तक देखी होती तो उसने उसका जिक्र अवश्य किया होता। इसलिए ऐसा लगता है कि यह भाग मौखिक जानकारी पर आधारित है "और उसे उस युग में उत्तर-पश्चिमी भारत के शिक्षित हिन्दुओं में प्रचलित पाठ माना जा सकता है।" अल-बिरूनी ने इस प्रकार की ऐतिहासिक परंपरा की अविश्वसनीयता के बारे में प्राय: अपनी टिप्पणी दी है और विशेष रूप से इस विषय में यह स्वीकार किया है कि उसने जो ऐतिहासिक कालक्रम दिया है वह पूर्ण रूप से संतोषजनक नहीं है। सखाउ ने अंत में कहा है कि इस अध्याय में "जो भी दोषारोपण या प्रशंसा" जोड़ी गयी है उसका दायित्व अल-बिरूनी के सूचनादाताओं पर है।

हिन्दी शाहियों के हाल ही के विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए योगेन्द्र मिश्र की पुस्तक, 'हिन्दू शाहीज ऑफ अफगानिस्तान एंड दि पंजाब' 865-1026 ई०, पटना, 1972; प्रो० मिश्रा ने यहां दी गयी शासकों की सूची को सही माना है लेकिन यह भी कहा है कि शाही क्षत्रिय थे ब्राह्मण नहीं, जैसा कि अल-बिरूनी ने बताया है।

37. एक घोड़ी···छोड़ दी जाती है··· (पृ० 236)। इस संबंध में मानक स्रोतों

के अनुसार इस प्रयोजन के लिए घोड़े का प्रयोग किया जाता था लेकिन अल-बिरूनी ने घोड़ी बताया है।

38. पृ० 255; यह एक रोचक जानकारी है। जाहिर है कि ऐसे लोग काफी संख्या में होंगे जिससे कि दाय भाग में इस प्रकार की व्यवस्था रखने का औचित्य सिद्ध हो सके।

39. एक विशाल वृक्ष है जिसे 'प्रयाग' कहा जाता है··· (पृ० 259)। इससे आशय यह रहा होगा कि प्रयाग में गंगा और जमुना के संगम पर वट जाति का कोई वृक्ष था जिसे प्रयाग-वृक्ष या प्रयाग का वृक्ष कहते होंगे।

40. हिन्दू त्योहार (पृ० 264)। सखाउ का सुझाव है कि भारतीय त्योहारों से संबंधित इस भाग की तुलना एच० एच० विलसन के 'एसेज एंड लेक्चर्स' वॉ० II में "दि रिलीजस फेस्टिवल्स ऑफ दि हिन्दूज" से की जानी चाहिए। सखउ ने आगे कहा है कि इस अध्याय का फारसी अनुवाद अबूसईद अब्दुल हई गरदेजी की पुस्तक में किया गया था (बोडलियन पांडुलिपि)।

यह भी कहा जा सकता है कि गरदेजी सुल्तान जैनुलमिल्लत अब्दुर्राशिद बिन सुल्तान महमूद (1049-52) का समकालीन था जिसे उसने अपनी पुस्तक 'जैनुल अखबार' समर्पित की थी। इस पुस्तक में ईरान के प्राचीन राजाओं, आदिकालीन इस्लामी इतिहास, कालक्रमानुसार संवत, मुसलमानों, यहूदियों, ईसाइयों, पारसियों और हिन्दुओं के त्योहारों का वर्णन है। अंतिम भाग जिसका सखाउ ने हवाला दिया है, अल-बिरूनी के इसी अध्याय का अनुवाद हैं। खुरासान प्रदेश के इतिहास में 'जैनुल अखबार' के महत्व पर टिप्पणी देते हुए बारथोल्ड ने लिखा है कि भारत से संबद्ध भाग "पूर्णतया अरबी स्रोतों पर आश्रित हैं" और साथ ही अनुवाद कहीं-कहीं गलत भी हुआ है।

बोडलियन पांडुलिपि कैंब्रिज पांडुलिपि की ही प्रतिलिपि है।

41. महानवमी, महादेव की बहिन (पृ० 266)। देवी महानवमी को भगवती का समकक्ष माना गया है जिसका त्योहार अश्वयुज अष्टमी को मनाया जाता है। लेकिन उसे महादेव की पत्नी के बजाय उसकी बहिन बताना सरासर गलत है। यह स्पष्ट है कि यह त्योहार आजकल के दुर्गापूजा त्योहार के समय ही आता है। बकरी की बलि का भी उल्लेख किया गया है।

42-45. (पृ० 266-68)। पाठकों के मन में कुछ अनुष्ठानों के समय को लेकर शंकाएं उत्पन्न हो सकती हैं जैसे पितृपक्ष और दिवाली, शिवरात्रि आदि कुछ

त्योहारों की तारीखें आदि। इस संपूर्ण वर्णन को भली प्रकार समझने के लिए वी०पी० मजूमदार की पुस्तक 'सोश्योइकॉनॉमिक हिस्टरी ऑफ माडर्न इंडिया' (1030-1194 ई०; पृ० 274-315) देखी जा सकती है जिसमें हिन्दू सार-संग्रहों और अल-विरूनी की पुस्तक के तुलनात्मक अध्ययन पर आधारित भारतीय त्योहारों का प्रामाणिक वृत्तांत दिया गया है। प्रो० मजूमदार ने ऐसी बातों की ओर ध्यान आकर्षित करके ठीक ही किया है कि कुछ त्योहारों की तारीखों और उनके मनाने की विधियों में अंतर है, कुछ त्योहारों को जिन देवी-देवताओं के साथ संबद्ध किया जाता था उनमें भी परिवर्तन आ गया है और अल-विरूनी ने कुछ ऐसी प्रथाओं का उल्लेख किया है जो "भारतीय सार-संग्रहकारों को मालूम ही न थीं।" कुछ त्योहार जो उस समय मनाए जाते थे अब नहीं मनाए जाते और आज के कुछ प्रमुख त्योहार जैसे 'छठ' बारहवीं शताब्दी तक उत्तर भारत में रहने वालों को मालूम ही नहीं थे।

इस संबंध में हिन्दू पंचांग से संबंधित निम्नलिखित बातें ध्यान में रखने योग्य हैं :

(i) पितृपक्ष (पृ० 266)। वर्ष के किसी मास की गणना करने की दो पद्धतियाँ हैं : (i) अमावस्या से अमावस्या तक जिसे 'अमांत' कहते हैं, और (ii) पूर्णिमा से पूर्णिमा तक जिसे 'पूर्णिमांत' कहते हैं। शुक्ल पक्ष की अवधि दोनों पद्धतियों में समान है। अल-विरूनी ने इस त्योहार का वर्णन करते हुए बताया है कि यह "तब पड़ता है जब चंद्रमा दसवें नक्षत्र माघ में होता है" और आगे यह भी कहा है कि "चंद्रमा के इस नक्षत्र में प्रवेश का समय अमावस्या के आसपास होता है।" मास-गणना की पूर्णिमांत पद्धति के अंतर्गत भाद्रपद में जिसका अल-विरूनी ने यहाँ उल्लेख किया है आश्विन (अश्वयुज) शामिल है जिसमें यह त्योहार मनाया जाता है।

(ii) दिवाली (पृ० 267)। अल-विरूनी का कहना है कि यह "कार्तिक के अंत में या अमावस्या के दिन मनाया जाता है जब सूर्य तुला की ओर बढ़ता है।" एल० डी० एस० पिल्लै के अनुसार (इंडियन इफेमरिस, वॉ० I, मद्रास, 1922, पृ० 31) चांद्र मास या संयुति मास तीस तिथियों या चांद्र दिवसों में जिनकी माध्य लंबाई समान होती है विभक्त किया जाता है। पहली पंद्रह तिथियां शुक्ल पक्ष कहलाती हैं और दूसरी पंद्रह तिथियां कृष्ण पक्ष। अंतिम या तीसवीं तिथि को बालचंद्र या अमावस्या कहा जाता है (बल मेरा) और इसे कभी तो उस मास से जाना जाता है जो इस पर समाप्त होता है और कभी-कभी आगामी मास से। यहाँ यह भी बता दिया जाए कि अमावस्या एक क्षण-विशेष का नाम है, किसी विशिष्ट दिन या तिथि का नहीं। 'बालचंद्र' पारिभाषिक दृष्टि से उसके क्षितिज पर उदय होने को प्रकट नहीं करता।

(iii) 'ढोल' (अर्थात् डोल) और शिवरात्रि, (पृ० 268)। डोल त्योहार आज के युग का होली त्योहार है जैसा कि इसकी तारीख (15 फाल्गुन) और उसके मनाने से प्रकट होता है।

शिवरात्रि के बारे में बताया जाता है कि वह "अगली रात या 16 फाल्गुन" को पड़ती है। जैसा कि हम जानते हैं, एक महाशिवरात्रि भी होती है जो एक वार्षिक त्योहार है और डोली या डोल से 16 दिन पहले मनाया जाता है। पंचांगों के अनुसार शिवरात्रि हर मास की तेरहवीं तारीख को पड़ती है। अल-बिरूनी ने महाशिवरात्रि का उल्लेख न करके शिवरात्रि का किया है जो संभवतः मासिक शिवरात्रियों में से ही एक होगा। किन्तु तारीखों की (13वीं और 16वीं) विसंगति बनी हुई है और वह शायद लिप्यंतरणकी गलती के कारण उभर आई हो।

एक और छोटी विसंगति को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए। त्योहार का वर्णन मासवार और सामान्य क्रम में किया जाता है। अल-बिरूनी ने इस बात को स्पष्ट नहीं किया कि मासों को तो उनके क्रम में दर्शाया गया है किंतु ऐसा एक के सिवाय सभी मासों में किया गया है—उसी एक मास में क्रम भंग हुआ है—श्रावण के बाद अश्वयुज आता है, भाद्रपद नहीं।

46. सयवबाल (?) (पृ० 275)। सखाउ ने अपनी टीका में यह संकेत दिया है कि सयवबाल (अरबी पाठ में यही नाम सियावपाल दिया गया है) कश्मीरी हिन्दू जान पड़ता है जिसने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था। चाहे यह बात सही हो या न हो, ध्यान में रखने की बात यह है कि कुछ भारतीय, विशेषतः पश्चिम के सीमांत प्रदेशों में ऐसे थे जो अरबी में लिखी पुस्तकें पढ़ सकते थे और जिन्होंने उनके माध्यम से कुछ-न-कुछ जानकारी प्राप्त करने की कोशिश भी की थी।

एक अन्य स्थल पर अल-बिरूनी ने लिखा है कि वह हिन्दुओं के लिए 'उक्लीदिस' और 'अलमजीस्ती' नामक पुस्तकों के अनुवाद में और वेधयंत्र के निर्माणपर एक निबंध लिखवाने में व्यस्त है (पृ० 68)। ये हवाले बहुत महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि इनका संबंध अल-बिरूनी के भारतीय पाठकों के अत्यधिक अपेक्षित प्रश्न से है।

संदर्भ चयनिका*

1. एडवर्ड सी० सखाउ, दि क्रॉनॉलॉजी आफ एनशेंट नेशंस, लंदन, 1879, भूमिका, पृ० v-xiv

2. एडवर्ड सी० सखाउ, अल-बिरूनीज इंडिया, लंदन, 1888 (दिल्ली पुनर्मुद्रण, 1964), भूमिका, पृ० vii-l.
(सखाउ-लिखित इन दोनों भूमिकाओं में जिनमें विद्वान संपादक ने अल-बिरूनी को व्यापक अंग्रेजी-भाषी जगत से परिचित कराया, अल-बिरूनी के जीवन तथा उसके कृतित्व के महत्त्व का सर्वांगीण वृत्तांत प्रस्तुत किया है।)

3. अल-बिरूनी कमेमोरेटिव वॉल्यूम, ईरान सोसाइटी, कलकत्ता, 1951.

4. इंडो-ईरानिका, खंड V, सं० 4, 1952, 'अल-बिरूनी मिलेनरी सेलिब्रेशंस।'
(इन दोनों खंडों में अल-बिरूनी के जीवन और कृतित्व पर कुछ बहुत अच्छे लेख प्रकाशित हुए हैं। यहाँ इन लेखों की पृथक सूची नहीं दी गयी है।)

5. के० ए० निजामी, संपादक: "पॉलिटिक्स एंड सोसाइटी ड्यूरिंग दि अर्ली मेडिईवल पीरियड" (प्रो० एम० हबीब की ग्रंथावली), "अबू रेहान अल-बिरूनी ऑन दि नेशनल कैरेक्टर ऑफ दि हिन्दूज", पृ० 25-32; तत्रैव, "हिन्दू सोसाइटी इन दि अर्ली मिडिय एजेज़", पृ० 137-57; तत्रैव, "इंडियन कलचर एंड सोशल लाइफ ऐट दि टाइम ऑफ दि टर्किश इन्वेजर्ज", पृ० 152-228.

*यहाँ जिन लेखों की सूची दी गयी है वे अल-बिरूनी के जीवन और भारत-संबंधी उसके ग्रंथ के कुछ पहलुओं से संबंधित है। अल-बिरूनी के लेखों की विस्तृत सूची के लिए देखिए: जे० डी० पियर्सन, इंडेक्स इस्लामिकस, 1906-55, कैंब्रिज, पृ० 146-48 और उसके परवर्ती अंक। साथ ही उपर्युक्त क्रम सं० 7,23 और 24.

(प्रो० हबीब के ये लेख 1930-31 और 1940 में लिखे गये थे जिन्हें इस खंड में प्रस्तुत किया गया है। उनमें अल-बिरूनी के विचारों पर कुछ बहुत तीव्र टिप्पणियाँ दी गयी हैं और मूल पाठ के कुछ अंशों का संक्षिप्त रूप प्रस्तुत किया गया है।)

6. इलियट एंड डॉसन, हिस्टरी ऑफ इंडिया ऐज़ टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियंस, खंड II, अलीगढ़ से पुनर्मुद्रित, 1952; एम० हबीब की भूमिका पृ० 1-8 और टिप्पणियों सहित।
7. एंसाइक्लोपीडिया ऑफ इस्लाम, डी० जे० बाइलॉट का "अल-बिरूनी" शीर्षक लेख, नया संस्करण, लंदन, 1960, 1, 1236-38.
8. सी०सी० जिलेस्पाइ, संपादक : डिक्शनरी ऑफ साइंटिफिक बायोग्राफी, ई०एस० केनेडी द्वारा लिखित "अल-बिरूनी" शीर्षक लेख, न्यूयार्क, 1970, 11, 147-58.
9. ऐंसली० टी० एम्ब्री, अलबेरूनीज़ इंडिया (संक्षिप्त संस्करण), न्यूयार्क, 1971, भूमिका, पृष्ठ v-xix (देखें पृ० xi टिप्पणी 3)।
10. आर० सी० मजूमदार, "ए पैसेज इन अल-बिरूनीज़ इंडिया—नंद युग ?" जे०बी०ओ०आर०एस०, IX, 1923, पृ० 417-18.
11. अब्दुला यूसुफ अली, "अल-बिरूनीज़ इंडिया", आई०सी०, 1, सं० 1, 1927, पृ० 31-35; तत्रैव सं० 2, पृ० 223-30; तत्रैव सं० 3, पृ० 473-87.
12. जैड० अहमद, "अल-बिरूनी", आई०सी०, V, 1931, पृ० 343-51; तत्रैव, VI, 1932, पृ० 363-69.
13. एफ० केरेंकोव, "अबुरेहान अल-बिरूनी", आई० सी०, VI, 1932, पृ० 528-34.
14. एस० एच० बर्नी, "अल-बिरूनीज साइंटिफिक अचीवमेंट्स", तत्रैव, 1952-53, पृ० 37-48.
15. ए०एच० दानी, "अल-बिरूनी ऑन संस्कृत लिटरेचर", जे०पी०एच० एस०, 1, 1953, पृ० 301-17.
16. एस०ए० अली, "अल-बिरूनी, दि स्कॉलर एंड दि राइटर", प्रॉग्स० वॉ० पाकिस्तान हिस्टॉरिकल कांफ्रेंस, 1953, पृ० 243-52.
17. एम०एल० राय चौधरी, "अबू रेहान अल-बिरूनी एंड हिज इंडियन स्टडीज", आई०आई०, वॉ० VII, 1954, पृ० 9-22.
18. बी०सी०लॉ, "अल-बिरूनीज नॉलेज ऑफ इंडियन ज्योग्राफी", आई० आई० वॉ० VII, 1954, पृ० 1-26.
19. एम० यासीन, "अल-बिरूनी इन इंडिया", आई०सी० XLIX, 1975,

पृ० 207-13.

20. एम०एस० खान, "अल-बिरूनी ऑन इंडियन मेटाफिजिक्स", तत्रैव, LV, 1981, पृ० 161-88.
21. गुनींदर कौर, "अल-बिरूनी : एन अर्ली स्टूडेंट ऑफ कंपेरेटिव रिलीजंस", तत्रैव, LVI, 1982, पृ० 149-63.
22. एम०एस० खान, "अल-बिरूनी एंड दि पोलिटिकल हिस्टरी ऑफ इंडिया", ओरियंस०, ई० जे० ब्रिल, लाइडन, वॉ० 25-26, पृ० 86-115.
23. मकबूल अहमद और अन्य, "अल-बिरूनी, एन इंट्रोडक्शन टू हिज लाइफ एंड राइटिंग्स", अल-बिरूनी, पर नई दिल्ली में आयोजित विचार-गोष्ठी में प्रस्तुत लेख, 1971.
24. एम० गयासउद्दीन, पी-एच०डी० का अप्रकाशित शोध-प्रबंध (1968) "ए क्रिटिकल अनैलिसिस ऑफ दि राइटिंग्स ऑफ अल-बिरूनी पर्टेनिंग टु इंडिया", मौलाना आजाद लाइब्रेरी, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

अनुक्रमणिका

ख

ग

झ

ट

ड

त

थ

द

फ

ब

भ

य

र

श

मुद्रक : शान प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-110032